श्री कृष्णाय नमः

अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद् वल्लभाचार्य महाप्रभु विरचित

श्रीमद्भागवत

प्रथम स्कन्ध

श्री सुबोधिनी
का
हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

गो.वा.पं. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य

शुद्धाद्वैत भूषण

(भू.पू. विद्या विभागाध्यक्ष श्री नाथद्वारा)

संपादक-संशोधक

त्रिपाठ पं. नारायणजी शास्त्री-विद्याविभागाध्यक्ष, श्री नाथद्वारा

'कविरत्न' आर. कलाधर भट्ट

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

जोधपुर (राज.)

उद्देश्य—जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों व ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवाकर उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्ट सहायक सदस्य—रु० ५०००) व इससे अधिक चल अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य—रु० १०००) से रु० ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम एक ग्रन्थमाला को सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सम्मानित सदस्य—रु० ५०१) से रु० ९९९) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जाते हैं।

सदस्य रु० १७५) से रु० ५००) भेंटकर्त्ता-साधारण सदस्य

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन अर्थात् श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पांच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तकें सदस्यों को भेंट की जायेगी।

संस्था के स्थापक गो.वा.प.भ. श्री नन्दलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी गो.वा. प.भ. सौभाग्यवतीजी मानधना, जोधपुर

रु० १००००)

द्वितीय ग्रन्थमाला के विशिष्ट सहायक

(१) प.भ. द्वारकादासजी श्यामदासजी दलाल की स्मृति में उनके सुपुत्र
कृष्णदासजी दलाल, पूना रु० ८५०२)
(२) श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट, अहमदाबाद
रु० ५०००)

सहायक सदस्य

(१) प. भ. माधोदासजी मूंधड़ा, कलकत्ता
(२) प. भ. लक्ष्मीदेवीजी दलाल, पूना रु० ४००१)
(३) प. भ. कस्तूरो बहन एवं उनके सुपुत्र विठ्ठलदासजी शाह, हैदराबाद रु० २५००)
(४) प. भ. सेठ नवनीतलालजी साकरलालजी द्वारा सारंगपुर पब्लिक २००१)
चेरीटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद २०००)
(५) गो.वा. प.भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में प.भ. बंशीबाई, जतीपुरा
(६) गो.वा. प.भ. हरगोविन्ददासजी एवं चुन्नीबहनजी की स्मृति में उनके पुत्र प.भ. चिमनलालजी, १६०१)
मोहनलालजी, नटवरलालजी के धर्मादा ट्रस्ट द्वारा भेंट बम्बई
(७) प.भ. कृष्णदासजी मून्धड़ा एवं उनकी धर्मपत्नी सहोदराबाई, कलकत्ता रु० १५०१)
(८) प. भ. लाजवन्ती बाई नन्दलालजी भाटिया, दिल्ली रु० १५०१)
रु० ११०१)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला

सप्तम् सुमन

प्रथम स्कन्ध

(सुबोधिनी सह हिन्दी अनुवाद)

प्रथम खण्ड

अध्याय १ से ९

मुखपत्र
विषय सूची
पं. श्री आनन्दी लाल जी शास्त्री का परिचय —१
प्रारम्भ—कविरत्न आर. कलाधर जी भट्ट —
श्री तत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण प्रथम स्कन्ध अध्याय १ से ९ (१) से (३२)

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ क्रमांक
१	अधिकार लीला	१—७३
२	भागवत् कथा एवं भागवद्—भक्ति के माहात्म्य का अनुवादात्मक विवेचन	७५—१३९
३	श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवादात्मक विवेचन	१४१—१९६
४	श्री शुकदेव जी के वैराग्य का कारण और व्यास जी की चिन्ता	१९७—२२९
५	भक्ति की महिमा	२३०—२८१
६	नारदजी की भक्ति का स्वरूप	२८२—३१२
७	अश्वत्थामा के बाण से रक्षा	३१३—३६४
८	ब्रह्मास्त्र से रक्षा और भगवान् की स्तुति	३६५—४२५
९	भक्तराज भीष्म पितामह को दर्शन और उनकी स्तुति	४२६—४७४
	अनुक्रमणिका	४७५—४८०

चित्र सूची

श्री महाप्रभु जी वल्लभाचार्यजी श्री सुबोधिनीजी को लिखवाते हुए —१
श्री सूतजी की कथा ११
भगवान् के चौबीस अवतार १४१
श्री शुकदेव मुनि श्री व्यास जी से भागवत पढ रहे है ३२६

।। श्री हरिः ।।

संस्था के संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज०)
गो. श्री ब्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
" श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
" श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	कोटा
" श्री ब्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
" श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
" श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज-अध्यक्ष महोदय	चोपासनी (जोधपुर) जामनगर
" श्री श्याम मनोहरजो महाराज	बम्बई

निम्न प्रत्येक महानुभाव से रु० १००१) की सेवा प्राप्त

प. भ. डा. नटवरलालजी सी. शाह एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवीजी	संखेड़ा
" " ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ	पूना
" " रामदासजी कृष्णदासजी मांडी वाले	पूना
" " श्रीमती प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले	कानपुर
" " रुक्मणीबाई बिन्नाणी	कलकत्ता
" " मुन्नीबाई (शान्ता देवीजी) शर्मा एवं उनके सुपुत्र अशोककुमारजी सी.ए.	दिल्ली
" " अमिता बहनजी पटेल	बडोदरा
" " श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी गांधी	बीकानेर
" " श्री केदारनाथजी दम्माणी	मद्रास
" " श्री विजयकुमारजी दम्माणी	कलकत्ता
" " श्रीमती विमलाबाई सिंगी	कलकत्ता
" " श्रीमती काशोबाई बिन्नाणी	बम्बई
" " श्रीमती सूरजबाई कोठारी	कलकत्ता
" " श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्मपत्नी कृष्णाबाई	मुरेना मंडी
" " श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा	इलाहाबाद
" " श्रीमती चन्द्रकांताजी आनन्दकुमारजी कर्वा	उदयपुर
" " श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजो मोहता	आकोला
" " श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी	कटक
" " श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सुरजबाईजी मूंधड़ा	कलकत्ता
" " श्री हीरालालजी एवं उनकी धर्मपत्नी शारदाबाईजी	वाराणसी
" "(सुमनबाई नथानी एवं कुसुमबाई भट्टड़	कलकत्ता
" " गग्गुभाईजी खुशहालभाईजी सोनी	राजकोट
" " विठ्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी	बम्बई
" " नारायणदासजी श्यामदासजी दलाल	पूना
" " विठ्ठलदासजी मूंधड़ा	कलकत्ता
" " बालकृष्णदासजी मूंधड़ा	"
" " मोहनदासजी मूंधड़ा	"

प. भ. जमुनादासजी परीख उनके सुपुत्र रमणलालजी एवं पुत्रवधु गुलाबबाईजी	उदयपुर
" " श्रीमती मोहनीबाई ❀	कलकत्ता
" " श्रीमती राधादेवीजी लोहिया	मिरजापुर
" " एक भगवदीया वैष्णव बहिन	हैदराबाद
" " इन्द्रवदनजी ईश्वरलालजी शाह	अहमदाबाद
" " हंसराजजी गोकुलदासजी वेद	कोल्हापुर
" " जमुनाबहन पुरुषोत्तमदासजी आसेर	बम्बई
" " उर्मिलादेवीजी	कलकत्ता
" " उर्मिलाबहनजी विश्वनाथजी अरोड़ा	कानपुर
" " रश्मिताबहनजी पद्मनाभजी	अहमदाबाब
" " जमुनादासजी मोहता	कोटा
" " व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मंडी (म.प्र.)
" " सतीशचन्द्रजी एव धर्मपत्नी तुलसीदेवीजी सरदना	अजमेर

निम्न प्रत्येक भेंटकर्ता महानुभाव से निज स्वजन महानुभाव की स्मृति में रु० १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध
नि. ली. श्रीमती कृष्णप्रिया बेटीजी महोदया	पूज्य अम्माजी (माताजी) काशी
प. भ. शक्तिदेवीजी शर्मा	सुपुत्र प. भ. गोपेशशरणजी एम.ए.बी.एड. एवं पुत्र-वधु उर्मिलादेवीजी बी.ए.बी.एड.भरतपुर
प. भ. शिवकुमारजी मोहता-हरदा	पिता श्री छगनलालजी एवं माता रत्नबाई
प. भ. पीताम्बरजी एवं नवल बहन शाह	सुपुत्र *चन्द्रकान्तजी एवं पुत्र वधु सुशीला बहन हैदराबाद
प. भ. किशोरीलालजी चांडक, बेरड़ी	भ्राता श्यामसुन्दरजी दलीपजी प्रदीपजी
प. भ. पूरणचन्द्रजी अग्रवाल, लश्कर	धर्मपत्नी धापुबाईजी सुपुत्र गिरराजकिशोरजी
प. भ. जानकीदेवीजी धर्मपत्नी श्री शिवचन्दजी	सुपुत्र श्री द्वारिकादासजी लोहिया* मिरजापुर
प. भ. रामनारायणजी भाटी	सुपुत्र श्री मोहनलालजी भाटी लाडनू
प. भ. चन्द्रावली देवीजी भाटी	सुपुत्र पूनमचन्दजी भाटी लाडनू
प. भ. त्रीकमदासजी आचार्य	* दौहित्र श्यामसुन्दरजी गज्जा बम्बई
प. भ. लालजीभाई नारणजी राजाणी	❀ सुपुत्र गोकुलदासजी राजाणी जामनगर
प. भ. वाडोलालजी पटेल	सुपुत्र श्यामलालजी अहमदाबाद
प. भ. करसनदासजी पुरुषोत्तमदासजी	* सुपुत्र नटवरलालजी दावड़ा कोल्हापुर

❀ इन ने पूर्व में रु. ५०१) की सेवा की थी अब रु. ५००) की और सेवा की।

निम्न प्रत्येक भेंटकर्त्ता महानुभाव से अपने स्वजन गोलोकवासी महोदय की स्मृति में रु० १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध
प. भ. प्रेमलताबाई, बलदेवदासजी डागा	पिता उद्धवदासजी एवं माता काशीबाई मूंधड़ा कलकत्ता
प. भ. गोकुलदासजी एवं सरस्वती बहन	(सुपुत्र) पुरुषोत्तमदासजी पूना
प. भ. दिलसुखरायजी राठी	(धर्मपत्नी) श्यामाबाईजी एवं सुपुत्र लक्ष्मीनारायणजी दिल्ली
प. भ. चन्द्रप्रकाशजी	(माता) जमुनाबाईजी (अनुज) आत्मप्रकाशजी दिल्ली
प. भ. राधाबाई श्रीरामनारायणजी	(सुपुत्र) नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) पुरुषोत्तंम दासजी एवं देवकीनन्दनजी वर्मा - जोधपुर
प. भ. पन्नालालजी पूमड़ा	(धर्मपत्नी) सूरजबाईजी सुपुत्र चुन्नीलालजी कलकत्ता
प. भ. घनश्यामदासजी मूंधड़ा	(सुपुत्र) श्रीदासजी एवं (पुत्र वधु) लक्ष्मीदेवीजी मद्रास
प.भ. जीवनदासजी मून्धड़ा	(सुपुत्र) ठाकुरदासजी एवं पुत्रवधु ब्रजकुंवर कलकत्ता
प. भ. पारवती बाईजी जीवनदासजो	(सुपुत्र) चेतनदासजी मूंधड़ा एवं पुत्रवधु गंगाबाई कलकत्ता
प. भ. मुकुन्ददासजी एवं काशीबाईजी मूंधड़ा	(सुपुत्र) ब्रजगोपालदासजी, बृजमोहनदासजो और गिरधरदासजी हैदराबाद
प. भ. धन्नावती बाईजी	(पतिदेव) मूलचन्दजी कुमार इन्दौर
प. भ. हरकिशनदासजो हरलोचनदासजी शाह	(सुपुत्र) घनश्यामदासजी एवं पुत्रवधु डाक्टर गोकुलकुमारीजी एम०ए०, पी०एच०डी० बम्बई
प. भ. रघुनाथजी त्रीकमदासजी ❀	प. भ जेठालालजी जामनगर
प. भ. मंगतरायजी चावला मुल्तानो	(सुपुत्र) श्री आसकरणदासजी एवं पुत्र वधु रामप्यारीबाईजी बम्बई
प. भ. जमुनादासजी एवं शांतिदेवीजी अग्रवाल	(सुपुत्र) गिरधारीलालजो, विठ्ठलदासजी ब्रजरतनदासजी नागरीदासजी काशी
प. भ. प्रहलाददासजी एवं चन्द्रमणिजी	(सुपुत्र) कृष्णगोपालदासजी अग्रवाल काशी
प. भ. मदनमोहनदासजी मऊ वाले	(धर्मपत्नी) इन्द्रमणि देवीजी एवं सुपुत्र राधाकृष्णदासजी अग्रवाल काशी

❀ इन ने पूर्व में रु. ५०१) की सेवा की थी अब ५००) की और सेवा की।

।। श्री हरिः ।।

पण्डित श्री आनन्दी लालजी का परिचय

पण्डित श्री आनन्दी लालजी का जन्म विक्रम संवत् १६५९ में जयपुर प्रान्त के राजमहल टोडा ग्राम में हुआ था । गुर्जर गौड़ ब्राह्मण जाति में उत्पन्न श्री जानकी लालजी आपके पिता थे । आपकी प्रारम्भिक शिक्षा राजमहल गांव में ही हुई थी यज्ञोपवीत के अनन्तर आपने अमरावती में रहकर सस्वर शुक्लयजुर्वेद संहिता का अध्ययन किया । शाहपुरा निवासी श्री यमुनादत्त जी शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन किया । तदनन्तर श्री पुरुषोत्तम जी चतुर्वेदी की प्रेरणा से अध्ययनार्थ नाथद्वारा आ गये । नाथद्वारा में गोवर्द्धन संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ठ होकर श्री सदानन्दजी झा तथा मार्कण्डेयजी मिश्र से व्याकरणादि की उच्च शिक्षा प्राप्त की आपने वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय व्याकरणाचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की आपको शीघ्र ही कवि नन्दकिशोरजी शास्त्री से विद्या विभागाध्यक्ष ने विद्यार्थी अवस्था में ही साम्प्रदायिक ग्रन्थों के शोधन का कार्य सौंपा उस कार्य को इन्होंने बड़ी सफलता से पूर्ण किया इन्हीं के समय में श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी आदि ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ ।

नाथद्वारा से प्रकाशित होने वाली टिप्पणी के उत्कर्ष को सहन न करने वाले लोगों ने रामनवमी के विषय में विवाद उपस्थित किया । उस समय विद्या विभागाध्यक्ष श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री से पूछे गये प्रश्नों के समाधान में इन्हीं आनन्दीलाल जी ने 'श्री रामनवमी विवेक विचार' तथा 'रामनवमी विचार' ऐसे लेख प्रकाशित कराये इन लेखों को सूरत से प्रकाशित 'उत्सव निर्णय ग्रन्थ समुच्चय' ने भी प्रकाशित किया है । 'वैष्णव चिह्न निरूपण' 'पुष्टिमार्ग में अन्नकूटोत्सव' आदि सांप्रदायिक ग्रन्थ भी इन्होंने प्रकाशित कराये ।

गोवर्द्धन संस्कृत पाठशाला में उच्च शिक्षा प्राप्त कर इसी पाठशाला में ये अध्यापक हो गये थे । कुछ वर्षों के अनन्तर इनको पूज्यपाद गोस्वामि तिलकायत श्री १०८ श्री गोविन्दलाल जी महाराज श्री ने अपने पास ही रख लिया तथा विक्रम संवत् २००८ में आपको विद्याविभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया । आपने पूज्यपाद तिलकायत महाराज श्री की आज्ञा से श्री मद्भागवत प्रथमस्कन्ध की सुबोधिनी का अनुवाद करना प्रारम्भ किया वह अनुवाद समाप्त प्रायः था कि आप श्री हृद्राग आदि अनेक व्याधि से पीडित हो गये लगभग पांच वर्ष तक बराबर अस्वस्थ रहे । उनकी कृति उनकी विद्यमानता में प्रकाशित न हो सकी उन्होंने विक्रम संवत् २०३७ पौष कृष्ण ३ बुधवार तदनुसार तारीख २४ १२-१६८० में ही अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर दिया ।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल, मानधना भवन चौपासनी मार्ग जोधपुर के मंत्री श्री नन्ददास जी ने इस अनुवाद को अपनी संस्था से प्रकाशित करने की प्रार्थना की तिलकायत महाराज श्री ने कृपा कर उक्त मण्डल को इसके प्रकाशन का आदेश दे दिया । यह प्रथम खण्ड आपके सामने प्रस्तुत हो रहा है । यद्यपि भौतिक शरीर से पण्डित जी श्री आनन्दी लाल जी व्याकरणाचार्य शुद्धाद्वैत भूषण हमारे सामने विद्यमान नहीं है किन्तु उनकी प्रतिभा विद्वत्ता इस अनुवाद में आपको दृष्टिगोचर होगी ।

पण्डित आनन्दी लालजी जैसे प्रतिभाशाली तलस्पर्शी विद्वान् सम्प्रदाय में न रहे इसका खेद है ।

आपके उत्तराधिकारी पांच पुत्र तथा तीन कन्यायें हैं । उनमें सबसे बड़े श्री तिलकेशजी उच्चतर माध्यमिक शाला में प्रधानाध्यापक है तथा द्वितीय पुत्र श्री जयदेव जी भी उच्च माध्यमिक शाला के प्रधानाध्यापक के तृतीय पुत्र श्री चन्द्रशेखर जी भी प्रधानाध्यापक हैं आपके पञ्चम पुत्र श्री राजेन्द्रजी मन्दिर मण्डल के चिकित्सालय में डाक्टर के पद पर है । इस तरह पण्डित जी जिस तरह योग्य थे उन्होंने अपने पुत्रों को भी योग्य बनाया । आपकी पुत्रियां एम. ए तथा बी. ए. परीक्षा पास हैं वे भी विद्यालयों में अध्यापिका पद पर नियुक्त है । एक ही विद्यालय में अध्ययन के कारण तथा पञ्चांग टिप्पणी के निर्माण प्रकाशन में साथ साथ रहने से जितना भी परिचय मिल सका उसे प्रकाशित किया है ।

त्रिपाठी नारायण शर्मा
विद्या विभागाध्यक्ष
श्री नाथद्वारा

- श्री हरि -

- प्रारम्भ -

ब्रह्मसूत्र के महान् भाष्यकारों में से एकमात्र श्री वल्लभाचार्य ने ही प्रस्थान-त्रयी के अतिरिक्त श्रीमद् भागवत को भी अर्थात् श्री व्यास की समाधि-भाषा को भी प्रामाण्य-कोटि में परिगणित किया है। भागवत् वेद-रूपी कल्प-वृक्ष का अमृत-रस से परिपूर्ण मधुर-फल है- 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्'। इसी के अनुमोदन में श्री आचार्य-चरण का कथन है कि गायत्री बीज है, वेद वृक्ष है और भागवत उसका रसमय फल। वेद के अर्थ में यदि शंका हो तो उसका निराकरण गीता से करना चाहिये, गीतार्थ की शंका का ब्रह्म-सूत्र से तथा ब्रह्म-सूत्र गत शका का समाधान भागवत से करना चाहिये-'उज्ञरं पूर्वं संदेहवारकं परिकीर्ति तम्'। इस तरह श्रीमद् भागवत,वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इस प्रस्थान-त्रयी के समुचित अर्थ तथा अभिप्राय को सर्वंश: सुस्पष्ट करके सर्वगम्य बनाने वाला एक विशिष्ट तथा अपूर्व ग्रन्थ-रत्न है।

वेद के चार विभाग-पूर्वक, उनको पुन: शतश: शाखाओं में पल्लवित करके, वेदार्थ का पुराणों में उपवृंहण करके, तथा भगवच्चरित से युक्त महाभारत जैसे इतिहास का आलेखन कर लेने पर भी वेद व्यास की आत्मा को शांति प्राप्त नहीं हुई थी, क्योंकि वेद-धर्म, अमुक वर्ग के लिये ही सीमित था और वही इसके अर्थ को समझकर पुरुषार्थ सम्पादन कर सकता था। जाति आदि के भेद से रहित मानव-मात्र के नि:श्रेयसार्थ पुराणों की रचना की गई थी,किन्तु सात्विक, राजस तथा तामस-इन त्रिविध पुराणों में से किस पुराण में प्रतिपादित किस धर्म-विशेष के आचरण से पुरुषार्थ की उपलब्धि संभव है ? यह इस प्रकार का संदेह यहां भी रह जाता है। महाभारत प्रधानतया ऐतिहासिक ग्रन्थ है, एकान्तत: भगवन्नामात्मक नहीं। इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना भी वास्तव में उन व्यक्तियों के लिये की गयी थी जो वेद के अध्ययन से वंचित थे तथा अल्प बुद्धि के कारण उसके निगूढ अर्थ को समझने में असमर्थ थे। स्त्री शूद्रादि के प्रति सविशेष सहानुभूति रखने वाले श्री व्यास ने 'स्त्री शूद्राणां हितेरत.' यद्यपि सर्व प्राणियों के धर्म निर्णयार्थ उनके अभ्युदयार्थ महाभारत की रचना की थी, "सर्व निर्धारणार्थाय व्यासो भारत मुक्तवान्"- तथापि, इसके आलेखन से भी उनको आत्म-संतोष नहीं हुआ था, वे पूर्ववत् शोक और मोह से आक्रांत ही रहे।

कहते हैं, एक दिवस श्री नारद उनके पास गये, उनके हृदय की व्यथा के गूढ हेतु को स्पष्ट समझकर उन्होंने श्री व्यास से कहा 'आपने सब कुछ किया किन्तु कभी भी, कहीं भी अनन्यतया श्री हरि के विमल तथा उदार चरित का संकीर्तन नहीं किया !!!'। श्री व्यास ने श्री नारद के इस कल्याणमय उद्बोधन को अक्षरश: चरितार्थ करने के लिये, शोक और मोह का प्रशमन करने वाली भगवद्-लीलाओं का गुणानुवाद प्रारम्भ कर दिया। समाधि में भगवान् की दिव्य एवं अनन्त लीलाओं का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके यथावत् निरूपण में श्री व्यास ने जिस

अलौकिक ग्रन्थ-रत्न का प्रणयन किया वही यह श्रीमद् भागवत संहिता, सात्वत संहिता कहलायी। श्री वेद व्यास कृतकृत्य हो गये।

श्रीमद् भागवत संहिता वस्तुत: 'वैष्णव वेद है"- 'एषा सात्वती श्रुति: वैष्णवो वेद:'- क्योंकि, भगन्नामात्मक इस भागवत-शास्त्र के द्वारा ही- स्त्रीशूद्रादि सहित, जाति आदि के भेद से रहित प्राणी मात्र का समुद्धार सुगमतया संभव है। भगवद्-भक्ति में सर्व का अधिकार है, उनकी पुरुषार्थ सिद्धि का-तापत्रयोन्मूलन का एक मात्र सरल तथा सहज साधन यह भागवत ही है। वास्तव में देखा जाये तो अपने पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले जीव ही 'पुरुष' कहलाते हैं-शेष, सभी जीव 'स्त्री' जीव ही हैं- 'पारमार्थिक साधन शून्यत्वं स्त्री जीवत्वम्'। जो प्राणी प्रकृति परवश होकर संसार में आसक्त हैं उनको ही 'स्त्री' जीव समझना चाहिये, फिर भले ही वे जीव 'पुरुष' देह धारी हों अथवा 'स्त्री' देह धारी- 'विषय सक्ति हेतु प्रकृति परवशत्वं स्त्रीत्वम्'-(सुबो.) श्रीमद् भागवत संहिता का आविर्भाव विशेषतया स्त्री जीवों के समुद्धारार्थ ही किया गया है- 'तेषामुद्धारक: कृष्ण: स्त्रीणामत्र विशेषत:'

आनन्दमय श्री हरि की आनंदमयी लीलाओं से परिपूर्ण उभराता हुआ यह भागवत वस्तुत: भगवद्-स्वरूप श्री पुरुषोत्तम-स्वरूप है। भगवान् इस विराट्-विश्व में नाम और रूप के विभेद से क्रीड़ा करते हैं। भगवान् अवतार दशा में स्व-स्वरूप से क्रीड़ा करते हुए प्राणियों को पुरुषार्थ सिद्धि से सम्पन्न करते रहते हैं; अवतार दशा में स्वनाम से नामात्मक रूप भागवत से वही सिद्धि संपादित कराते रहते हैं। भगवद्-भजन द्वारा ही, भागवतार्थ का बोध हो सकता है अन्यथा नहीं। भागवतार्थ का बोध ही, भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान है-भगवद् लीलाओं के, उनके गुण, कर्म, शक्ति तथा अलौकिक सामर्थ्य के ज्ञान से ही उनके माहात्म्य का ज्ञान होता है- तथा "भगवान् सर्व के आत्म रूप हैं"- इस ज्ञान से उनके प्रति सर्व से अधिक सुदृढ़ स्नेह उत्पन्न होता है। भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान तथा उनके प्रति सर्वतोधिक सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति सिद्ध कराने के लिये ही श्रीमद् भागवत का प्रणयन हुआ है।

अनन्य भक्ति से ही भगवान् प्रकट होते हैं तथा अपने आपको भक्त के लिये सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं। भगवत् प्राप्ति में मुख्य साधन प्रेम ही है और प्रेमोत्पत्ति में मुख्य साधन भगवान्। यहां भगवान् ही साधन है, भगवान् ही फल। ज्ञान और कर्म भी, भगवद् प्राप्ति में साधन अवश्य हैं, किन्तु तृषा लगने पर, कूप-खनन-पूर्वक उसमें से जल निकाल कर पीने जैसा साधन "कर्म' है। तथा, तृषा को सहन करने जैसा साधन 'ज्ञान' है। गंगा के तट के निकट निवास करने जैसा साधन भक्ति किंवा प्रेम है, जहां तृषा लगने पर स्वयं गंगा माता जल की झारी लेकर अपने भक्त की तृषा का शमन करती है। श्रीमद् भागवत का पुन: पुन; श्रवण, श्री कृष्ण के प्रति इसी प्रकार की भक्ति का हृदय में समुदय करता है। 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम् पूरुषे-भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोक मोहभयापहा' (भा. १.७.८.)- 'तस्मात् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर: श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्' (भा. २.१.६)

भागवत की यह एक अचिंत्य महिमा है कि इसके श्रवण की इच्छा वाला महा भाग्यशाली जीव, इसके श्रवण मात्र से. अपने हृदय में, तत्क्षण सर्व समर्थ श्री हरि को, अवरुद्ध निरन्तर स्थापित कर लेने में समर्थ हो जाता है, 'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्रकृतिभि: शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'।

श्रीमद् भागवत, साक्षात् भगवद् स्वरूप है । पारायण-पूर्वक इसको धारण करने से, भागवत स्वरूप से स्वयं भगवान् ही धारण कर लिये जाते हैं । शब्द से तथा अर्थ से समग्र भागवत भगवान् श्री कृष्ण ही है- अर्थ के परिज्ञान से साक्षात् भक्ति की उपलब्धि कराता है- 'एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः' 'अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्ति प्रयच्छति' । भागवत का स्पर्श ही तो पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के ही सुमधुर-सुकुमार अंगों का स्पर्श है, क्योंकि, पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम द्वादश अंग वाले हैं । भागवत के द्वादश स्कंध वस्तुतः श्री कृष्ण के ही द्वादश (बारह) अंग हैं । भागवत का प्रथम तथा द्वितीय स्कंध, भगवान् के यथाक्रम दक्षिण तथा वाम चरण हैं । इसी तरह तृतीय तथा चतुर्थ स्कंध, दक्षिण तथा वाम बाहु हैं । षष्ठ तथा सप्तम स्कंध दक्षिण तथा वाम जंघा हैं । सप्तम स्कंध दक्षिण-हस्त है । अष्टम तथा नवम स्कंध दक्षिण तथा वाम स्तन है । दशम स्कंध हृदय है- एकादश स्कंध मस्तक है तथा द्वादश स्कंध वाम हस्त है- "पादौ-हस्तौ-सक्थौ-बाहू-स्तनौ-हृदय-शिरः" इति पुरुषोत्तमस्य द्वादशोगानि; अगी श्री पुरुषोत्तमश्च-(गो. श्री पुरुषोत्तमजी)

श्रीमद् भागवत श्री कृष्ण की लीलाओं का प्रतिपादन करता है । इस सम्पूर्ण शास्त्र का एक मात्र अविकल अर्थ है- 'स्वतः पुरुषार्थ साधक श्री कृष्ण की लीलायें' । श्रीमद् भागवत के इसी अर्थ तथा अभिप्राय को सर्वथा हृदयारूढ कराने के लिये श्री आचार्य चरण ने इसके सात प्रकार से अर्थ किये हैं- शास्त्र से, स्कंध से, प्रकरण से, अध्याय से, वाक्य से, पद से तथा अक्षर से । अविरुद्धतया इन सप्त विध अर्थों द्वारा भागवत के उपर्युक्त प्रतिपाद्य एक ही अर्थ का निरूपण किया गया है । इन सप्त विध अर्थों में से शास्त्र-स्कंध-प्रकरण तथा अध्याय का अर्थ, भागवतार्थ प्रकरण में तथा शेष तीन के- वाक्य-पद तथा अक्षर के अर्थ श्री सुबोधिनी में दिये गये हैं । अविरुद्धतया इन सप्त विध अर्थों से भागवतान्तगत एक ही अर्थ तथा अभिप्राय को जानने वाला 'मुक्त' हो जाता है अपने अन्यथा रूप का त्याग करके स्व स्वरूप से स्थिति कर लेता है- 'शास्त्रे-स्कंधे-प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे-एकार्थं सप्तधाजानन्नविरोधेन मुच्यते' ।

आनन्द रूप भगवान् की आनन्द-रूप लीलायें दस प्रकार की हैं— सर्ग-विसर्ग, स्थान-पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय —इन दस प्रकार की लीलाओं का निरूपण यथाक्रम तृतीय स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त—एक-एक स्कन्ध में यथाक्रम एक-एक लीला का— किया गया है । इन दस प्रकार की लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन के लिए अधिकार तथा साधन की आवश्यकता होती है – तदनुसार प्रथम स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता के अधिकार का—उनकी योग्यता का एवं द्वितीय स्कन्ध में साधन का विवेचन किया गया है । अधिकार तथा साधन, सर्ग-विसर्ग आदि पूर्वोक्त मुख्य लीलाओं के ही अङ्ग हैं, अतः उनका समावेश प्रथम तथा द्वितीय स्कन्ध में किया गया है ।

भगवद् लीलाओं का प्रतिपादक यह भागवत-शास्त्र सभी का उद्धारक तथा निर्वाहक है । भगवद्-लीला के श्रवण से ही उद्धार सम्भव है । तदनुसार श्रवण की इच्छा रखने वाले प्राणी-मात्र का भागवत पर अधिकार है, और यही प्रथम स्कन्ध का अर्थ है । श्रवणेच्छा के अभाव में अधिकार का अभाव है; क्योंकि श्रवणेच्छा के अभाव में श्रवण, कीर्तन आदि के हृदय में समुदय की सम्भावना ही कहाँ ? अधिकार के अभाव में स्वरूप-ज्ञान, अर्थ-ज्ञान तथा अभिप्राय-ज्ञान के प्रति प्रवृत्ति होना ही असम्भव है । किसी भी वर्ण का, जाति का अथवा योनि का जीव हो, उसे

यदि भागवत के श्रवण की इच्छा है, तो वह भागवत का अधिकारी है। श्रवणेच्छुक सभी प्राणियों को भगवन्मार्ग में साधिकार सिद्धि-अर्पण करने वाला भागवत का यह प्रथम स्कन्ध चरण-रूप है, "गति-साधन"-रूप है और इसीलिये यह स्कन्ध श्रीहरि का—भगवान् श्रीकृष्ण का दक्षिण-चरण माना गया है। भगवद्-लीलाओं का श्रद्धा तथा अनन्यतया श्रवण करने वाले जिज्ञासु जीव को श्रीकृष्ण सर्व अधिकार की संप्राप्ति करा देते हैं, तदनुसार श्रोता की गति श्रीकृष्णोन्मुख हो जाती है और सर्व प्रकार की गति-अर्पण करने वाला भगवद्-चरणारविंद ही तो है।

श्रवणेच्छा की संपूर्ति तभी सम्भव है, जब तदनुरूप वक्ता भी हो। तदनुसार प्रथम स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता इन दोनों के ही—यथाश्रोता-तथावक्ता के न्याय से—अधिकार का वर्णन किया गया है। "जिसे भागवत-ज्ञान की इच्छा है, उसे भागवत-श्रवण करने का और जिसने भागवत का श्रवण किया है, उसे भागवत कहने का अधिकार है (भागवतार्थ-प्रकरण प्र. स्कन्ध अधिकार लीला. प्र.अ. श्लो. ४२-४६)—प्रथमाध्याये जिज्ञासुः प्रथमाधिकारी निरूपितः, वक्ताचश्रुतभागवत इति"।

यदि स्थूल दृष्टि से विचार किया जाए, तो वक्ता तथा श्रोता का यह अधिकार तीन प्रकार का है। और इसके निरूपणार्थ प्रथम स्कन्ध तीन प्रकरणों में विभक्त किया गया है—यथा—१. साधारण, २. असाधारण, ३. गुणातीत अथवा निर्गुण और यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाए, तो अधिकार उन्नीस प्रकार का है और यही बोध कराने के लिए इस स्कन्ध के अध्याय भी उन्नीस ही है—जैसे साधारण अधिकार नौ प्रकार का है, जिसका निरूपण भी नौ अध्यायों में, प्रथम अध्याय से नवम अध्याय पर्यन्त किया गया है। असाधारण अधिकार भी नौ प्रकार का है, जिसका निरूपण भी नौ अध्यायों में—दशम अध्याय से अष्टादश अध्याय पर्यन्त—किया गया है। गुणातीत अथवा निर्गुण अधिकार एक ही है—तदनुसार इसका निवेश भी एक ही अन्तिम उन्नीसवें अध्याय में किया गया है। प्रथम स्कन्ध के प्रकरण तथा अध्यायों के विभाजनपूर्वक उनकी—अध्यायों और प्रकरणों की—संख्या के औचित्य का, उनके गूढ अभिप्राय तथा विशद अर्थ का सयुक्तिक-विवेचन श्रीमद्-आचार्य-चरण ने अपने 'तत्वार्थ-दीप-निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण' में किया है। भागवत-शास्त्र के सभी स्कन्धों का—प्रकरणों का तथा अध्यायों का—इस प्रकार से यह सूक्ष्म विभाजन आपश्री की विलक्षण-प्रतिभा का परिचायक है।

अधिकार की तरह अधिकारी के भी तीन भेद हैं। अब यदि अधिकारी के भेद से विचार किया जाए, तो इसके अनुसार भी प्रथम स्कन्ध तीन प्रकरणों तथा उन्नीस अध्यायों में विभाजित किया जा सकता है—यथा—१. हीनाधिकारी प्रकरण, २. मध्यमाधिकारी प्रकरण, ३. उत्तमाधिकारी प्रकरण।

हीनाधिकारी प्रकरण के तीन अध्याय हैं—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय। हीनाधिकारी श्रोता के तथा वक्ता के प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं—यथा—श्रोता के तीन गुण—१. जिज्ञासा, २. मात्सर्य दोष का अभाव, ३. भागवत श्रवण में प्रीति। वक्ता के तीन गुण—१. गुरुमुख से भागवत सुना हो, २. वाग्मी हो, ३. गुह्य ज्ञान से सम्पन्न हो। श्रोता तथा वक्ता प्रत्येक के इन तीन-तीन गुणों का निरूपण यथाक्रम प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में हुआ है।

मध्यमाधिकारी प्रकरण के भी तीन अध्याय है—चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ। मध्यमाधिकारी श्रोता के तथा वक्ता के प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं— १. श्रोता तथा वक्ता दोनों ही भगवत्कृपा से सम्पन्न हों, २. दोनों ही भगवदीय हों, ३. दोनों ही भगवदेकत्व से समुपेत हों। दोनों के इन तीनों गुणों का उल्लेख यथाक्रम चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्याय में किया गया है।

उत्तमाधिकारी प्रकरण के त्रयोदश अध्याय हैं- सप्तम अध्याय से उन्नीसवें अध्याय पर्यन्त। उत्तमाधिकारी श्रोता तथा वक्ता के गुणों का कथन इन त्रयोदश अध्यायों में किया गया है। उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता दोनों दृढ़ वैराग्य की उत्कट अभिलाषा से सम्पन्न होते हैं और भगवान् में एकान्त आसक्ति से युक्त को ही वैराग्य सिद्ध होता है। द्वादश अङ्गों से युक्त अङ्गी श्री पूर्ण पुरुषोत्तम त्रयोदशात्मक है। इस तरह द्वादश अङ्गों सहित अङ्गी श्री पुष्टि पुरुषोत्तम-रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य-भाव से सम्पन्न उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता के गुण-निरूपणार्थ त्रयोदश अध्याय कहे गये हैं।

अत्यन्त संक्षेप में, श्रीमद्-भागवत-शास्त्र के तात्पर्यार्थ सहित प्रथम स्कन्ध का तथा उसके प्रकरण एवं अध्यायों का यह आलेखन मैंने अपनी अल्प तथा सर्वथा-सीमित-स्मृति से ही किया है और यह भी परम पू. चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री के सतत् प्रोत्साहन तथा आशीर्वाद के फलस्वरूप। महानुभावों का सत्सङ्ग जीवन को वस्तुतः प्रतिक्षण नूतनता ही समर्पण करता रहता है। यह एकांत सत्य मैं अपने जीवन में नित्य चरितार्थ होते हुये देख रहा हूँ।

प्रथम स्कन्धान्तर्गत वाक्य, पद तथा अक्षर के अर्थ श्री सुबोधिनी में दिये गये हैं। उसका अनुवाद इसी सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् तथा नाथद्वारा विद्या विभागाध्यक्ष गोलोकवासी पं. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने किया। वस्तुतः यह हिन्दी अनुवाद श्री शास्त्रीजी ने अपने ही परमप्रिय अन्तेवासी अखण्डभूमण्डलाचार्य पू. चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री की निरन्तर प्रेरणा से ही किया था। पू. चरण श्री महाराज श्री की कृपा से ही मुझे इस महानुभाव भगवदीय की सत्सङ्गति का महर्घ लाभ प्राप्त हुआ था —

निर्ममोनिरहंकारः सर्वसद्गुणमंडितः ।
सदानन्दमयः श्रीमान् आनंदीलालपंडितः ।।

—शास्त्रीजी अक्षरशः ऐसे ही थे।

एक दिवस जब मैं नाथद्वारा में था, तब पू. चरण श्री महाराज श्री ने मुझे शास्त्रीजी की अस्वस्थता के समाचार कहे और आज्ञा दी कि मैं उनको अवश्य मिलूँ। मैं मिला—श्री शास्त्रीजी ने प्रस्तुत अनुवाद मुझे सुपुर्द कर दिया और इस ग्रन्थ को अपने उत्सङ्ग में स्थापित करते हुए मैंने जब उनको इसके प्रकाशन का वचन दिया, तो उनके नेत्र हर्षाश्रुओं से छलक रहे थे। उनके गोलोक प्रस्थान करने के १५ दिवस पूर्व की यह घटना है।

आज यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है—उनकी ही प्रगाढ़ अभिलाषा के अनुसार यह ग्रन्थ-रत्न पू. आचार्य-चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री को उनके ही कथनपूर्वक समर्पित कर रहा हूँ।

'त्वदीय-वस्तु गोविंद ! तुभ्यमेव समर्प्यते'—श्रीशास्त्रीआनंदीलालजी

निवेदक—

२२-११-८४ **आर० कलाधर भट्ट**

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित तत्वार्थ दीप निबन्ध

का

✻ भागवतार्थ प्रकरण ✻

प्रथम स्कन्ध—अध्याय १ से ६

श्रीमदाचार्य चरण श्रीमद्भागवत की व्याख्या करने की इच्छा से प्रतिपाद्यरूप भगवान की वस्तु संकीर्तनरूप मङ्गल के रूप में स्तुति करते हैं-

कारिका—श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥१॥

सम्पूर्ण भक्तों के हृदय में भासित होने वाले सर्वदा दस लीला से युक्त परमानन्द श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं ।

यहां कृष्णपद से परम उत्कृष्ट वस्तु को कहा है । उन्हीं कृष्ण ने विचार किया कि मैं अपना सौन्दर्य प्रकट करूँ इसलिये साकार रूप से प्रादुर्भूत हुए उन्हें ही श्रीकृष्ण कहते हैं इससे कृष्ण विभूति रूप नहीं है तथा परमानन्द होने से फलस्वरूप है । उनका साधन श्रवण है । श्रवण का विषय क्या है तो उसके लिए उनकी दस लीलाओं का निर्देश किया । भगवान् के अवतार का प्रयोजन तो सकल भक्तों का उद्धार करना ही है । यदि कोई कहे कि उनसे अन्य भी कोई उद्धारक होगा । इस पर कहा है कि वे हो पर (सर्वोत्कृष्ट) हैं । अवतार को स्तुति अच्छी लगती है इसलिए यहाँ उनको नमन किया ॥१॥

शंका होती है कि जब भागवत विद्यमान है तो फिर आपको उसके लिये अब क्या करना है इस शंका का उत्तर देने के लिये अपने ग्रंथ के विषय को कहते हैं—

कारिका—शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥२॥

शास्त्र स्कन्ध-प्रकरण-अध्याय-वाक्य-पद और अक्षर इन सातों में निर्विरोध एक ही अर्थ को जानता हुआ मुक्त होता है । अर्थात् भागवत का अर्थ इस तरह से कहना चाहिए कि जो अर्थ

बारहों स्कन्धों में अनुस्यूत हो सबका एक ही अर्थ हो अलग अलग अर्थ न हो। यदि यह शंका हो कि अक्षरों का अर्थ क्या होगा तो उसका उत्तर यह है कि जो प्रत्यय रूप अक्षर हैं उनका अर्थ होता ही है। यह पहले कह चुके हैं। एक ही अर्थ होना चाहिए का तात्पर्य है कि शास्त्र स्कन्ध आदि का यदि अलग अलग अर्थ होगा तो वह कृत्रिम (बनावटी) हो जायेगा।

जिस तरह ऐश्वर्य आदि छः धर्मों से युक्त धर्मी (भगवान्) सात प्रकार के हैं। उसी तरह यह भागवतार्थ भी स्कन्ध आदि अर्थों से युक्त है। संसार से मुक्त हो जाना यह ज्ञान का अवान्तर फल है। भक्ति के लिए ऐसी मुक्ति अपेक्षित है।।२।।

शास्त्र-स्कन्ध आदि में भागवत का अर्थ क्या है इसे 'आनन्दस्य हरेर्लीला' इत्यादि कारिकाओं से कहते हैं–

कारिका–आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा।
"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूत यः।।३।।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः" ।।
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि।।४।।
निरूप्य संख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा।
तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता ।।५।।
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्य द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः।
इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः।।६।।

आनन्द रूप भगवान् की आनन्दमयी दस प्रकार की लीला ही शास्त्रार्थ है। ये लीलाएं हरि की है इसलिए लीलाएं भी सब प्रकार के दुःखों को दूर करने वाली है। अतः दुखाभाव सुखरूप होने से ये लीला स्वतः पुरुषार्थ रूप है ये ही भागवत का अर्थ है। स्कन्ध आदि के अर्थ का निरूपण करने के लिये उनका दस प्रकार से विभाग किया है। इस प्रकार से लीलाओं के विभाग में 'अत्रसर्गो विसर्गश्च' ये भागवत का वचन ही प्रमाण है। भागवत में जिन लीलाओं का वर्णन है वे तो दस ही हैं और भागवत में स्कन्ध तो बारह है उनका अर्थ करते हैं-प्रथमस्कन्ध अधिकार लीला स्कन्ध है और द्वितीयस्कन्ध साधनलीला स्कन्ध है। अधिकार भी लीला है क्योंकि अधिकार का उत्कृष्ट रूप से लीला में उपयोग होता है। ज्ञान के सभी प्रकार अङ्गरूप है इसको बताने के लिये साधनानि ऐसा बहुवचन दिया है। इसलिये श्रवणादि रूपा भक्ति के सभी ज्ञान अङ्ग है।

शका हो सकती है कि भागवत के बारह स्कन्ध हैं इसलिये जब बारह भेद हैं तो एकता कैसे होगी शास्त्रार्थता उसमें कैसे होगी। इस पर कहते हैं कि पुराण शब्द से और अर्थ से भगवद् रूप है यह 'निम्नगानां यथा गङ्गा' यहां कहा जायेगा। भागवत के हरिरूप होने पर भी द्वादशता कैसे है।।२।।

कारिका–पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम्।
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः।।७।।

सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः ।
उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥८॥
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः ।
पादौ सक्थौ कटिर्गुह्यं उदरं हृदयं करौ ॥९॥
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः ।
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः॥१०॥
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति ।

'द्वादशो वै पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार अवयवों को गिनाते हैं-२ जांघे २ भुजाएं १ सिर १ मध्य भाग २ हाथ २ पैर २ स्तन इस तरह पुरुष (भगवान्) के बारह अङ्ग है । अब भागवत के स्कन्धों का इन अवयवों में सन्निवेश किस तरह हैं उसे बताते हैं । अधिकार स्कन्ध और ज्ञान स्कन्ध ये दो भगवान् के चरण हैं । सर्ग और विसर्ग ये दोनों बाहु है । स्थान और पोषण ये दोनों जांघें है पूर्व में जो कर शब्द आया है और कर का अर्थ बाहू है । सप्तम स्कन्ध एक हाथ है और द्वादश स्कन्ध दूसरा हाथ है । इस तरह से तो भागवत का रूप विकृत सा हो जायेगा इस आशंका पर दृष्टान्त से प्रकृतोपयोगी रूप का 'उत्क्षिप्त हस्तः' से कहा है । अष्टम और नवम ये दोनों स्तन हैं । इसके अनन्तर दशम मध्य भाग है । एकादश सिर है । द्वादश का वर्णन तो पहले आ ही चुका है । भगवान् जिस तरह भागवत रूप हुए उसी तरह से यहां वर्णन किया । यहां कुछ उपासकों का ऐसा कथन है कि क्रमानुसार ही उपासना करनी चाहिए वही सफल है अतः वे यहां क्रम भेद कहते हैं । वे पञ्चम स्कन्ध को कटि (कमर) बताते हैं । मलद्वार स्थानीय नरक गुह्य स्थान षष्ठ स्कन्ध है । सप्तम उदर अष्टम हृदय । दोनों कर नवम । मुख दशम ललाट एकादश । मस्तक द्वादश । उपासना में ऐसा भी उचित है । इस तरह निरूपण का अन्य प्रयोजन भी है । इस तरह की धारणा से अर्थात् पाठतः धारणा से भागवत के भगवद्रूप होने से उस रूप से वो भगवान् का ही धारण है हृदय में स्थित भगवान् जिस काम को करेंगे वही कार्य भागवत भी करेगा । केवल पाठमात्र से भगवान् धारण किये जाते हैं तो यदि अर्थतः परितः ज्ञान हो जाये तो फिर इदमित्थं रूप से ज्ञान जिसका है वह ज्ञान भक्ति का अङ्ग हो जायगा और वह ज्ञान भक्ति को देगा । ८-९-१० ॥

ज्ञान के लिये इस भागवत के स्वरूप को कहते हैं ।

कारिका—एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामिततेजसः ॥११॥
लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पौषिक तु ते ।
ते प्रमाणअभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥१२॥
न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके ।

यह भागवत अमित तेजस्वी व्यासजी की समाधि भाषा है । लौकिकी भाषा एवं परमत भाषा दोनों ही समाधि भाषा का पोषण करती है । उन दोनों भाषाओं का प्रामाण्य तो वक्ता के अभिप्राय से है समाधि भाषा की तरह प्रामाण्य नहीं है अतःयदि उनमें परस्पर विरोध आता है तो दोषजनक नहीं है । अर्थात लौकिक और परमत भाषा का निरूपण जहां जहां अवसर आयेगा किया जायेगा ।

व्यास जो ने समाधि में जिसे देखा उसे कहा उसे समाधिभाषा कहते हैं। भागवत में कहीं तो ज्ञान की प्रशंसा की है और कहीं कथाओं में पूर्वोतर विरोध है तो कहीं पुनरुक्ति आदि दोष भी है उनके समाधान के लिए ही स्वयं व्यासजी ने ही कहा है कि इसमें तीन तरह की भाषा है 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ता:'।

समाधि भाषा के विरुद्ध अर्थ जिसमें है वह मतान्तर भाषा है और जो लोकसिद्ध भाषा है वह लौकिकी है। परमत भाषा तो जिसने उसे कहा है उसके अभिप्राय के विषय में प्रमाण है स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं है। जिस तरह समाधि भाषा प्रमाणभूत है उस तरह नहीं अत: यदि समाधिभाषा के साथ उन दोनो भाषाओं का कहीं विरोध हो तो वहां ये प्रमाण नहीं मानी जाएगी। जहां शुकदेवजी मैं दूसरे की बात कह रहा हूँ ऐसा कहते हैं वह परमत भाषा है। और जहां लौकिक रीति से निरूपण किया है वह लौकिक भाषा है जैसे-'स्तनैस्तनान् कुङ्कुमपङ्कस्वाषितान्' यह लौकिक भाषा है इनका विरोध व्यासजी ने समझ बूझकर रखा है अत: दोषकारक नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि तोनों ही भाषाओं के प्रकार से स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप श्री कृष्ण लीला भागवत का अर्थ है ॥११-१२॥

उनमें श्रोता तथा वक्ता का अधिकार प्रथम स्कन्ध का अर्थ है और वह स्वरूप निर्वाहक है अधिकार के अभाव में स्वरूप ज्ञान, अर्थ ज्ञान और अभिप्राय ज्ञान नहीं होगा।

वह अधिकार मोटे तौर पर तीन तरह का है और सूक्ष्म रूप से उन्नीस प्रकार का है। इसमें तीन भेद हैं साधारण-असाधारण और गुणातीत। साधारण नौ प्रकार का है और असाधारण भी नौ प्रकार का तथा निर्गुण एक प्रकार का। इस तरह अधिकार अध्यायों का अर्थ जानना चाहिए और सुनने की इच्छा रखने वाले सभी अधिकारी हैं यह स्कन्ध का अर्थ है।

अब प्रकरणार्थ के तीन भेद बताते हैं।

कारिका—भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमध्योत्तमत्वतः ॥१३॥
तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहार्हति ।
आद्येऽध्यायत्रयं मध्य तथा चान्ते त्रयोदश॥१४॥
एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः ॥१४½॥

प्रथम स्कन्ध में हीन मध्यम और उत्तम इस तरह तीन भेद हैं उन्हीं लक्षणों वाला अधिकारी वक्ता और श्रोता यहां कहने तथा सुनने के योग्य है। हीनाधिकार के प्रथम तीन अध्याय (१ से ३) उसी तरह मध्यमाधिकार के तीन अध्याय (४ से ६) शेष तेरह (७ से १९) उत्तमाधिकार के हैं इस तरह उन्नीस अध्याय का प्रथम स्कन्ध कहा गया।

अन्य निबन्धों में ऐसे ही अर्थ का निरूपण है अत: यहां भी ऐसा ही निरूपण किया गया है इसमें अस्वारस्य का बीज यह है कि अन्य निबन्धकार देश और काल की अपेक्षा करके प्रकरण का इस तरह विभाग करते है तो प्रकरण देश काल की अपेक्षा रखने वाला होने से असमर्थ हो जाता है इस समय तो देश और काल दोनों ही अशुद्ध है अत: श्रवण की ही सिद्धि नहीं होगी

इसलिए प्रकरण का ऐसा लक्षण आचार्य चरण को सम्मत नहीं है। श्रवण के अभाव में तो पुराण का प्रणयन (निर्माण) तथा प्रचार दोनों ही व्यर्थ हो जायेंगे अतः अध्याय के अर्थ विचार से ही प्रकरण विभाग उचित है ।।१३-१४।।

जब भागवत की समाप्ति हुई उस समय 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलोज्ञानप्रदीयःपुरा,' इस श्लोक में जो अयम् आया है उससे पूरे बारह स्कन्ध का परामर्श होता है शुकदेवजी ने व्यास जी से पूरे भागवत का अध्ययन किया था यह जाना जाता है। उस समय सूत और शौनक की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। अतः उनका सवाद भी नहीं हुआ था तब नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे' इत्यादि से जो प्रथम स्कन्ध मे जो सूत और शौनक के संवाद रूप में भागवत की प्रवृति हुई यह संगति असगत है इस पर कहते हैं-

कारिका—**कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ।।१५।।**
तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तत् श्रुत्वा सूत आह यत् ।
शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत्सर्वं भावि हृद्गतम् ।।१६।।
अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः ।
व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मङ्गलादिपुरःसरम् ।।१७।।
प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि ।

शुकदेवजी राजा परीक्षित के लिये कथामात्र ही कहेंगे उसमें जो प्रश्न और उत्तर हुए उनको सुनकर जो सूतजी ने शौनकादिकों को कहा यह सब पहले से ही व्यास के रूप में अवतरित भगवान् ने मङ्गलाचरणपूर्वक एवं प्रसङ्गपूर्वक सब बातों को समाधि में जान ली थी और उन हृद्गत अनागत सबको श्लोक रूप से व्यासजी ने कहा। अत सङ्गति भी असंगत नहीं है वह भी व्यासोक्त ही है।

यहां एक शंका होती है कि समाधि भाषा होने से भागवत में प्रामाण्य है तो फिर परम्परा और उपदेश तो व्यर्थ ही हैं इस आशका को मिटाने के लिये परम्परा और उपदेश ये दोनों ही सार्थक हैं इसके लिये समाधि का निरूपण करते हुए परम्परा और उपदेश का निरूपण करते हैं-

कारिका—**साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ।।१८।।**
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका ।
इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः ।।१९।।

ब्रह्म शुद्ध एवं साकार है और माया उनकी उत्तम शक्ति है। उस माया से ही सर्वत्र सम्मोह होता है और भक्ति माया के उस सम्मोह से मुक्त कराने वाली है। इसको भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा और ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा तथा नारदजी ने व्यासजी से कहा।

अर्थात् समाधि अशेष विशेष रूप होने से प्रमाणभूत है और परम्परा सब विशेषों की ज्ञायिका न होने से गौण है ।।१८-१९।।

समाधि की मुख्यता में और भी हेतु है उसे कहते हैं-

कारिका–कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम् ।
व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा ॥२०॥
अभिमानान्नारदोक्तं न सम्यगवभाति हि ।
अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ॥२१॥
वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ ।

व्यासजी धर्म को ही परम कल्याणकारी जानते हैं उन्होंने वेद का विभाग भी किया परम शास्त्रज्ञ भी थे महाभारत जैसे पञ्चम वेद का भी निर्माण किया इसलिये व्यासजी को साधनों पर पूर्ण विश्वास था किन्तु स्वयं भगवान् कृष्ण ने उनके हृदय में मोह उत्पन्न किया और फिर उनके लिये जो वचन कहे वे सर्वत्र प्रमाण है। व्यासजी ने अभिमान के कारण नारदजी की बात को ठीक नहीं समझी इसलिये नारदजी से कही हुई बात के परीक्षणार्थ समाधि लगाई और समाधि में सबसे विलक्षणता इसकी जानकर पीछे इस (भागवत) को कहा।

व्यासजी को अभिमान हो गया इसलिये परम्परा दुर्बल हो गई और समाधि मुख्य रही ॥२०-२१½॥

शंका करते हैं कि ऐसा होने से तो मध्यमाधिकारार्थ ही होगा इस पर कहते हैं–

कारिका–रीत्या यदन्यथा प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः ॥२२॥
प्रसङ्गसाधनफलान्याह प्रकरणे त्रये ।
अन्ते मध्ये तथा चादौ . . . . . .

श्रीमद्भागवत को भगवान् ने कहा ब्रह्माजी ने भी कहा किन्तु वैसा सूतजी ने तथा नारदजी ने नहीं कहा उन्होंने जैसा समझा वैसा कहा अतः भागवत का अर्थ अपने अधिकार के अनुसार समझ मे आता है। भागवत का यदि सर्वार्थ ज्ञान करना है तो उसके लिये मुख्यतया अधिकार की आवश्यकता है उसके लिये प्रथम स्कन्ध को देखना चाहिये।

इन प्रकरणत्रय का अन्य प्रयोजन भी है वे हैं प्रसङ्ग साधन और फल। भागवत प्रसङ्ग जैसे तैसे या जहां कहीं नहीं करना चाहिये किन्तु अनेक महापुरुष हों वे भी शुद्ध तथा तीर्थ निवासी हों वे भी यदि भागवत के सुनने की प्रार्थना करें तब भागवत का प्रसङ्ग करना चाहिये ; उनकी सम्भावना को अपने ज्ञान के ज्ञापन से दृढ करके तत्पश्चात् प्रसंग करना चाहिये। नहीं तो प्रसंग सफल नहीं होगा जो ज्ञानाभिमानी होते हैं वे सिद्धान्त को बिना ही जाने अपने को ज्ञानी मान लेते ऐसे को नहीं समझाना। ऐसे लोग बिना समझ के उस पदार्थ को उलटा समझ लेते हैं जिससे महापुरुषों के ज्ञान को भी अपने ज्ञान से मिला देते हैं। इसलिये ऐसे को कभी ज्ञान न देना। व्यास और नारदजी के संवाद में साधनों का निरूपण है।

साक्षात् भगवान् में प्रवेश, सब प्रकार के सन्देहों से रहित होना, भगवान् की कृपा प्राप्त

करना, सर्वत्र निर्भय होना और परम प्रेम का होना ये सब भागवत के फल परीक्षित् और शुकदेव जी के समागम में निरूपित हुए हैं।

अतः भागवत का प्रसङ्ग प्रथमस्कन्ध के अन्त में और साधन कथन तथा इतर निराकरण मध्य में तथा तृतीय प्रकरण में प्रथम ही भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति एवं भक्ति ये कहे गये हैं।

अब प्रथमाधिकार में श्रोता कैसा होना चाहिये इस आकांक्षा में उसके विशेषण कहते हैं-

कारिका—. . . . . . तीर्थयज्ञैर्महान् शुचिः ॥२३॥
कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे।

जो तीर्थ भ्रमणादि से तथा यज्ञादि से महान् पवित्र है और भगवान् की कृपा से सत्सङ्ग हो जाने पर प्रयत्न करके भगवान् कृष्ण की कथा पूछता है वह प्रथमाधिकारी है ॥२३½॥

भले ही ऐसा श्रोता मिल जाय परन्तु उसे सहसा भागवत नहीं कहनो चाहिए। पहले उसके हृदय को टटोलना चाहिए इसके लिये व्यासजी ने वक्ता को शिक्षा देने के लिये जिस रीति का निर्देश किया है उसे स्पष्ट करते हैं।

कारिका—सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ॥२४॥
उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः।
ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा ॥२५॥

वक्ता को चाहिए कि यदि किसी श्रोता की सामान्य रूप से जिज्ञासा हो तो उसे जैसे सूतजी ने प्रथम स्कन्ध के द्वितीय तृतीय अध्याय में निवृत्त को उसी रीति से उसकी जिज्ञासा का वारण कर दे परन्तु यदि उसकी उत्कण्ठा और अधिक सुनने की हो तो फिर कथा का प्रक्षेप (प्रारम्भ) करे यदि उससे भी विशेष जिज्ञासा हो और कथा के विषय में प्रश्न भी करे तब उसे सदा कथा कहनी चाहिये यह रीति है ॥२४-२५॥

अब वक्ता का प्रथमाधिकार कहते हैं-

कारिका—वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात्।
श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिमः ॥२६॥

जो सर्वज्ञ हो और जिसने सम्प्रदाय पुरःसर सन्त के मुख से कथा सुनी है और जो भक्त हो तथा जो अविरक्त हो इस तरह गुण चतुष्टय युक्त वक्ता प्रथमाधिकारी होता है।

यहां यह शंका हो सकती है कि वक्ता के अधिकार का उपयोग कहाँ होगा केवल श्रोता के अधिकार से ही कार्य सिद्धि हो जायेगी इस आशंका का समाधान यह है कि वक्ता का अधिकार ही मुख्य है वक्ता यदि महान् है तो श्रोता भले ही कैसा ही हो महान् हो जाता है ॥२६॥

यदि ऐसी बात है तो सूत ने तो श्री शुकदेवजी से भागवत सुनी थी तो फिर सूत को फलसिद्धि क्यों नहीं हुई इस पर कहते हैं—

कारिका—सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा ।
यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा ॥२७॥

यद्यपि सूतजी ने श्री शुकदेवजी से कथा सुनी किन्तु सूत लोगों की कथा सुनाने की वृत्ति है इसलिये सूतजी में उत्तमता नहीं आई । इसमें वक्ता के अधिकार में कोई हीनता नहीं हुई । यह भागवत नामात्मक भगवान् का रूप है उसे जो बेचता है उसे विक्रय से अधिक फल नहीं होता अर्थात् उसके बेचने में जितना लाभ होता है उतना ही उसे मिलेगा । उससे अधिक लाभ नहीं मिलेगा । सूतजी इसलिये प्रथमाधिकारी है ॥२७॥

यह तो समझ में आया कि सूतजी ने भागवत का प्रयोग वृत्ति के लिये किया इसलिये वे प्रथमाधिकारी हुए किन्तु ब्रह्माजी से नारदजी ने भागवत सुनी तो फिर नारदजी में उत्तमता क्यों नहीं आई इस पर कहते हैं

कारिका—नारदस्याधिकारित्वात् कार्यविशात्तु सर्वतः ।
न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम ईर्यते ॥२८॥

नारदजी यद्यपि उत्तमाधिकारी थे परन्तु सर्वत्र उनमें कार्य का आवेश रहता था इसलिये वैराग्य दृढ न हो सका इस कारण से उनको मध्यमाधिकारी कहा । यद्यपि ज्ञान तो पूर्ण था किन्तु वैराग्य का अभाव था इसलिए मध्यमाधिकारी हुए ।

भागवत के जो तीन वक्ता हैं उनमें सूतजी को तो केवल शब्द ज्ञान था और नारदजी को भागवत का ज्ञान अर्थतः था तथा श्रीशुकदेवजी को वैराग्य युक्त भागवत का ज्ञान था ।

भगवान् का आवेश श्रीशुकदेवजी में हो इसलिये उनमें वैराग्य था अन्यथा यदि वैराग्य न होता तो श्रीशुकदेवजी ज्ञान से विक्षिप्त हो जाते ।

प्रमाणबल से प्रमेयबल अधिक होता है इसलिये भगवान् की इच्छा से नारदजी में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ । और भागवत तो अपनी उत्पत्ति में बता गये फल से अधिक फल को सिद्ध नहीं करता । अतः अधिकार में भिन्न रूप से वैराग्य कहा । परीक्षित में वैराग्य की सिद्धि हो इसी के लिये सात से लेकर अठारह तक बारह अध्यायों का निरूपण किया तब ही परीक्षित् अधिकारी हुआ । अतएव नारद आदि का भी प्रवेश श्रोताओं में ही होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैराग्य का संपादन करके ही भागवत सुननी चाहिये तभी अधिकार सफल होगा । वैराग्य में हेतु जो दोषदर्शन है उसके रहने पर भी नामविक्रय और अधिकार ये दो वैराग्य में रुकावट डालने वाले हैं ॥२८॥

जब नामविक्रय एवं अधिकार ये दो प्रतिबन्धक नहीं होंगे और श्रवण की आवृति भी की

जायगी तो वैराग्य भी हो जायगा इस आशय से कहते हैं–

कारिका–शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः ।
दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ।।२९।।

शुकदेवजी में नामविक्रय और अधिकार ये दोनों ही नहीं थे इसलिये वे उत्तम माने गये हैं ।

शंका हो कि यदि शुकदेवजी उत्तमाधिकारी थे तो व्यासजी से जब भागवत सुनी ;उसी के अनन्तर परमभक्ति होने से शीघ्र ही भगवान् में प्रविष्ट क्यों नहीं हो गये ? इस पर कहते हैं कि भक्तों के मरने में भगवान् की कथा ही रुकावट डालने वाली होती है ।।२९।।

भागवत के द्वारा शीघ्र मुक्ति होने में और भी प्रतिबन्धक हैं उनका निरूपण करने के लिये कहते हैं–

कारिका–यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्ग्रहात् ।
वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ।।३०।।
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्ष्यते ।
स्वतस्तर्क परिज्ञानादवताराच्च मध्यमः ।।३१।।
नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नारदप्रमा ।
शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसंदेहात् फलं भवेत् ।।३२।।
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे ।।३२½।।

भागवत के सुनने के अनन्तर भी शौनकजी को वैराग्यादिक नहीं हुए उसमें तीन कारण हैं शौनकजी की यज्ञों के करने में आसक्ति थी, शिष्यों का संग्रह करते थे शिष्य बनाते थे, तीसरा हेतु यह था कि सूत से मैं अधिक हूं ऐसा ज्ञान था ।

तो फिर शौनकजी का भागवत सुनना व्यर्थ ही रहा ? इस आशंका का उत्तर देते हैं । शास्त्रीय ज्ञान तो उनका दृढ था ही उस ज्ञान से ही भगवान् में परम साध्यरूपा भक्ति हो गई । तदनन्तर भगवान् की कृपा से भक्ति से युक्त कर्म के द्वारा ही मुक्त हो जायेंगे ।

शंका होती है कि व्यासजी में वैराग्य तो था नहीं इसी तरह नारदजी में नहीं था तो फिर व्यासजी को प्रथमाधिकारी में क्यों नहीं गिना गया ? इसका उत्तर यह है कि व्यासजी में वैराग्य न होने पर भी प्रथमाधिकारी से दो बात अधिक थी एक तो व्यासजी को तर्क के द्वारा स्वतः परिज्ञान था और मूल में वे भगवान् के ज्ञानावतार थे इसलिये व्यासजी की गणना मध्यम में की गई उत्तम तो वे इसलिये नहीं थे कि उन्हें नाना साधनों का विज्ञान दृढ था और इसीलिये नारदजी का उपदेश उनके लिये दुर्बल था । जब समाधि के द्वारा नारदजी की कही बात ठीक निकली तब उसको प्रमाण माना इससे मध्यमता हुई । परीक्षित में ये कोई दोष नहीं थे केवल शुकदेवजी के उपदेश के सुनने मात्र से ही उनका सन्देह निवृत्त हो गया और भागवत सुनने का फल उन्हें मिल

गया। परीक्षित् का वैराग्यादिक यहां स्पष्ट नहीं हुआ है अतः उसे उत्तमाधिकार के प्रकरण में कहेंगे ।।३०-३१-३२½।।

शंका होती है कि सूत ने तो सम्पूर्ण भागवत को कहा है तो फिर तीन ही अध्याय में प्रकरण समाप्ति कैसे हुई इस पर कहते हैं-

कारिका—स्वाधिकारनिरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम् ।।३३।।
कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम् ।।३३½

सूतजी ने दो बातें कहीं स्वतन्त्र रूप से दो अध्याय कहे उनमें उन्होंने अपने अधिकार का बोध करा दिया। और बाकी का कथन तो भागवत रूप से उन्होंने कहा। उनमें उन्होंने मुख्य रूप से कथाक्षेप का निरूपण किया। उससे उन्होंने प्रथम प्रकरण को पूर्ण कर दिया। कथा को समाप्त नहीं किया उनका अधिकार तीन अध्यायों में सम्पन्न हुआ।

कारिका—अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद्भविष्यति ।।३४।।
निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वमुदीरिते ।
सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वमतस्तयोः ।।३५।।

सूतजी का अधिकार तो तीन अध्यायों में पूरा हो गया कथा तो पीछे होगी। भागवत की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार को हेतु पूर्वक कहा। सूतजी ने जो कहा वह अधिकार से नहीं कहा अतः उनमें द्विरूपता है।

यहां यह शंका होती है कि सूतजी ने जैसे अपने अधिकार के प्रकरण की कथा कही उसी तरह मध्यम प्रकरण में भी वक्ता सूत ही थे तथा उत्तम में भी वे ही वक्ता थे। अत सूतजी में मध्यमता तथा उत्तमता क्यों नहीं हुई? द्वितीय प्रकरण में निष्पत्ति (हेतु) का निरूपण है और उत्तम में निष्पत्ति और प्रवृत्ति दोनों हो का निरूपण है। सूतजो ने जो इनका निरूपण किया है वह भागवत का अंग होने से ही किया है उन्होंने अपने अधिकार से निरूपण नहीं किया है। अतः सूतजी में मध्यमता तथा उत्तमता नहीं आती। तो फिर यह प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो नारदजी में मध्यमता और शुकदेवजी में भी उत्तमता नहीं होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनमें द्विरूपता थी जब दूसरे की बात कहते हैं उस समय वे अनधिकारी हैं और स्वयं जब कहते हैं तब तो उनमें अधिकारिता सिद्ध होती है। इसलिये मध्यम और उत्तम प्रकरण में द्विरूपता है सूत के कथन में और नारदजी के कथन में ।।३४-३५।।

मध्यम प्रकरण में तीन अध्याय क्यों है उस पर कहते हैं-

कारिका—मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपितम् ।
अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम् ।।३६।।

नारदजी व्यासजी को भागवत समझाने के लिये नहीं आये थे वे जानते थे कि व्यासजी

मेरे से उत्तम है किन्तु व्यासजी जिस तरह भागवत को कहें उसके लिये हेतु कहते हैं इसलिए भागवत से उनने जिस अर्थ का निर्धारण किया उसी से उनका अधिकार जाना जाता है। तथापि एक यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि प्रथमाधिकार की तरह इसके भी तीन अध्याय कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि अभी तो भागवत की निष्पत्ति (उत्पत्ति) नहीं हुई है जब भागवत व्यासजी के मुख से होगी तब ही अधिकार का निरूपण हो सकता है अब तक भागवत उत्पन्न नहीं हुई इसलिये पूर्व की तरह ही मध्यम प्रकरण के भी तीन ही अध्याय हैं। इसमें विभाग भी पूर्ववत् हैं इन तीन अध्यायों में प्रश्नोत्तर है एक अध्याय से प्रश्न और दो अध्यायों से उत्तर हैं। परन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि प्रथमाध्याय में प्रश्न का हेतु है और द्वितीय के आरम्भ में प्रश्न है ।।३६।।

शंका करते हैं कि उत्तमाधिकार के प्रथम अध्याय में पूर्ववत् ही उत्तर कहना चाहिये उस पर कहते हैं–

कारिका–उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्रधिकारकृत् ।
स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता ।।३७।।
सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्यैवोक्तवाञ् शुकः ।
सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्ये द्विधा मतः ।।३८।।
अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम् ।
सम्पूर्णेनैव सर्वेषामुत्तरं सम्भाविष्यति ।।३९।।

उत्तमाधिकार में प्रथमस्कन्ध में प्रश्न श्रोता के अधिकार को करने वाला है। स्पष्ट होने से विशेष रूप से वक्ता का अधिकार नहीं कहा। शुकदेवजी ने एक ही साथ सामान्य अङ्ग का कथन कर दिया। आद्यस्कन्ध में सामान्य और विशेष इस भेद से प्रश्न के दो प्रकार माने गये हैं। सब का उत्तर सम्पूर्ण ही होगा।

उत्तर तो द्वितीय स्कन्ध में ढाई अध्यायों से कहा जायेगा। उसी से अधिकार होता है। अर्थात् शुकदेवजी जब पधारे तो नारदजी और व्यासजी आदि सब उठकर खड़े हो गये। अतः बिना ही उत्तर के कहे वक्ता का उत्तमाधिकार सिद्ध हो गया इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं हुई। अतएव द्वितीय स्कन्ध के चौथे अध्याय में मङ्गलाचरण है। उत्तमवक्ता का अधिकार भी भगवान् के चरित्र के ही अनुरूप है अतः वह भी भागवत के समान है। इसलिये उसका निरूपण प्रथम स्कन्ध में नहीं किया। क्योंकि श्रोता का ही अधिकार मुख्य रूप से अधिकार शब्द से निरूपण करना चाहिये। व्यावहारिक अधिकार तो स्पष्ट ही है अतः उसके निरूपण की आवश्यकता नहीं है। तो फिर विशेषाधिकार की क्या गति होगी? इस आशंका का उत्तर देते हैं कि शुकदेवजी उत्तर रूप से भागवत को कहते हुए सबसे पहले एक स्कन्ध से अङ्गों को कहा उसमें अङ्गता में स्वयं का अधिकार भी आ जाता है अतः उसे दो अध्यायों से कहा। दो अध्यायों में कहने में हेतु तो सामान्य और शेष प्रश्न ही है। शंका होती है कि तब भागवत को यहीं समाप्त कर देना था। उतने ज्ञान से ही उत्तमता सिद्ध हो जायेगी फिर विस्तार की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर यह है कि प्रश्नों के उत्तर में सम्पूर्ण ही भागवत होगी ।।३७-३८-३६।।

यह आपने कैसे जान लिया कि प्रथम स्कन्ध के प्रश्नों का ही उत्तर पूरे भागवत में है इस पर कहते हैं–

कारिका–अत एव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः ।
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ।।४०।।
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् ।
ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्यंशसोः श्रियः ।।४१।।
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वानिहोच्यते ।
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरै ।।४२।।
ऐश्वर्यधर्मयो रूपमन्येषां प्रथमे जगौ ।।४२½।।

इस भागवत में प्रथमाध्याय सर्वत्र प्रश्नाध्याय है और समस्त भागवत उसका उत्तर है । इस भागवत का प्रतिपाद्य भगवान् ही है । भगशब्द के ज्ञान-वैराग्य धर्म तथा ऐश्वर्य-यश और श्री ये छः अर्थ है अर्थात् इन छः का समुदाय भग कहलाता है भगवान् कृष्ण में ये हो छः अर्थ विद्यमान् हैं और भागवत में भी ये ही छः अर्थ है यदि ये न होते तो भागवत की प्रवृति व्यर्थ हो जाती । वे छः प्रश्न प्रथमाध्याय में स्पष्ट है । इसलिए उसका अभिनन्दन किया । चार का प्रथम अध्याय में तथा दो का दूसरे अध्याय में ऐश्वर्य और धर्म का कथन अन्यों के प्रथम अध्याय में ।

सभी प्रश्नों में कृष्ण विषयक हो प्रश्न हैं वह कृष्ण ही लीला रूप से सर्वत्र वर्णित है । इससे ग्रंथ की संगति का निरूपण भी हो गया । यहां भागवत में तो बारह स्कन्ध हैं और ऐश्वर्यादि तो छः हैं अतः दो दो स्कन्धों में एक-एक को कहा गया है ।

प्रथम एवं द्वितीय स्कन्ध में ज्ञान का कथन है सर्ग (तृतीय) एवं विसर्ग (चतुर्थ) स्कन्ध में वैराग्य का कथन है । दो प्रकार के धर्म का स्थान (५) और पोषण भेद से (६) स्कन्ध में कथन है । ऐश्वर्य प्रह्लाद और मनु आदि से सप्तम-अष्टम में सूचित किया है । नवम और दशम स्कन्ध में यश का प्रतिपादन है और श्री का प्रतिपादन ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्ध में है । वहां भगवान् का स्वरूप से रमण सिद्ध होता है । अथवा इन दो दो स्कन्धों में ऐश्वर्य आदि का जो क्रम है 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्योश्चापि षण्णां भग इतीरणा' इस क्रम से उपपादन करना । ऐसा होने पर सूत ने अपने अधिकार की सिद्धि के लिये जैसा उत्तर दिया उस तरह का विभाग बताते हैं ।

सूतजी ने प्रथम अध्याय में चार प्रश्नों का उत्तर दिया । अथवा तीन का समान रूप से । टीका में उसी का कथन है । कृष्ण के सहित दो प्रश्नों का उत्तर द्वितीय अध्याय में दिया । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रति प्रश्न का तथा सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए यह ज्ञापित हुआ ।।४०-४१-४२।।

अध्याय का अर्थ समूह होता है । सर्वत्र इस बात को बताने के लिए वाक्यार्थों का संग्रह करते हैं-

कारिका—मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ।।४३।।
प्रश्न। साधाररणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः ।
कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ।।४४।।
प्रयोजनक्रियारूपैर्विद्यमानविमोचकः ।
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात्कृताः ।।४५।।
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् ।
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसंग्रह ।।४६।।

प्रथम श्लोक का अर्थ मङ्गल है फिर दो श्लोकों से भागवत का उत्कर्ष तथा प्रसङ्ग तीन श्लोकों से सूत की स्तुति एक श्लोक से प्रथम प्रश्न ढाई श्लोकों से हेतु का प्रश्न पहला प्रश्न धर्मपरक और दूसरा प्रश्न ज्ञानपरक है। फिर कृष्ण के विषय में चार प्रकार के प्रश्न हैं। ऐसा होने से धर्मपरक प्रश्न तथा ज्ञानपरक प्रश्न कृष्ण विषयक नहीं होंगे। इसके समर्थन के लिये कहते हैं कि इसमें केवल मार्ग भेद है अर्थभेद नहीं है। कृष्ण के विषय में चार प्रकार से प्रश्न है और वेद के विषय में दो प्रकार से प्रश्न हैं। भगवान् कृष्ण चतुर्मूर्ति है और वेद के काण्डद्वयार्थ रूप भी है। इसलिये दो प्रकार हैं। इसलिये छः भेद ऐश्वर्यादि गुणों के पर्याय हैं वे यहां पूछने योग्य हैं। इनके जान लेने से सब जान लिया जाता है। कृष्ण के विषय में जो चार प्रकार के प्रश्न हैं उनके भी दो रूप हैं प्रयोजन क्रियारूप और विद्यमान विमोचक। कृष्ण के जन्म के प्रयोजन का प्रश्न क्रियाविषक प्रश्न और रूपों का प्रश्न इन तीन का एक ही प्रश्न क्यों किया उसका हेतु बताते हैं विद्यमान विमोचकः भगवान् ने अवतार लेकर योगियों, ज्ञानियों और भक्तों को मुक्त किया। वास्तव में तो भगवान् का अवतार भक्तों को ही मुक्त करने के लिये हैं। इसलिये प्रथम तो सृष्टि आदि क्रिया से तो ज्ञानियों को मुक्त किया, रूप से योगियों को मुक्त किया और उनके अन्दर जो अविहित भक्त है उनकी मुक्ति की।

चतुर्थ, प्रश्न जो 'ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्माणि। स्वाकाष्ठा मधुनोपे ते धर्मः कं शरणं गतः अलग है वह भी तुल्य बल वाला ही है इसलिये कहा कि आगे मुक्ति किससे होगी। उसमें अधिकार कहना चाहिये इसके लिये अपना अधिकार कहते हुए अपनी योग्यता को बताते हुए प्रश्न किया इस तरह यह प्रथम अध्याय का संग्रह है ।।४३ ४४-४५-४६।।

इति प्रथमाध्यायः

अब द्वितीयाध्याय का संग्रह कहते हैं—

कारिका—उत्साहसङ्गतिः प्रह्वःशास्त्रारम्भोपदेशनम् ।
प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ।।४७।।
पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः ।
एवं वेदार्थनिर्धारे श्लोकाः सप्तदश स्मृताः ।।४८।।

धर्मज्ञानार्थनिर्धाराच्छ्रवणादिभिरादरात् ।
प्रेमोत्पत्तौ हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ।।४९।।
जन्मकारणलीले च सप्तभिः पञ्चभिःव्यधात् ।
भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ।।५०।।
सत्त्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम् ।
विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ।।५१।।
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः ।
नोक्तं स्वरूपाविज्ञानात् फलवाक्यं मृषा भवेत् ।।५२।।
अतस्तदुक्त्वा पश्चातु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति ।
उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे ।।५३।।
पूर्वं पञ्चविद्या लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।।५३½।।

अब प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय का संग्रह कह रहे हैं उसमें पहले श्लोक से सूत का उत्साह तथा कथा के कहने का प्रयोजन कहा है। तदनन्तर दो श्लोकों से शुकदेवजी को नमस्कार, फिर एक श्लोक से शास्त्रारम्भ का उपदेश। इसके अनन्तर अभिनन्दन कहा। इसके अनन्तर स्वयं ही श्लोक विभागों को कहते हैं पांच श्लोकों से पूर्व निर्धार कहा क्योंकि कर्म पांच प्रकार के है। इससे वेद के पूर्वकाण्ड का कथन किया। फिर बारह श्लोकों से वेद के उत्तर काण्ड का कथन है इस तरह श्लोकों के निर्धार से सत्रह श्लोक कहे। वेद में पुरुष को बारह प्रकार का कहा हैं 'पुरुषो द्वादशविधः' अर्थात् तत्त्व विचार में बारह ही प्रकार हैं इतना ही वेद का अर्थ है श्रुति में कहा है 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' वेदार्थ में सत्रह श्लोक परिनिष्ठित हैं। वेद में उससे अधिक गति नहीं है यह इससे सूचित होता है। इस तरह वेद के द्वारा जो कर्म (धर्म) का और ज्ञान का निरूपण किया उसका निमित्त यह है कि इनके द्वारा धर्म और ज्ञान का निर्धार हो जाने से प्रजापति मात्रत्व अर्थात् यज्ञात्मकता हो जानी है तभी भगवत् श्रवणादिक होता हैं। भगवान् के श्रवण के लिये ही पहले वेद के उन दोनों काण्डों का निरूपण किया। तब आदर के साथ श्रवणादि करने पर प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर भगवान् प्रसन्न होते हैं तब फिर भगवान् के अवतारादि होते हैं। जन्म कारण निर्धार में सात श्लोक हैं और लीला में पांच श्लोक हैं। इनका प्रयोजन यह है कि जन्म के द्वारा तो भक्तों का उद्धार होता है और लीला से भक्तिसिद्धि होती है। जन्म कारण निर्धारण के सात श्लोकों में दो भेद हैं उनमें पांच श्लोक तो विचारक हैं,विचार का उपयोग है विशेष भक्ति की सिद्धि होना अन्य प्रयोजन भी कहते हैं 'सामान्यतोऽस्य मूलत्व कथनाय विशेषतः' शंका होती है कि शौनकजी ने तो कृष्णावतार में प्रयोजन पूछा था तो फिर सूतजी ने सामान्य अवतार के प्रयोजन से उत्तर क्यों दिया उसके लिये कहा कि विशेष से उत्तर नहीं दिया क्योंकि शौनकजो कृष्ण स्वरूप के अनभिज्ञ थे। जब स्वरूप जाने तभी तो उनके जन्म का हेतु बताना चाहिये। यदि स्वरूप ज्ञानरहित के लिये जन्म का प्रयोजन कहा जाय तो बिना हेतु के जैसे फल व्यर्थ है उसी तरह फलवाक्य भी उसके लिये व्यर्थ है। अतः पहले तो स्वरूप कहा फिर वह स्वरूप समझ में आया या नहीं इसका निश्चय करके फिर श्रद्धा के अति-

शय से उसकी जानकारी प्राप्त की उसके बाद कुन्ती के वाक्य में उसे 'केचिदा हुरजंजातम्' इत्यादि से कहा। लीला पांच प्रकार की है इसे स्पष्ट करते हैं 'उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे' अवतार के पूर्व स्वरूपस्थित भगवान् की लीला पांच प्रकार की है। १ उत्पादन २ प्रवेश ३ नानात्व ४ भोग और ५ रक्षण। अवतार ग्रहण करने के अनन्तर तो अनेक प्रकार की लीलाएं हैं उन्हें अग्रिमाध्याय में कहेंगे। बस इतना द्वितीयाध्याय का अर्थ है। इससे श्रोता तो मात्सर्य रहित है और वक्ता चतुर है यह सिद्ध होता है।

इति द्वितीयाध्यायः

अब तृतीयाध्याय के अर्थ को कहते हैं-

कारिका-आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्वशरीरगः ॥५४॥
अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि।
ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः॥५५॥
वराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः।
दत्तव्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ॥५६॥

मध्य में नारद आदि को आवेशावतार बताया इसलिये उसमें और आविर्भाव में कोई अन्तर होगा ऐसा नहीं है अर्थात् आविर्भाव और अवतार समान ही है जैसे महाराज अपने देश में घूमता हुआ अपने लिए बनाये हुए घरों में रहता है कभी अपने घर में भी रहता है अतः जब तक अपने लिये बनाये हुए घर में राजा रहता है तब तक वह घर भी राजगृह कहलाता है इसलिये अपने लिये निर्मित घर में रहने अथवा अपने घर में रहने में कोई अन्तर नहीं होता उसी तरह आवेश और अवतार में कोई अन्तर नहीं है। शरीर चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो उसमें निवास करने वाले निर्गुण कृष्ण ही है। स्पष्ट प्रतीति के लिये विभाग करते हुए अवतार में दो भेद बताते हैं। एक तो ज्ञानशक्ति से अवतार ग्रहण करते हैं और द्वितीय क्रियाशक्ति से। क्रियाशक्ति से ग्रहीत अवतार बाहरी दुःखों को दूर करता है और ज्ञानशक्ति से गृहीत अवतार आन्तर (अन्दर के) दुःखों के निवारणार्थ है। वराह-कूर्म-नृसिंह आदि भगवान् के क्रिया स्थान हैं और दतात्रेय-व्यास कपिल आदि ये भगवान् के ज्ञानस्थान हैं। अर्थात् बलकार्य जब करना होता तो वराह-कूर्म नृसिंह रूप में अवतार लेते हैं और ज्ञानकार्य करना होता है तब दत्तात्रेय-व्यास-कपिल आदि रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं।

अब अवतारों को साढे तीन श्लोकों से गिनाते हैं-

कारिका-मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंहवामनभार्गवाः।
मन्वन्तरावताराश्च व्यासबुद्धौ च राघवः ॥५७॥
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः।
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ॥५८॥

महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ।
तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ।।५९।।
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः ।

मत्स्य-कूर्म-वराह-नृसिंह-वामन-परशुराम-मन्वन्तरावतार-व्यास-बुद्ध-रामचन्द्र-कपिल-दत्तात्रेय-ऋषभ-शिशुमार-रुचिपुत्रस-हंस-मोहिनी-हयग्रीव वडवावक्त्र-कल्कि धन्वन्तरि इत्यादि केवल अवतार हैं और कृष्ण शुद्धसत्व से केवल अवतार हैं।

इनमें जो अवतार भागवत में नहीं कहे हैं किन्तु पञ्चरात्र आदि आगमों में कहे हैं उन्हें भी यहां प्रकृतोपयोगी होने से गिनाया है ।।५७-५८-५९।।

अब साढे चार श्लोकों से जिनमें भगवान् का आवेश है उन आवेशियों का निरूपण करते हैं–

कारिका–**श्री-ब्रह्म-रुद्र-शेषाश्च वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ।।६०।।**
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।।६१।।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।
कश्यपः सनकाद्याश्च वह्न्याद्याश्चैव देवताः ।।६२।।
भरतः कार्त्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्त्तिनः ।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ।।६३।।
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।।६४।।

श्री-ब्रह्मा-रुद्र-शेष-गरुड-इन्द्र और काम कामपुत्र अनिरुद्ध-सूर्य-चन्द्र-बृहस्पति-धर्म तथा इनकी भार्या दक्ष आदि मनु-मनुपुत्र-ऋषिनारद-पर्वत-कश्यप-सनकादि-अग्नि आदि दैवता-भरत कार्त्तवीर्य-पृथु आदि चक्रवर्ती राजागय-लक्ष्मणआदि तीन-बलभद्र प्रद्युम्न रुक्मिणीपुत्र तथा उसका पुत्र अनिरुद्ध-नर अर्जुन ये भगवान् के विशेष आवेश वाले हैं ।।६०-६१-६२-६३-६४।।

साधारण रूप से निरूपित कृष्ण की विशेषता को कहते हैं भगवान् कृष्ण ज्ञान और क्रिया इन दोनों से युक्त हैं।

कारिका–**ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**

ज्ञान और क्रिया इन दोनों से युक्त कृष्ण तो स्वयं भगवान् है।

सामान्य प्रयोजनोक्ति से लेकर भागवत की उक्ति के पहले चार अर्थों का निरूपण किया था उसका प्रयोजन कहते हैं–

कारिका—माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ।।६५।।
नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः ।
विवृत्तिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः ।।६६।।
भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम् ।

उसमें माहात्म्य को बताया है और भागवत के सुनने का माहात्म्य बताया है । मुक्ति के स्वरूप की सिद्धि के लिए बन्ध का निर्णय किया है । भजन की सिद्धि के लिए भगवान् की नित्यता, दुर्ज्ञेयता कही गयी है ।

भगवान् की नित्यता और दुर्ज्ञेयता का विवरण रूप ही भागवत है । जो उत्तम हैं उनके लिए तो भागवत को सक्षेप से कहें तो भी भक्ति हो जायगी । किन्तु आदि और मध्यम को भक्ति नहीं होगी इसलिए विवरण है । तत्क्षेप का अर्थ है उसे हम कहेंगे यह प्रतिज्ञा है ।

गुह्यज्ञान वक्ता का तृतीयाधिकार है । उसमें भी आदर के सहित द्वितीयाधिकार है । यहां अध्याय की और प्रकरण की पूर्ति हो गई ।।६५।।६६।।

अब साढे तेरह कारिकाओं से द्वितीय प्रकरण के अर्थ को कहते हुए पांच कारिकाओं से इस प्रकरण का उपोद्धात है इसे सूत की उक्ति से समर्थित करते हैं । पूर्वपक्ष का कथन द्वितीय प्रकरण का हेतुभूत है अत. विरोधिता के अभाव के लिए हर्ष भी कहना चाहिये उसे कहते हैं—

कारिका—पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ।।६७।।
ग्रन्थोऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसंप्लुतः ।
स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि ।।६८।।
अयुक्तत्वात्तु सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः ।
श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ।।६९।।
स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि ।
अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसंगतः ।।७०।।
प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।
उपोद्घातो हेतुरूपत्रयाणां रूपमेव च ।।७१।।
मध्यमोऽयमुपोद्घातः फलपर्यवसानतः ।

जब भगवान् कृष्ण स्वधाम पधार गये तब धर्म का रक्षक कौन रहा ऐसा प्रश्न शौनकजी ने सम्भावना मात्र से ही पूछा था परन्तु इसके लिए भागवत ग्रन्थ है ऐसा जब सुना तो उन्हें हर्ष हुआ जैसे जगत् के लोग अपनी रुचि के अनुसार किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं यदि उसका समर्थक शास्त्र मिल जाय तो उन्हें प्रसन्नता होती है अर्थात् यह मैंने किया तो रुचि के अनुसार था किन्तु यह तो शास्त्रसिद्ध है ऐसा ज्ञान हो जाने पर प्रसन्नता होती है ।

सर्वतः प्रथम तो 'सूत सूत महाभाग' इससे स्वरूपविषयकप्रश्न है एवं 'कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयम्' इससे भागवत की उत्पत्ति के विषय का प्रश्न है और 'केन सञ्चोदितः' इससे हेतु विषयक प्रश्न है इस तरह इन तीन प्रश्नों के अनन्तर फिर तीन प्रश्न हैं।

शुकदेवजी ने भागवत को कैसे पढा और व्यासजी ने उनको कैसे पढाया तथा परीक्षित् के प्रायोपवेश का क्या कारण था। परीक्षित् के विषय में जो पहले जाना था वह है या नहीं ऐसा सन्देह करके परीक्षित् के प्रश्न और कर्म के विषय का प्रश्न इस तरह ये चार प्रश्न हो जाते हैं।

शंका होती है कि भागवत को ही पूछना चाहिये ये अन्य प्रश्न तो अनुपयुक्त हैं। इस पर कहते हैं कि उत्पत्ति तथा प्रवृत्ति में जो युक्तिविरुद्ध होगा तो उसके सुनने पर स्वयं को भी वैसा फल नहीं होगा इसलिये प्रश्न है। यदि ऐसा मानलें कि जैसा फल होने का है वैसी कल्पना कर लीजिये इसके लिये कहते हैं कि यह अर्थ अलौकिक है अतः लौकिक की तरह अपनी इच्छा से इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

भागवत के श्रोता हैं राजा परीक्षित् उनने जब सर्वस्व का परित्याग कर दिया तब उन्हें अब भागवत सुनने की आवश्यकता क्यों रही। क्योंकि वे तो स्वयं ही उत्तम है और उनके ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह है। श्रोता परीक्षित् तो आत्मा को ही फलरूप मानते हैं और उस फल में बाधक हैं विषय, उनका तो उन्होंने पहले ही परित्याग कर दिया वे यह समझते थे कि सब शास्त्रों का कथन यही है कि विषय आत्मज्ञानरूप फल में बाधक हैं। इसी तरह वक्ता श्री शुकदेवजी जो स्वतः ही विषयों से निवृत हैं उनको भागवत के पठन की क्या आवश्यकता है और भागवत के वर्णन को तो सर्वथा ही आवश्यकता नहीं थी यदि कहें कि भागवत के उपदेश करने से उनमें उत्कर्ष होगा वह भी नहीं है शुकदेवजी तो स्वयं ही उत्तम हैं। वे तो जन्मान्तर में भी सर्वोत्तम पूर्णज्ञान थे अतएव उन्हें अपने यज्ञोपवीत संस्कार की भी आवश्यकता नहीं थी। वैसे वक्ता के लिये भागवत से क्या होगा। भगवान् का अनुग्रह भी उनके लिये स्वतः था अर्थात् श्रोता और वक्ता दोनों ही उत्तम कोटि के और भगवदनुग्रह प्राप्त थे।

परीक्षित् के ऊपर भगवान् की कृपा थी इसे स्पष्ट करने के लिये उसके जन्म के विषय में प्रश्न किया। भक्तों के ऊपर तो भगवत्कृपा है यह प्रसिद्ध है।

मुख्य रूप से तो भागवत के विषय में स्वरूप-उत्पत्ति और हेतु ये तीन प्रश्न है अन्य प्रश्न तो उसके जान लेने पर ही जान लिये जायेंगे। अतः तीन ही प्रश्न सिद्ध है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर द्वितीय स्कन्ध में होगा। यहां तो 'कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयम्' इसका तथा 'कुतः सञ्चोदित.' इनका उत्तर कहा जाता है। उसमें भी तीसरे का निरूपण अभी किया जायेगा प्रवृत्ति का प्रकरण आगे कहेंगे। इससे एक-एक उत्तर एक एक प्रकरण को ग्रहण करता है।

किसकी प्रेरणा से इसका उत्तर है नारदजी की प्रेरणा से उनने प्रेरणा क्यों की इसका निरूपण एक अध्याय से है। उसके अनन्तर युक्ति उसके बाद प्रेरणा हेतु रूप को उपोद्घात रूप से वर्णन करते हैं। इसलिये हेतु का भी विचार करना है। नारद के बोधन में कौनसा प्रसङ्ग है उसका क्या प्रयोजन है और नारद कौन है इन तीन का स्वरूप कहना चाहिये। शंका करते हैं कि भागवत

में इसका उपयोग परम्परा से होता है अतः यह प्रथमाधिकार ही क्यों नहीं है। उसका उत्तर देते हैं कि यह मध्यमाधिकार का उपोद्घात है।

इस तरह पांच कारिकाओं से मध्यम प्रकरण के उपोद्घात का समर्थन किया अब डेढ कारिक.ओं से अध्यायार्थों को कहते हुए मध्यम प्रकरण के प्रथमाध्याय को यह प्रेरणा का हेतु है इसका उपपादन करते हैं और नारदजा के कथन का प्रसङ्ग बताते हैं ।।६७-६८-६९-७०-७१।।

कारिका–**यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ।।७२।।**
कलौ फलं तदुक्ते किमित्यनिर्वृतिवर्णनम् ।
उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ।।७३।।

यह चतुर्थ अध्याय प्रश्नाध्याय है और यह मध्यम प्रकरण का अङ्ग है। प्रकरण के आदि में प्रश्न का होना अध्याय के अर्थ का बाधक नहीं है।

नारदजी के वचन से व्यासजी को पूर्ण विश्वास हो गया कि जो नारदजी ने कहा वह सब मैंने किया फल में तो विपरीतता हुई है। क्या कलियुग में जैसा नारदजी ने कहा उससे फल होता है इसलिये व्यासजी के असंतोष का वर्णन है। उत्तर और कृति ये पञ्चमाध्याय का अर्थ है। साधन सहित नारद का फल छठे अध्याय में हैं। ७२-७३।।

शंका करते हैं कि ऐसा होने पर मध्यम प्रकरण में श्रोता और वक्ता का कौनसा अधिकार सिद्ध हुआ ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं।

कारिका–**तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले ।**
सत्सङ्गो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ।।७४।।
उक्तस्यानुभवात्तत्वं वर्णितं नारदेन हि ।
'शब्दब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ।।७५।।
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।
श्रोतुः फलं नावतारादवतारफलं फलम् ।।७६।।
तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे ।

मध्यमाधिकार में भगवदीय होना फल हैं और उत्तमाधिकार में तत्व ज्ञान फल है। व्यासजी को जब असन्तोष हुआ तो भगवत्कृपारूप हेतु से व्यासजी में भगवदीयता हुई। व्यास भगवदीय थे यह दूसरे अध्याय में बताया है। उत्तम प्रकरण का फल तो तत्त्व है। शुकदेवजी भगवान् हैं और राजा परीक्षित् भी वैसे ही हो गये। भगवदीयता दो प्रकार की है। सर्वप्रथम जब भगवान् अपने लिये कुछ करते हैं तो वहां भगदीय के लिये साधन की अपेक्षा नहीं रहती। जब भगवान् अपने लिये नहीं करते हैं तो साधन के द्वारा भगवदीय होता है। वह भगवदीयता कैसे होती है उसके लिये नारदजी अपना वृतान्त क्रम से कहते हैं। नारदजी कहते है कि सर्वतः प्रथम तो मुझे साधन रूप में सत्संग प्राप्त हुआ उससे मुझे जीव के स्वरूप का और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान

हुआ । तदनन्तर भगवान् का अनुभव हुआ । अनुभव तो सिद्ध है इसके लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं है । अपने अनुभव में अनुभावनामात्र का अनुभव होना मिथ्या है । अपने में भगवदीयता सिद्ध होने पर जैसे नारदजी को पीछे अनुभव हुआ कि मैं नारद हूं । उसके लिए साधन आवश्यक है । कर्मों का समर्पण भगवान् में किया । समाधि में भगवान् का अनुभव हुआ फिर भगवान् के वचन से ही उनको ज्ञान हुआ इन्हीं सब का अनुभव पर्यन्त का नारदजी ने वर्णन किया ।

शंका होती है कि जब ऐसी बात है तो ज्ञान-विज्ञान के उपदेश में फल तो स्वत: ही हो जायगा फिर छठे अध्याय की क्या आवश्यकता है इस आशका पर कहते हैं कि जो शब्दब्रह्म (वेद) का ज्ञाता होते हुए भी जिसे परब्रह्म का ज्ञान नहीं है उसका श्रम निष्फल है । इसके लिये फलाध्याय का निरूपण है ।

शंका होती है कि व्यासजी तो भगवान् के ज्ञानांश के अवतार हैं तो उनमें तो भगवदीयता स्वतः ही है । तो फिर श्रवण से उनमें भगवदीयता कैसे है उसका उत्तर यह है कि व्यासजी में भगवदीयता तो अवतार मात्र से हो गई किन्तु श्रोता होने का फल तो उन्हें श्रवण के अनन्तर ही मिला । और अवतार का फल भी तभी हुआ ।

शंका करते हैं कि भगवदीयत्व की सिद्धि के लिये भागवत का निर्माण यहीं मध्यम प्रकरण में कहना चाहिये इसके लिये कहते हैं कि भागवत का निर्माण तो उत्तमाधिकारी के लिये है भगवदीयता होना तो उसका आनुषाङ्गिक (प्रासङ्गिक) फल है वह तो हो ही जायगा । इसलिये भागवत का निरूपण मध्यम प्रकरण में नहीं किया ।।७४-७५-७६।।

जब प्रासङ्गिक फल भगवदीयता की भी सिद्धि नहीं होगी तो फिर मध्यमता कैसे सिद्ध होगी उसके लिये कहते हैं—

कारिका—**प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा ।।७७।।**
रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम् ।
दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद् भयाभावाच्च संसृतेः ।।७८।।
फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम् ।

व्यासजी में अन्यासक्ति प्रतिबन्धिका थी नारदजी के कथन से उस प्रतिबन्ध की जब निवृत्ति हुई तब व्यासजी ने नारदजी का पूजनरूप साधन किया । और नारदजी ने पूजन किया साधुओं का । इस तरह व्यासजी में तो आग्रह का अभाव था और नारदजी में राग का अभाव था ।

इस तरह तीन बातों से व्यासजी एवं नारदजी में भगवदीयता थी । व्यासजी ने यह समझ लिया कि भगवान् जैसा चाहते हैं वैसा मैंने नहीं किया इसका खेद, दूसरा कार्य उन्होंने वक्ता (नारदजी) की पूजा की तीसरा आग्रह का परित्याग किया इन तीन से तो श्रोता (व्यासजी) में भगवदीयता हुई ।

और वक्ता नारदजी में तीन कारणों से भगवदीयता हुई वे तीन हैं-भगवदीयों के साथ मित्रता, साधुओं की पूजा और कुटुम्बजोमाता आदि में अनुराग का अभाव इनसे वक्ता नारद में

भगवदीयता सिद्ध हुई थी।

कृष्णवाक्य अर्थात् आकाशवाणी के द्वारा नारदजी को मध्यम फल हुआ। शंका हो सकती है कि नारदजी को जब पुनर्जन्म की सम्भावना थी तो उनमें निकृष्टता क्यों नहीं हुई मध्यमता क्यों हुई उसका उत्तर यह है कि उनमें संसारकृत दुःख का अभाव था तथा परतन्त्रता नहीं थी विषयादिक से भय भी नहीं था इसलिये उनमें नारदता (ज्ञानदेना) फल हुआ और सर्वदा भगवान् को स्फूर्ति होना यह अवान्तर फल भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥७७-७८॥

आशंका करते हैं कि मध्यमता की सिद्धि के लिये जैसे नारदजी ने साधन किये उस तरह व्यासजी के लिये साधन क्यों नहीं कहे इसके लिये कहते हैं–

कारिका–नात्मवत्करणं युक्तं बोधनं प्रीणनाद्धरेः ॥७९॥
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै।
सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्याश्च पूरणम् ॥८०॥

नारदजी को जैसे सन्यासियों ने ज्ञान दिया था उस तरह ज्ञान देने वाले की भी व्यासजी के लिये आवश्यकता न थी और न निर्लज्जतापूर्वक भगवन्नामोच्चारण नारदजी ने किया वैसा करने की, कारण कि व्यासजी के ऊपर तो भगवान् की स्वतः प्रीति थी प्रीति प्राप्ति के लिये साधनों की आवश्यकता नहीं थी।

शंका करते हैं कि जैसे सूतजी ने परम्परा से भागवत को प्राप्त करके शौनकजी से कहा था उसी तरह नारदजी ने ऐसा क्यों नहीं कहा कि मैंने ब्रह्माजी से भागवत पढ़ा है उसे मैं तुम्हें कहता हूं परम्परा नहीं बताने का कारण यह था कि लोक में परम्परा प्रचलित थी नहीं इसलिये नारदजी के कहने पर भी व्यासजी को विश्वास नहीं होता। इसलिये नारदजी ने कह दिया कि 'समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्' समाधि द्वारा भगवान् का अनुस्मरण करो। ऐसा सामान्य वचन नारदजी का इसलिये था कि समाधि में इन्हें मेरी बात सच्ची प्रतीत हो जायेगी। परम्परा कथन की आवश्यकता नहीं है। जब व्यासजी ने 'अहो देवर्षिर्धन्यः' ऐसी स्तुति की तो सब को समझ में आ गया कि नारदजी की बात इनके समझ में आ गई है इसी स्तुति से ही मध्यम प्रकरण की पूर्ति की ॥७९-८०॥

तृतीय प्रकरण में पहले शौनक के प्रश्न में प्रयोजन बताते हैं–

कारिका–उपोद्धातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः।
वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धिस्तु पूर्ववत् ॥८१॥
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः।
श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासाच्च रागिणः ॥८२॥
फलेसिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः।
अत एवैस्यविज्ञानादात्मज्ञापनसूचनम् ॥८३॥

इस तृतीय प्रकरण का द्वितीय प्रकरण हेतुभूत है। यह भागवत की उत्पत्ति का साधन है परन्तु वह साधन तभी हो सकता है जबकि नारदजी गये उसके अनन्तर ही वो भागवत को करते अन्यथा कालान्तर में करने पर पूर्वोक्त हेतु नहीं हो सकता। इसलिये यह उपोद्घात है उसके अर्थ का विचार रूप है अतः ग्रन्थ के स्वरूप मात्र की नियति के लिये पहले एक प्रश्न किया। तदनन्तर ग्रन्थ को उत्पत्ति के कहने पर वक्ता शुकदेवजी के विषय में दूसरा प्रश्न है वह प्रश्न तो पहले की तरह अनुवाद रूप है। यह आवश्यक है अतः उसका पुनः स्मरण कराया। मुक्ति रूप फल शुकदेवजी मे सिद्ध था इसलिये वे शुकदेवजी उत्तम वक्ता सिद्ध हुए। इस तरह प्रश्न का अभिप्राय कह कर उसके उत्तर में 'अस्यां वै श्रूपमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा' इसमें युक्ति का बाधन हो इसके लिये साधिका उपपत्ति (युक्ति) के लिये भागवत में भगवान् को माहात्म्य और निःसन्देहता के लिये सर्ववस्तुनिर्धार का कथन है। इसलिये भागवत के सुनने मात्र से ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न हो जाती है।

शंका करते हैं कि तब आजकल के लोगों में भागवत के सुनने पर भक्ति उत्पन्न क्यों नहीं होती ? उसका कारण है अविश्वास अतः भागवत में वर्णित बात पर पूर्ण विश्वास होगा तब ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न होगी अन्यथा नहीं। व्याससो के द्वारा कहे हुए भागवत से उत्पन्न होता हुआ भी बोध उसके रोकने वाले राग के कारण नही होता है। इसीलिये रागरहित जीवन्मुक्त श्रो शुकदेवजी को व्यासजी ने भागवत पढाया। 'शुकमध्यापयामास' अत्र भक्तिसहित भागवत ग्रन्थ के फल का निर्धारण करने के लिये सूत शौनक का संवाद है।

यद्यपि भागवत का फल मुक्ति है तथापि फल की अपेक्षा भी साधन भागवत हो फलरूप है, इसका अनुभव रागरहित को ही होता है अन्य को नही यह सूत के वचन से निर्धारित है। इस सब का तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्ति में हैं उनमें भी जिस तरह भक्ति हो उसके लिये भागवत का आरम्भ किया है। जो विषयी हैं वे तो विषय के उत्कर्ष में ही प्रवृत्त होते हैं। उत्तम विषय के लिये हीन विषय को छोड़ देते हैं। इसलिये भागवत को मोक्ष का साधन न बताकर मुक्ति की कल्पना को भी दूर करके मुक्त के लिये भी प्रवृत्ति बताते हैं। अतः व्यासजी ने भागवत को प्रवृत्तिपरक किया। जिससे लोग विषय के सौन्दर्य से हो इसमें प्रवृत होते हैं और ऐसी कृति को आत्मज्ञापन रूप सूचित किया है।

शंका होती है कि विषय के सौन्दर्य से लोग प्रवृत्त होंगे इसमें क्या प्रमाण है मूर्ख लोग उत्कृष्ट विषय में भी प्रवृत्त नहीं होते हैं इसका उत्तर देते हैं कि व्यासजी को कृति से ही आगे की बात का ज्ञान था उसे भी यहां सूचित किया। नारदजी के कथन का पालन तभी तो होगा। इस तरह नारदजी के वाक्य से सफल भागवत का प्रणयन व्यासजो ने किया यह अर्थ फलित हुआ ॥८१-८२ ८३॥

इस तरह सप्तम अध्याय के ग्यारह श्लोकों का अर्थ कहा अब आगे श्री शुकदेवजो ने परीक्षित् को भागवत सुनायी इस तरह भागवत के प्रचार को कहने के लिये परीक्षित् के जन्म आदि भी कहने चाहिये वह जन्म की कथा तो बारहवें अध्याय में कहेंगे उसके बीच में अश्वत्थामा को जीतना, कुन्ती की स्तुति, भीष्म-मुक्ति, भगवान् का निर्याण और द्वार का प्रवेश ये पांच अङ्ग कहे हैं। ये पांच अङ्ग श्रोता परीक्षित् के जन्म के अङ्ग कैसे हैं इस संदेह को दूर करने के लिये जो

किन्हीं ने कहा है उसी मत का कारिका में अनुवाद करके दूषित करते हैं-

कारिका—स्वपरप्रतिबन्धोन स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ।
इति वैराग्यदार्ढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रोणिजयादयः ।।८४।।
इति केचिदिह प्राहुः . . . .

अन्य निबन्धकारों का मत यह है कि परीक्षित् की उत्पत्ति तो बारहवें अध्याय में बताई है किन्तु उसके बीच में जो पञ्चाध्यायी है वह वैराग्य का अङ्ग है । स्व से युधिष्ठिर आदि और पर से भीष्म आदि थे यदि परीक्षित् ने जब प्रायोपवेश किया उस समय तक रहते तो राजा परीक्षित् को राज्य आदि प्राप्त होते ही नहीं अतः उसके वैराग्य का कोई महत्व सिद्ध नहीं होता । परन्तु भगवान् की कृपा से उसको स्फीतत्व स्वत्व और परत्व भी प्राप्त हो गया ऐसे समय में उसने राज्य का परित्याग किया इसलिए उसके वैराग्य की दृढता के लिए अश्वत्थामा का विजय आदि पांच अध्याय पहले कहे । किन्तु ऐसा कथन आचार्यचरण को अभिमत नहीं है अतः आप लिखते है-

कारिका—. . . . . . . नैतत्साधुतरं वचः ।
द्रोणिजये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ।।८५।।
न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्मोहकथापि वा ।
प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा ।।८६।।

इस तरह पञ्चाध्यायी को वैराग्य का अंग बताना ठीक नहीं है । अश्वत्थामा के विजय से वैराग्य का क्या सम्बन्ध है । राज्यदाता युधिष्ठिर भी वैराग्य ~~में प्रतिबन्धक नहीं है ।~~ भगवत्कथा का भी उसमें कोई उपयोग नहीं है । भगवान् की कृपा तो त्याग में प्रतिबन्धक है । कुन्तीस्तुति तथा मोहकथा भी वैराग्य में प्रतिबन्धक नहीं है अतः जन्माध्याय को छोड़कर सप्तम से लेकर पन्द्रह अध्याय तक की आठ अध्याय की कथा व्यर्थ हो जाएगी ।।८५-८६।।

इस तरह परमत को दूषित कर स्वमत में इन अध्यायों की पूर्वोत्तराङ्गता है इस अभिप्राय से कहते हैं-

कारिका—पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः ।
सर्वत्यागे सतां सङ्गे विश्वासः सर्वथा भवेत् ।।८७।।
इति तस्याधिकारित्वसिद्धयै पाण्डववर्णनम् ।
अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम् ।।८८।।

सात से लेकर ग्यारह तक के पांच अध्याय पञ्चाग्निन्याय से परीक्षित् की उत्पत्ति में शुद्धि के कारण भूत है । उत्पन्न होने पर उसकी मुक्ति में किसी तरह की रूकावट न हो इसके लिए अध्याय है । एक अध्याय तो पिता की मुक्ति को बताता है । क्योंकि जब तक पिता की मुक्ति नहीं होती तब तक पुत्र की मुक्ति नहीं हो सकती । उसके अनन्तर दो अध्याय परीक्षित् की मुक्ति में काल बाधक नहीं है इसको बताने वाले है । तदनन्तर अद्भुतकर्मा भगवान् ब्राह्मणपुत्र के द्वारा

शाप दिलाने की कृपा और उसके अनन्तर श्रोतापन इस तरह तीन पुरुष (पीढी) की शुद्धि के लिए अध्याय हैं। इन पांच अध्यायों से तीन पुरुष (पोढो) की शुद्धि होती है उसे बहुत शीघ्र ही कहेंगे। जन्माध्याय (बारहवां) का अर्थ है जन्म समय में स्वत: तथा काल के द्वारा भगवान की कृपा। आगे के पांच अध्यायों में सर्वत्याग की सिद्धि होना अर्थ है। तदनन्तर दो अध्यायों के द्वारा सत्सङ्ग का वर्णन, तब भागवत में विश्वास, भागवत श्रवण का अङ्ग विश्वास ही है।

विश्वास के तीन अङ्ग है १ सज्जनों का सङ्ग, २ सर्वत्याग ३ परमशुद्धि। शुद्धि में छः अङ्ग है। उनमें मुख्य तो भगवान की कृपा। शरीर का कारण है बीज (रज: शुक्र) उसकी अशुद्धि पांच प्रकार से होती है १ दुष्ट परम्परा से वह दुष्ट परम्परा पुरुष के द्वारा अथवा स्त्री के द्वारा दो ये हुए। इसके लिये सातवें अध्याय में अर्जुन के ऊपर परम कृपा का निरूपण है। आठवें अध्याय में कुन्ती पर भगवत्कृपा। इसके अनन्तर पोषण करने वाले के अन्न की शुद्धि के लिए भीष्मजो का उपदेश। जीव को सत्ता में अन्नदोष अवश्य आता है। इसलिए ज्ञानियों की ही शुद्धि होतो है। भीष्मजी की मुक्ति से ज्ञान की शुद्धि है यह तीसरा अङ्ग है। बीज सम्बन्धी सभी साधारण भगवत्परक थे यह चौथी शुद्धि है। वह शुद्धि भगवान् के निर्गम (स्वधाम पधारने पर) होती है अत: उसे कहा। भगवान् के निर्गम (स्वधाम पधारने पर) विरहात्मताप होता है उस ताप से शुद्धि होती है अथवा निर्गम के कारण अत्यन्त भक्ति का प्रादुर्भाव होता है उससे शुद्धि होती है। तदनन्तर आगन्तुक दोषों के अभाव के लिए भगवान् के कार्य की समाप्ति का वर्णन है। इसलिए आचार्य चरण कहते है कि हमारे मत में श्रोता का अधिकार तेरह अध्यायों से सम्पन्न होता है अन्यों के मत में नहीं। इसीलिए शौनकजो के नहीं पूछने पर भी 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृश्णकथोदयम' ऐसी सूत की प्रतिज्ञा उचित होती है। 'च' से उन पर भगवत्कृपा का ग्रहण है शुद्धि ही भगवान् की कथा के उदय में कारण है इस बात को बताने के लिए 'कृष्ण कथोदयम्' ऐसा कहा। इसलिए मूल में ही यह अर्थ सूचित कर दिया था अत: हमारे (आचार्य चरणों के) मत में कोई दूषण नहीं है ।।८७-८८।

शंका होती है कि ऐसा क्या आग्रह है कि परीक्षित् को ही श्रोता बता रहे हैं। जो स्वत: शुद्ध सनकादि विद्यमान है उनको तो कोई चर्चा ही नहीं है इस पर कहते हैं—

कारिका—विद्यमाने समुद्धारस्तत्रत्यानां स्वयं कृतः।
स्वाभावे तु कथैव स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ।।८९।।
ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम्।
तद्वंशे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि ।।९०।।

यहां केवल अधिकारमात्र का निरूपण करना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु भागवत से ही सब का उद्धार होता है इसका प्रतिपादन करना भी प्रयोजन है। अतः सनकादिकों को श्रोता न बताकर राजा परीक्षित को श्रोता बताया है। अवतार रूप से भूमण्डल पर जब तक भगवान् कृष्ण रहे तब तक उनने अपने रूप से ही सबों का उद्धार किया सबको मुक्त किया तदनन्तर मुक्त करने वाला एक भागवत ही है और कोई उपाय नहीं है। इसको बताने के लिए भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर ही परीक्षित् उत्पन्न हुआ था। और वह भागवत से ही मुक्त हुआ था ऐसा

निरूपण है तो फिर शुद्धि को ही कहना चाहिए पाण्डवों का और भगवान् का वर्णन क्यों किया इसका उत्तर यह है पाण्डवों के एहिक सब काम भगवान् की कृपा से ही हुए। उन्हीं के वंश में राजा परीक्षित् जन्मे थे इसलिए उनकी श्रद्धा भागवत में हुई ॥८९-९०॥

जब ऐसा है तो सम्पूर्ण भागवत को भगवत्परक रूप से ही कहना चाहिए इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते ।
तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ॥९१॥
अनन्यशरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः ।
पुत्रमारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ॥९२॥

यद्यपि अश्वत्थामा को जीतने में पाण्डवों के सामर्थ्य की प्रतीति होती है किन्तु वस्तुतः उस विजय में भगवान् कृष्ण का प्रभाव ही है भगवान् कृष्ण के अनुभाव से हो पाण्डव की विजय है। अतः सौषुप्तिक कथा से लेकर स्वर्गारोहण पर्यन्त की महाभारत की कथा कृष्णपरक ही वर्णित है।

पाण्डवों की कथा के वर्णन का अभिप्राय तो यह है कि पाण्डवों के रक्षक केवल भगवान् कृष्ण ही थे उन पाण्डवों में अपनी रक्षा का सामर्थ्य नहीं था इसका वर्णन पुत्र के मारण से आरंभ कर मुक्तिपर्यन्त से स्पष्ट किया है ॥९१-९२॥

शंका होती है कि पाण्डवों के लिए मोक्ष का उपयोग कहां होगा इस पर कहते हैं—

कारिका—तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेतत्कचित् ।
पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णबान्धवात् ॥९३॥
चन्द्रांशत्वाद्देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते ।

जो मुक्त नहीं होते हैं उनके लिए भोग आवश्यक है। तो फिर अभिमन्यु मुक्त नहीं हुआ था अतः उससे मुक्ति में प्रतिबन्ध होगा इस आशंका का उत्तर देते हैं कि अभिमन्यु पिता के सामने युद्ध में मरा था युद्ध में सामने मरने पर उसकी मुक्ति होती है ऐसा स्मृति में कहा है 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' और दूसरी बात यह थी कि वह भगवान् कृष्ण का कुटुम्बी मानता था तो उसकी मुक्ति क्यों न हो। उस अभिमन्यु में चन्द्रवंश में उत्पन्न होने से एक अंश चन्द्र का था अतः वह तो पीछा देवभाव को प्राप्त हो गया। वह आध्यात्मिक रूप था और भगवत्सम्बन्धी होने से आधिदैविकरूप था। इस तरह आधिभौतिक-आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों ही उस अभिमन्यु की मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं हुए ॥९३-९३½॥

अब यहां से आगे अध्यायार्थों के विभाग के लिए सातवें-आठवें और नवमे अध्याय के अर्थ का निरूदण डेढ कारिका से करते हैं।

कारिका—पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ॥९४॥
अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विधा ज्ञानं द्विधा पुनः ।
ब्रह्मजीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ॥९५॥

पाण्डवों को दो प्रकार से दुःख हुआ, शरीर के द्वारा और पुत्र के द्वारा । उसमें भिन्न जो पुत्रादि दुःख है वह तो एक प्रकार का है और अभिन्न दुःख दो प्रकार का हैं एक तो अज्ञान के कारण और दूसरा शत्रु के कारण से । अज्ञान भी दो प्रकार का हैं एक तो जीव विषयक और दूसरा ब्रह्मविषयक इस तरह अभिन्न के तीन प्रकार होते हैं । भिन्न दुःख भी अभिन्न दुःख के चले जाने पर चला जाता हैं ॥९४-९५॥

कारिका—अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् ।
दुःखहानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ॥९६॥
दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा ।
अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवारिका ॥९७॥

पाण्डवों के दुःख को दूर करने के लिए ये सप्तम-अस्ठम-नवम तीन अध्याय हैं । उसमें प्रथम (सप्तम) अध्याय का अर्थ है स्वेष्टपूर्ति दुःख की हानि भगवान् हरि से ही होती हैं अतएव भगवान् की स्तुति हैं । शत्रु को जीत लेने पर पर के द्वारा होने वाला दुःख दूर हो जाता है । भगवान् ही इष्ट की पूर्ति कर सकते हैं अतः भगवान् की स्तुति है । सब दुःखों के दूर करने में भगवान् ही कारण है अतः उनकी स्तुति है । इसलिये तीनों ही अध्यायों में भगवान् की स्तुति कही । तदर्थं का अर्थ है सर्वत्र अर्थात् दुःख में, सुख में तथा मुक्ति में सर्वत्र भगवान् की स्तुति है । दुःख जब आया तो अर्जुन ने स्तुति की और इष्टसिद्धि होने पर कुन्ती ने स्तुति की और मुक्ति के लिये भीष्मजी ने स्तुति की । अतः दूसरे (आठवें) अध्याय में ब्रह्मविषवक अज्ञान की निवृत्ति कही । जीव विषयक अज्ञान की निवृत्ति तो तीसरे (नवमें) अध्याय का अर्थ है । इसलिए अन्त में मुक्ति कही । शंका होती है कि जब अर्जुन आदि भगवदीय थे तो उनके दुःख की निवृत्ति तो भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से करते ही फिर स्तुति की आवश्यकता क्या है । इसके लिये कहते हैं 'अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता' ये स्तुति तो उनके अधिकार की सिद्धि के लिये है स्तुति के द्वारा ही उन उनकी आसक्ति हटती है । आधिदैविक प्रेरण की निवृत्ति भगवान् करते हैं इसके लिये स्तुति है॥९६-९७॥

जब युधिष्ठिर विद्यमान हैं तो अर्जुन ने पहले स्तुति क्यों की इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकटयतो वरा ।
सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः ॥९८॥
सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा ।
सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः ॥९९॥
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका ।

ऐसा न होता तो संसार के अनर्थ रूप होने से भगवान् सबके भजनीय नहीं होते।

शंका करते हैं कि भगवान् को भगवदीय को दोष से रोकना चाहिये सो उसे क्यों नहीं रोका? इस आशंका का समाधान यह है कि भगवान् रक्षा करने में समर्थ हैं अतः यदि अनर्थ हो भी गया तो भगवान् बचा लेंगे। इसलिये रोका नहीं। अनर्थ में प्रेम सिद्ध होता है तथापि अर्जुन ऐसा क्यों बोला कि मैं अश्वत्थामा को मारूंगा। अश्वत्थामा दैत्यांश था अतएव उसके लिये अर्जुन ने ऐसा कहा अथवा भगवान् ने जो यह कहा कि इस अश्वत्थामा को मार डालो ऐसा वचन अश्वत्थामा के दैत्यांश होने के कारण था। अश्वत्थामा के मारने में वेद विरोध नहीं है इसलिये भीम का भी उसके वध के लिये है उद्यम था इसका निरूपण है भीम आपन्य प्राण का अवतार होने से वेदात्मा है अतः प्रमाण रूप भीम के और प्रमेयरूप भगवान् के अभिप्राय को न करने से व्यसन (आपत्ति) हुआ। युद्धशास्त्र को जानने के कारण अर्जुन लौकिक था और स्त्री होने से द्रौपदी लौकिक थी इसलिए लोक से तथा वेद से भी अश्वात्थामा का मरण नहीं हुआ वेद में लिखा है 'तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्' इसलिये अर्जुन ने और द्रौपदी ने अश्वत्थामा को मुक्त कर दिया। यद्यपि अर्जुन ने तो वेद का ज्ञान होने से उसे छोड़ा परन्तु द्रौपदी ने उसे कैसे छोड़ दिया? द्रौपदी संहार शक्ति थी अतः वह जानती थी कि दैत्य संहार शक्ति के अनुगुण है। इसलिये द्रौपदी ने उसे मुक्त कर दिया। भगवान् तो सर्वात्मा है अतः वे तो सबके लिये समान हैं। भगवान् जानते हैं कि भले ही अश्वत्थामा मुक्त हो जाय भक्त (परीक्षित्) की रक्षा तो मैं और प्रकार से भी कर सकता हूँ करूंगा। यह सप्तमाध्याय का अर्थ उचित हा है। अश्वत्थामा के सिर को मूंड देना चाहिये ऐसी भगवान् की इच्छा का ज्ञान अर्जुन को आवेशावतार होने से हो गया। इसलिये पूर्व से विरोध नहीं हुआ। यह सब कार्य भगवान् ने ही अर्जुन में आविष्ट होकर किया। अन्यथा द्रौपदी तो संहार शक्ति थी वह भीम आदि का भी संहार कर देती। ऐसा उपाख्यान भी कहीं रत्नयक्षोपाख्यान में प्रसिद्ध है। जब द्रौपदी का क्रोधावेश चला गया तब वह विलाप करने लगी चला गया तब वह विलाप करने लगी जैसे मैं अपने पुत्रों के लिये विलाप कर रही हूं वैसे ही पति हो जिसके देवता है ऐसी गौतमी अश्वत्थामा की मां विलाप न करे॥१००-१०१-१०२-१०३-१०४॥

भगवान् ने अश्वात्थामा की ये ऐसी बुद्धि क्यों उत्पन्न की इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—**पुनरस्त्रसमुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः।**

पहले ब्रह्मास्त्र का वारण कर दिया था इससे अभिमान हो गया था इसलिये अभिमान को दूर करने के लिये फिर ब्रह्मास्त्र चलाया।

पुनः ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसका समाधान भी पूर्ववत् हो जायगा उस पर कहते हैं—

कारिका—**अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम्॥१०५॥**
अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि।
शास्त्राद्दैवात्तपोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत्॥१०६॥
सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः।

अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः ॥१०७॥

ब्रह्मास्त्र दो प्रकार का माना गया है एक अनिवर्त्य जिसे लौटाया न जा सके और दूसरा निवर्त्य जो लौटाया जा सके । अनिवर्त्य ब्रह्मास्त्र को तो चलाया नहीं जाता यहां तक कि मरण उपस्थित हो तब भी नहीं चलाते ।

इन दोनों ब्रह्मास्त्र की सिद्धि शास्त्र से और देवता से होती है इसलिए इनका तेज महान् होता है । जब अश्वत्थामा के पास कोई उपाय न रहा और मृत्यु को घड़ी हो आ पहुँची तब गुरुपुत्र अश्वात्थामा ने पिता की अत्यन्त उपासना से प्राप्त ब्रह्मास्त्र को चलाया ।१०५-१०६-१०७।

जिस तरह गर्व का निवारण किया उसी तरह गर्व का कारण जो वंश है उसका विनाश क्यों नहीं किया इस पर कहते हैं-

कारिका—उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत् ।
शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ॥१०८॥
उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा ।
कृष्णाद्दूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ॥१०९॥
परीक्षिज्ज्ञानसिद्धयर्थं बहुकालस्थितिर्हरेः ।
अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकाराथनं तथा ॥११०॥
आसक्तिगर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः ।
प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः ॥१११॥

उत्तरा भगवान् कृष्ण की परम भक्त थी वह सबसे श्रेष्ठ थी भक्त होने के कारण उसमें भौतिक उत्कर्ष था और वह रोहिणी का अंशरूप थी इससे उसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष था तथा हरि की सुहृद् होने से आधिदैविक उत्कर्ष भी था । इस तरह उत्तरा में तीन प्रकार का उत्कर्ष होने से उसका प्रिय करने के लिये भगवान् ने उसके गर्भ की रक्षा की । भक्त होने से वह भगवान् के शरण गई और देवता रूप होने से उसने स्तुति की तथा भगवदीय होने से सर्वप्रथम उसको ब्रह्मास्त्र का दर्शन हुआ । उत्तरा भक्त थी इसको बताने के लिये भगवान् ने उसके उदर में प्रवेश कर गर्भ की रक्षा की ।

यदि यह शंका हो कि उत्तरा भगवान् की भक्त थी तो ब्रह्मास्त्र का उसके उदर में प्रवेश ही कैसे हुआ ? उसके लिये कहते हैं कि 'कृष्णाद्दूरत्यतः' भगवान् कृष्ण के दूर होने से उस ब्रह्मास्त्र ने उत्तरा के उदर में प्रवेश किया तथा जब तक वह ब्रह्मास्त्र गर्भ में प्रविष्ट न हो तब तक रक्षा कैसे हो इसलिये जब वह गर्भ में प्रविष्ट हो गया तभी गर्भ की रक्षा हुई । भगवान् गर्भ में बहुत समय तक तो परीक्षित् को अपना ज्ञान कराने के लिये रहे थे ।

भागवत के मूल में तो यह कहा है कि सुदर्शन और माया के द्वारा गर्भ की रक्षा की ब्रह्मास्त्र के नित्य होने से उसके लय का निरूपण नहीं है 'वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह' इसमें

तो क्रूरता धर्म की निवृत्ति बतायी है धर्मी की निवृत्ति नहीं कहीं। 'अस्त्र तेज: स्वगदया' इसका भी पूर्व के अनुरोध से शमन ही अर्थ करना चाहिए। तब धर्मी अस्त्र का लय किसमें हुआ इस पर कहते हैं 'अन्य तेजो लय:' अन्य ब्रह्मास्त्र के दुर्बल होने से उसका लय भगवान् में ही हो गया। क्योंकि वहीं से वह उत्पन्न हुआ था अत: उसी में लीन हो गया। इसलिये तो उसका कोई प्रकार नहीं बताया। इससे यह सूचित होता है कि जहां जहां विशेष कथन नहीं हो वहां वहां उसका लय कारण में ही समझना।

शंका होती है कि भगवान् के निर्गमन में स्तुति क्यों नहीं की पीछे स्तुति में प्रवृति क्यों हुई ? उसका उत्तर यह है कि पहले अभिमान विद्यमान था इसलिये आसक्ति नहीं हुई। जिसको आसक्ति होती है वही उसका भजन करता है। भजन के लिए ही सर्वसन्देहवारिका स्तुति है।

यदि आसक्ति हो भी गई परन्तु ज्ञान और साधन का अभाव होने से स्तुति कैसे होगी ? भगवान् में आसक्ति होने पर प्रतिभा उसमें उत्पन्न हो गई जिससे स्तुति की दूसरा हेतु भी हो गया भगवान् ने पहले उनकी रक्षा नहीं की थी इसलिये अन्त:करण में भासमान होते हुए भी अनन्तगुणपूर्ण है। अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इस न्याय से अन्तर की संभावना से नहीं जाना। इस समय तो विशेष रक्षा यश से अन्तरनिवृत्त हो गया इसलिये भगवत्कृति के कारण से भगवान् कृष्ण को विशेष रूप से जाना। १०८-१०९-११०-१११॥

शंका करते हैं कि जब ऐसा है तो युधिष्ठिर को पीछे मोह नहीं होना चाहिये। इस पर कहते हैं-

कारिका-**सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदित: ।**
तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम् ॥११२॥

प्रतिभात या दर्शन के द्वारा होने वाला ज्ञान मोह का निवारण नहीं करता। शब्द से और दोष के श्रवण से मोह की उत्पत्ति होती है। शास्त्र से प्रतिपन्न भ्रम से उसको मोह होता है वह शास्त्र प्रकार से ही निवृत्ति के योग्य है। अत: जब तक भीष्मजी युधिष्ठिर को नहीं समझायेंगे तब तक मोह की स्थिति रहेगी। इससे यह भीष्माध्याय जीव के स्वरूप ज्ञान के लिए हैं इस नवमाध्याय में वाक्य विभाग इस तरह है चौबीस श्लोकों से भीष्मजी के निकट जाने का वर्णन है और भीष्म के वाक्यों का वर्णन है। सात श्लोकों से वहां के वृत्तान्त का वर्णन है। ग्यारह श्लोकों से भीष्मजी की स्तुति है और तीन श्लोकों से मुक्ति तथा चार श्लोकों से उनके उत्तर वृत्तान्त का वर्णन है ॥११२॥

ऐसा होने पर भीष्मस्तुति असङ्गत है इस आशंका पर कहते हैं-

कारिका-**उक्त: स्वाचारतो दार्ढ्यज्ञापनायां तत: स्तुति: ।**
मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका ॥११३॥

भीष्मजी ने जो पहले तत्व का उपदेश दिया था अर्थात जीव की कृतार्थता भगवद्भजन से ही है उसी को अपने आचार से दृढ करते हैं इसके लिए स्तुति है। साधन और फल इन्हें प्रत्यक्ष दिखाते हैं। स्तुति से साधन के सन्देह को दूर किया और फल के विषय में जो सन्देह है उसे अपनी मुक्ति के द्वारा निवारण किया ॥११३॥

इस तरह तीन अध्यायों का उपपादन करके अब उसका उपसंहार करते हैं-

कारिका-**दु:खहानिस्त्रिभि: प्रोक्ता**

इस तरह तीन सप्तम-अष्टम-नवम् अध्यायों से दु:ख हानि का निरूपण किया।

पाण्डवों में नरांश के कारण अर्जुन मुख्य था । और पृथा कुन्ती भगवान् के पिता की बहिन होने से भगवत्सम्बन्ध के कारण उत्कृष्ट थी । भीष्मजी सबमें बड़े थे इसलिए उनमें लौकिक उत्कर्ष था । इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ तो अर्जुन हैं द्वितीय कुन्ती और तृतीय भीष्मजी हैं। स्तुति पाक्षिक नहीं है वह तो आवश्यक है । यदि शंका हो कि भगवदीयों में भगवान् की स्तुति से विशेषता क्या होगी इसका उत्तर देते हैं कि स्तुति से भगवान् अति आसक्ति से रक्षा करते हैं बिना स्तुति के रक्षा तो करते हो हैं किन्तु आसक्ति की निवृत्ति नहीं करते । यदि भगवान् ऐसा करते हैं तो फिर सामान्य व्यक्ति में और भगवान् में विशेषता क्या है ? इस आशंका का उत्तर यह है कि आसक्ति से उनकी रक्षा करने से भजन में उत्साह बढता है । जिससे अन्य लोगों में भी भजन की सिद्धि होती है ।९८ ९९।।

द्रौपदी भगवान् की भक्त थी तो पुत्रों के मरने पर वह रोयी क्यों ? इस आशंका पर कहते हैं–

कारिका–सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ।।१००।।
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम् ।
भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ।।१०१।।
समर्थत्वात् प्रेमसिद्धयै दैत्यांशत्वात्तथा वचः ।
भीष्मस्यासन्यावतारात् सहजद्वेषभावतः ।।१०२।।
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः ।
उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ।।१०३।।
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशितवान्न चान्यथा ।
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्तमारणात् ।।१०४।।

द्रौपदी यद्यपि भगवद् भक्त थी परन्तु पुत्रों के मरने पर उसे रोना इसलिये आया कि ये मेरे पुत्र युद्ध किये बिना ही ब्रह्मण के द्वारा मारे गये हैं इसलिये ये नरक में जाएंगे 'ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवम्' जो ब्राह्मण के हाथ से मरता है वह निश्चित रूप से नरकगामी होता है उस पर भी यदि बिना युद्ध के मरता है वह तो निश्चित ही नारकी होता है । कर्मफल का अतिक्रमण तो भगवान् की अतिकृपा हो तो हो सकता है इसलिये भगवान् की कृपा को उत्पन्न करने के लिये द्रौपदी रोयी । अर्जुन का द्रौपदी के लिये सान्त्वना देना भी अनुचित है इसका उत्तर यह है कि द्रौपदी उसकी प्रिया थी इसलिए वह सान्त्वना झूठी थी क्योंकि कहा है 'स्त्रीषु नर्मः विवाहे च नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' स्त्रियों के सामने असत्य बोलना निन्दित नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को इसलिये नहीं रोका कि भगवान् भक्तों का प्रिय करते हैं अर्थात् भगवान् यदि अर्जुन को रोक देते कि तुम्हें अश्वत्थामा को मारने के लिये नहीं जाना चाहिये तो द्रौपदी का शोक शांत न होता और अर्जुन को भी अच्छा न लगता इसलिए नहीं रोका । इससे यह बात सूचित होती है कि भगवान् के भक्तों को शास्त्र के द्वारा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान करके कर्त्तव्य करना चाहिये । इसीलिये ब्राह्मण के वध में दोष जानते हुए भी भगवान् ने अर्जुन को नहीं रोका । यदि

प्रथम स्कन्ध

विनय

राग बिलावल

मंगलाचरण

चरन-कमल बंदौ हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ ।।१।।

राग कान्हरौ

सगुणोपासना

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातै सूर सगुन-पद गावै ।२।।

राग मारू

भक्त वत्सलता

बासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत-पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
भृगु कौ चरन राखि उर ऊपर, बोले बचन सकल-सुखदाई ।
सिव बिरंचि मारन कौं धाए, यह गति काहू देव न पाई।
बिनु बदलैं उपकार करते हैं, स्वारथ बिना करत मित्राई।
रावन अरि कौ अनुज बिभीषन, ताकौं मिले भरत की नाई।
बका कपट करि मारन आई, सो हरि जू बैकुंठ पठाई।
बिनु दीन्हैं ही देत सूर-प्रभु, ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं ।।३।।

करनी करुना-सिंधु की, मुख कहत न आवै।
कपट हेत परसैं बकी, जननी-गति पावै।
बेद-उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै।
उग्रसेन की आपदा सुनि सुनि बिलखावै।
कंस मारि, राजा करै, आपहु सिर नावै।
जरासंध बंदी कटै नृप-कुल जस गावै।
अस्मय-तन गौतम-तिया कौ साप नसावै।
लच्छा-गृह तैं काढ़ि कैं पांडव गृह ल्यावै।
जैसैं गैया बच्छ कैं सुमिरत उठि धावै।
बरुन-पास तैं ब्रजपतिहिं छन माँहि छुड़ावै।
दुखित गयंदहिं जानि कै आपुन उठि धावै।
कलि मैं नामा प्रगट ताकि छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै ।।४।।

राग मारू

ऐसो को करी अरु भक्त काजैं।
जैसी जगदीस जिय धरी लाजैं ।।

हिरनकस्यप बढ़्यो उदय अरु अस्त लौं, हठी प्रहलाद चित्त चरन लायौ।
भीर के परे तैं धीर सबहिनि तजो, खंभ तैं प्रगट ह्वै जन छुड़ायौ।
ग्रस्यौ गज ग्राह लै चल्यौ पाताल कौं, काल कैं त्रास मुख नाम आयौ।
छाँड़ि सुखधाम अरु गरुड़ तजि साँवरौ पवन के गवन तैं अधिक धायौ।
कोपि कोरव गहे केस जब सभा मैं, पांडु की बधू जस नँकु गायौ।
लाज के साज मैं हुती ज्यौं द्रौपदी, बढ़्यौ तन-चीर नहिं अंत पायौ।
रोर कै जोर तैं सोर धरनी कियौ, चल्यौ द्विज द्वारिका-द्वार ठाढ़ौ।
जोरि अंजलि मिले, छोरि तंदुल लए, इद्र के बिभव तैं अधिक बाढ़ौ।
सक्र कौ दान-बलि मान ग्वारनि लियौ, गह्यौ गिरि पानि, जस जगत छायौ
यहै जिय जानिकैं अघ भव त्रास तैं, सूर कामी-कुटिल सरन आयौ ।।५।।

राग रामकली

का न कियौ जन-हित जदुराई।
प्रथम कह्यौ जो बचन दयारत, तिहिं बस गोकुल गाइ चराई।
भक्त बछल बपु धरि, नर के हरि, दनुज दह्यौ, उर दरि, सुरसाँईं।
बलि भल देखि, अदिति-सुत-कारन, त्रिपद ब्याज तिहुँपुर फिरि आई।
एहि थर बनी क्रीड़ा गज मोचन और अनंत कथा स्रुति गाई।
सूर दीन प्रभु-प्रगट-बिरद सुनि अजहुँ दयाल पतत सिर नाई ।।६।।

राग रामकली

जहाँ जहाँ सुमिरे हरि जिहिँ बिधि, तहँ तैसैं उठि धाए (हो)।
दीन-बंधु हरि, भक्त-कृपानिधि, वेद-पुराननि गाए (हो)।
सुत कुबेर के मत्त-मगन भए, बिषै-रस नैननि छाए (हो)।
मुनि सराप तैं भए जमलतरु, तिन्ह हित आपु बँधाए (हो)।
पट कुचैल, दुरबल द्विज देखत, ताके तंदुल खाए (हो)।
संपदि दै वाकी पतिनी कौं मन-अभिलाष पुराए (हो)।
जब गज गह्यौ ग्राह जल-भीतर, तब हरि कौं उर ध्याए (हो)।
गरुड़ छाँड़ि, आतुर ह्वै धाए, सो ततकाल छुड़ाए (हो)।
कलानिधान, सकल-गुन-सागर, गुरु धौं कहा पढाए (हो)।
तिहिं उपकार मृतक सुत जाँचे, सो जमपुर तैं ल्याए (हो)।
तुम मोसे अपराधी माधव, केतिक स्वर्ग पठाए (हो)।
सूरदास-प्रभु भक्त-बछल तुम, पावन-नाम कहाए (हो) ।।७।।

—सूरसागर से

* श्री सुबोधिनी *

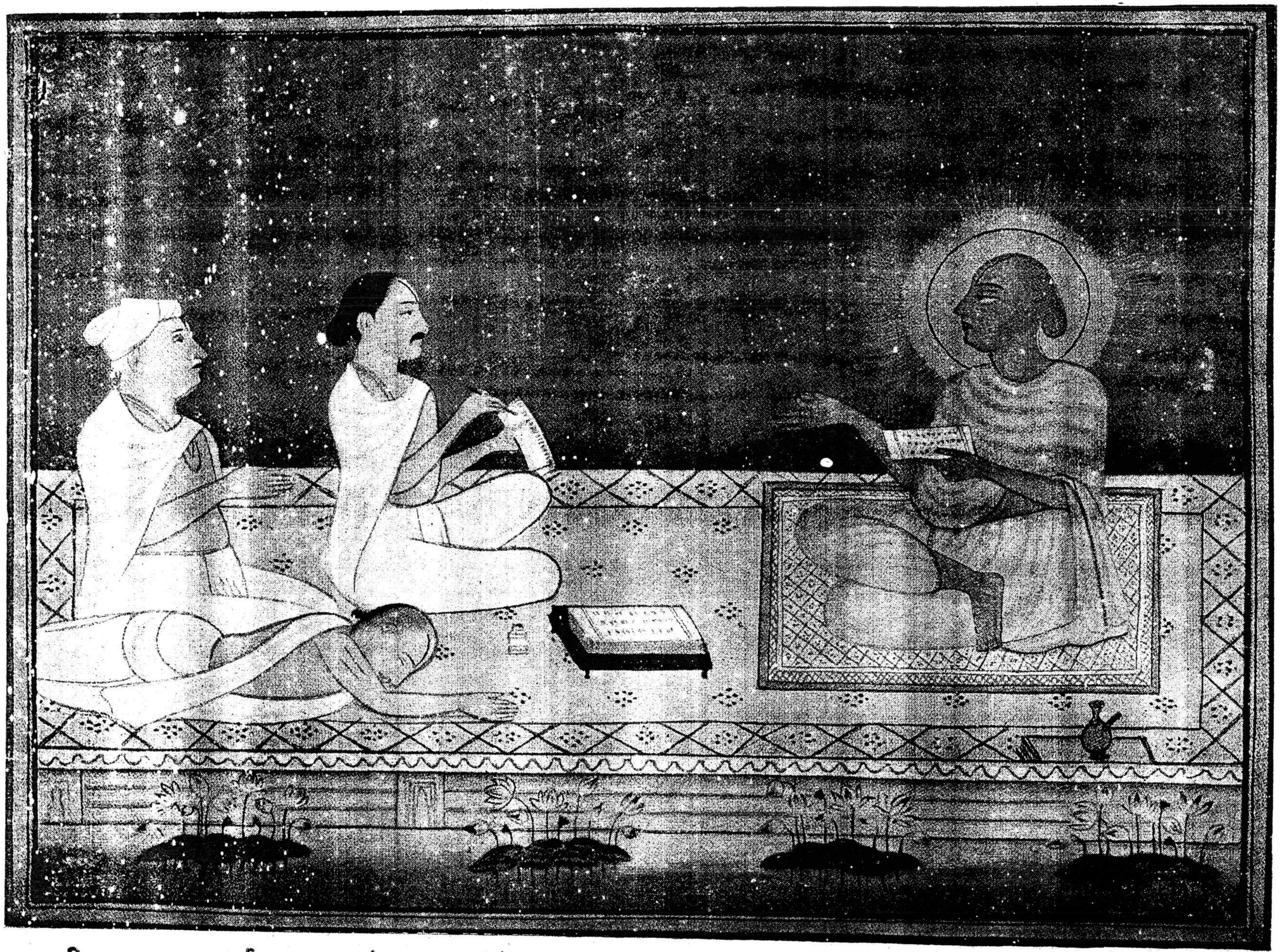

प० भ०
श्री माधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ०
श्री कृष्णदासजी
मेघन

प० भ०
श्री दामोदरदासजी
हरसानी

अखण्ड भूमण्डला
चक्र चूडाम

श्री मद्वल्लभाचार्य
(श्री महाप्र

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ. श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं ।

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

जगद्-गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण विरचित
श्रीमद् भागवत श्रीसुबोधिनी की
हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या

प्रथम स्कन्ध – अधिकारलीला

[प्रथम हीनाधिकार – अध्याय १ से ३]

❀ प्रथम अध्याय ❀

(श्री सुबोधिनी – मंगलाचरण)

वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यम्
लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारः ।
यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रम्
शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः ॥१॥

हिन्दी अनुवाद
मंगलाचरण

दुस्तारे भवकूपारे पारे नयति यत्कृपा ।
विभुं वैश्वानरं वन्दे वल्लभं कृष्णवल्लभम् ॥

अनुवादः— मैं प्रभु श्रीकृष्ण देव को वंदन करता हूं, जो विघ्नरूप दोषात्मक मुर तथा नरक असुरों के संहारक हैं तथा जिनका स्वरूप वेद तथा उपनिषदों द्वारा ही जाना जा सकता है। जिसका अन्त ही नहीं, ऐसे अपार श्री हरिप्रभु, लोक में भक्ति को प्रसिद्ध करने के लिये यदुकुलरूपी महासमुद्र में प्रकट हुये, जिनका आनन्दमय स्वरूप ही त्रिभुवन का उद्धार करने के लिये प्रादुर्भूत हुआ है, तथा जो प्रभु भक्ति की तरह ही अपने आनन्दमय स्वरूप से (मोक्ष देने के लिये) स्वकीय स्वतंत्र शास्त्रात्मक-स्वरूप को भी लोक में प्रकट करते हैं, वही श्रीकृष्ण प्रभु, हमारी भागवत की व्याख्यारूप वैभव के उत्कर्ष में कारणरूप बनें अर्थात् भागवत के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति में श्रीकृष्ण प्रभु ही प्रेरक बनें ।१।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ. श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

व्याख्या:— श्रीभागवत के ऊपर व्याख्या करने की इच्छा से श्रीमद्वल्लभाचार्य अभीष्ट प्राप्ति के लिये श्रीभागवत प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं। 'वन्दे श्रीकृष्णदेवं' यहां 'कृष्ण' पद से 'पर' पदार्थ का निर्देश किया गया है- 'श्री' पद से ब्रह्मानंद रूपा 'चित्' शक्ति और 'देवी' रूपा माया इस शक्ति द्वय का तथा कृष्ण पद से कृष्णावतार रूप का भी ग्रहण किया गया है। 'देवम् पद' से दश–विध लीलायुक्त'–स्वरूप समझना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो 'परपुरुष', ब्रह्मानंदरूपा चित् शक्ति तथा देवीरूपा माया शक्ति से, अर्थात् द्विविध लक्ष्मी से, व्यूह-चतुष्टय से (वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न इन चतुर्व्यूहों से) तथा अनेक अवतारों से क्रीड़ा करता है, उसी का भजन करना चाहिये। भागवत का यही अर्थ है और 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्–इत्यादि उद्धरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

साक्षात् नारायणोक्त पांचरात्रादिक तन्त्रशास्त्र में प्रतिपादित व्यूहों का ही प्रतिपादन यहां श्री भागवत में किया गया है, विभिन्न तंत्रों के उन व्यूहों का नहीं जो भगवान् के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। तदनुसार यहां मुरनरकभिदम् तथा वेदवेदान्तवेद्यं इन दो विशेषणों से प्रथम, अनिष्ट निवारणार्थ संकर्षण व्यूह का, तदनन्तर, अभीष्ट-प्राप्ति के लिये वासुदेव व्यूह का यथाक्रम बोध कराया गया है। संकर्षण प्रभु दैत्यों के संहारक हैं। अतः 'मुरनरकभिदं' इस विशेषण से संकर्षण व्यूह का निर्देश किया गया है। प्रभु की प्राप्ति में मुर और नरक दैत्य, भक्तों का प्रतिबंध करते थे। इनका जब नाश किया गया, तब इनसे रुद्ध कन्याओं को श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई। भक्तों के प्रतिबन्ध की निवृत्ति स्वयं प्रभु ही करते हैं। 'वेदान्त वेद्यं' इस विशेषण से वासुदेव व्यूह का निर्देश किया गया है, क्योंकि वेद तथा वेदान्त से जिसका ज्ञान होता है वह वासुदेव व्यूह रूप ही मोक्ष देता है।

यहां श्रीभागवत में तो प्रादुर्भूत भगवान का ही निरूपण किया गया है, अब यदि संकर्षण तथा वासुदेव व्यूहों से ही अनिष्ट की निवृत्ति तथा अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है तो फिर, पुरुषोत्तम के पूर्ण आविर्भाव का प्रयोजन ही क्या रहा ? उसके निरूपण की आवश्यकता ही कहां रही? इस प्रश्न का उत्तर यह है- लोक में भक्ति की प्रसिद्धि के लिये उसका सर्वत्र मंगलमय आलोक फैलाने के लिये ही यदुकुल उदधि में स्वयं श्री हरिभगवान् पूर्णरूप से प्रादुर्भूत हुये, लोके भक्ति प्रसिद्धयै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारः'। लोके भक्ति प्रसिद्धयै–इस पंक्ति से वंश की वृद्धि करने वाले प्रधुम्न व्यूह को सूचित किया गया है अर्थात् अनन्त- अपार प्रभु को भी, भक्ति को प्रसिद्ध करने के लिये प्रकट होना पड़ा- जन्म लेना पड़ा। प्रद्युम्न, कामदेव रूप है और उसी से वंश-परंपरा चलती है।

'यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे' इस पद द्वारा धर्म–रक्षा रूप अनिरुद्ध व्यूह का निर्देश किया गया है। प्रवृत्ति रूप तथा निवृत्ति रूप इस तरह धर्म दो प्रकार का है। प्रवृत्ति रूप धर्म का फल त्रिलोकी तथा निवृत्ति धर्म का फल मोक्ष है। 'त्रिभुवन तरण' पद में त्रिभुवन पद से त्रिलोकी रूप प्रवृत्ति-धर्म के फल का तथा 'तरण' पद से मोक्ष रूप निवृत्ति धर्म के फल का सूचन किया गया है। तदनुसार उपर्युक्त पंक्ति का इस प्रकार अर्थ है– प्रवृत्ति मार्गीय तथा निवृत्ति मार्गीय धर्म के ह्रास होने पर धर्म की रक्षा के लिये अनिरुद्ध-व्यूह रूप भगवान् प्रकट हुये 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत......तदात्मानं-सृजाम्यहम्, आदि गीता-वाक्यों से यही स्पष्ट होता है।

इस प्रकार भगवद्-रूप के प्रकट होने का प्रयोजन व्यूह द्वारा कहकर, अब नामात्मक अवतार का प्रयोजन भी 'भक्तिश्च' इस पद द्वारा निरूपित करते हैं जिस तरह भगवान् ने स्वकीय आनन्दस्वरूपात्मक 'स्वतंत्र' भक्ति को प्रकट की है, उसी प्रकार शास्त्रात्मक स्वरूप को अर्थात् नामात्मक स्वरूप को भी अपने आनन्दद्वारा ही प्रकट किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभागवत के प्रकटीकरण में भगवद् आनन्द ही प्रधान है।

उपर्युक्त श्लोक में चतुर्व्यूह सहित भगवान् को प्रणाम किया गया है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त श्लोक में, भागवत की सुबोधिनी रूप व्याख्या में प्रभु प्रेरक बनें, इस प्रकार की अभ्यर्थना की गयी है। किन्तु, यदि प्रभु केवल अनुकूल ही हो जाये तो भी व्याख्या रूप उत्कर्ष प्राप्त हो सकता है– ऐसा होने पर भी, यदि व्याख्या रूप वाणी में भगवान् अपनी स्थिति नहीं करते, तो व्याख्या लौकिकवाणी के समान ही मानी जाने लगेगी। इस प्रकार की लौकिकत्व की निवृत्ति के लिये, अपनी वाणी में उसके पतिरूप से भगवान् की स्थिति के लिये प्रार्थना करते हुये आचार्य-चरण, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित श्रीहरि के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

कर्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः सर्वस्वरूपोऽपि सन्
सर्वस्यापि विधारणो विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः।
यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं
सोऽयं वाचि ममास्तु पूर्णगुणभूः कृष्णावतारः पतिः ॥२॥

अनुवाद :– जो श्रीहरि समग्र विश्व के कर्ता तथा सर्वज्ञ हैं, जो वेदादि शास्त्रों के कारण रूप हैं, जो सर्व-रूप होते हुए भी सर्व को धारण करने वाले हैं, जो दोष-रहित जीवों के सर्व मनोरथों को सिद्ध करते हुये विराजमान हैं, जो अपनी विभिन्न लीलाओं के अनुरूप अनेक प्रकार के स्वरूप धारण करते हैं, जो पूर्ण गुणयुक्त हैं, जो विशुद्ध होते हुये भी अपना अनेक रूपों में विस्तार करते हैं- ऐसे कृष्णावतार मेरी वाणी में उसके पतिरूप से स्थिति करें।

व्याख्या :– उपर्युक्त श्लोक की 'कर्ताज्ञ: सकलस्य यो निगमभू:,-इस पंक्ति से यह बताया गया है कि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते'–जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि श्रुति से तथा 'जन्माद्यस्य यत:, जिस ब्रह्म से इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय होता है इत्यादि सूत्रों से प्रतिपादित जो भगवान् हैं, उसी से सर्ववेदादिशास्त्र उत्पन्न हुये हैं 'निगमभू:'। और इसी का प्रतिपादन 'शास्त्रयोनित्वात्, इस ब्रह्म-सूत्र में किया गया है। 'सर्वस्वरूपोऽपि सन्' 'सर्वस्यापि विधारण:' इस पद से यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही सबके उपादान कारण हैं आत्मा है तथा सबके लिये सेतुरूप हैं। तदनुसार, वाणी में भी प्रभु की स्थिति है यह स्वत: सिद्ध है, और इसी लिये वाणी में प्रभु स्थिति करें, यह प्रार्थना की गयी है । अन्तर्यामि ब्राह्मण में 'यो वाचि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्यों से 'वाणी में भगवान् की स्थिति' का निर्देश किया गया है । भगवान् स्वकीय निर्दोष भक्त को उससे अभ्यर्थित-अभिलषित वस्तु प्रदान करते ही हैं, अत: जिनको इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती वहां, वस्तुत:, जीव-गत उसका दोष ही अर्थात् जीव-धर्म ही कारणभूत है, भगवद् धर्म कारणभूत नहीं है यही बात 'निर्दोष सर्वेष्टद:' इस पद में स्पष्ट की गयी है । 'यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं' 'प्रभु स्वकीय अनेकविध विशुद्ध लीलाओं द्वारा अपने स्वरूप का विस्तार करते हैं' इस पद में, निर्दोष भक्त को उसकी इस वस्तु की जो प्राप्ति कराई जाती है, उसका प्रकार बताया गया है। 'पूर्णगुणभू:' इसी प्रकार के पद से तापनीय श्रुति में मूलस्वरूप का निरूपण किया गया है । तदनुसार इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलरूप तथा अवताररूप श्रीकृष्ण, यह दोनों ही भागवत के प्रतिपाद्य विषय हैं।।२।।

संप्रति शिष्टाचार के अनुसार श्रीमद् वल्लभाचार्य अपने पिताश्री को नमस्कार करते हैं:–

श्रीमद्वल्लभविद्वदीशविलसद्वंशाब्धिपूर्णेन्दवे
श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ब्रह्मामृतस्यन्दिने ।
श्रीमद्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति यन्नाऽमाखिलाऽभीष्टदम्
तस्मै तातमहाशयाय हरये कुर्मो नमः सिद्धये ।।३।।

अनुवाद : विद्वद् शिरोमणि पितामह श्रीवल्लभ के समृद्ध वंश रूपी समुद्र में से उदित पूर्ण चंद्रमा के समान, गोपीजन–वल्लभ श्रीकृष्ण को वंदन करने वाले, ब्रह्मानन्दरूप पराग से उच्छलित सुन्दर पुष्परूप निर्मल मन वाले हरिस्वरूप तितृचरण श्रीतात महाशय को, जिनका श्रीमद् लक्ष्मण भट्ट सूरि यह पवित्र नाम समस्त अभीष्ट कामना पूर्ण करता है, मैं इष्ट–सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं।

व्याख्या : यहां 'गोपीपनिवन्दिने' पद से ऐसा संकेत मिलता है कि श्रीलक्ष्मण भट्ट महाशय विष्णु स्वामी मतानुसार 'गोपालोपासना' के उपासक रहे होंगे । अपने पितृचरण के लिये 'हरये' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जिस तरह श्रीहरि पूर्ण हैं– श्रीलक्ष्मण भट्टजी भी 'पूर्ण' उपासक थे । 'ब्रह्मामृतस्यन्दिने' विशेषण से यह सूचित होता है कि श्री लक्ष्मण भट्ट एक महान् तत्वज्ञानी थे ।

इस प्रकार आचार्य श्री शिष्यशिक्षार्थ मंगलाचरण करके, मुख्य, मध्यम तथा हीन अधिकारियों को उनकी योग्यतानुसार श्रीभागवत फल देता है, इसको आरम्भ में स्पष्ट रूप से नहीं कहा था अतः इसका निरूपण अब यहां से प्रारंभ करते हैं । क्योंकि यदि यह निर्णय अनुक्त ही रहे तो श्रीभागवत के श्रवण में सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति नहीं होगी । अतः प्रत्येक अधिकारी को उसके अधिकार की योग्यता के अनुसार जो जो फल मिलना चाहिये उस उस फल के अनुकूल श्रीभागवत के स्वरूप का निरूपण करते हैं –

श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुर्लोके फलत्वं गतो
भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि स्यान्नो विरुद्धं महद् ।
भक्त्यंशे फलता प्रमाणसुबले वेदत्वमर्थे पुनः
स्कंधैर्द्वादशभिर्युतः सुरतरुःशाखाद्विवह्निद्वयम् ।।४।।

अनुवाद : श्रीमद् भागवत वेदरूप है, कल्पवृक्ष है तथा लोक के उद्धारार्थ फलरूपता को प्राप्त हुआ है । यह महापुराण है, अतः यद्यपि इसमें लौकिकी भाषा, परमत भाषा तथा समाधि भाषा– इस तरह तीन प्रकार की भाषाओं में परस्पर भेद होने के कारण, इसमें तारतम्य अवश्य है तथापि इसकी जो फलरूपता, वेदरूपता तथा कल्प–वृक्षरूपता है, वह परस्पर अविरुद्ध है, इसकी भागवतरूपता से विरुद्ध नहीं है । वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप होता हुआ भी यह भागवत महापुराण है; क्योंकि भक्ति के अंश में यह फलरूप है, प्रमाण के विशिष्ट बल में यह वेदरूप है, और अर्थ में, द्वादश स्कंध–रूप स्थूलकाय शाखाओं सहित कल्प-वृक्ष है । कल्प-वृक्ष-रूप भागवत की छोटी-छोटी ३३२ शाखायें हैं (द्वि = २, वह्निद्वयम् ३३ = ३३२). अर्थात् ३३२ अध्यायरूप शाखायें हैं । अर्थात् भागवत में तीन भाषायें हैं– १- समाधि भाषा, २- परमत भाषा, ३- लौकिक भाषा । इन तीनों भाषाओं के होते हुए भी भागवत की त्रिरूपता में वेदरूपता, कल्पवृक्षरूपता, फलरूपता में कोई विरोध नहीं आता । भागवत महापुराण है । जो लोग भागवत

को वेदों और इतिहास के साररूप में देखते हैं, उनके लिये यह वेदरूप है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन--रूप में अध्ययन करने वालों के लिए भागवत कल्पवृक्ष है और भागवत का श्रवण करने के उपरांत जिनमें भक्ति का उदय होता है, उनके लिये यह फलरूप है । दशमस्कंधगतवत्सहरण लीला के ३ अध्याय प्रक्षिप्त हैं। इनको कम करने पर भागवत में कुल ३३२ अध्याय हैं।

व्याख्या : यह श्रीभागवत लोक में अर्थात् देवी सृष्टि में वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप है। यहां यदि यह शंका हो कि एक ही श्रीभागवत के तीन रूप कैसे हो सकते हैं, तो उसका यह समाधान है कि 'भाषा-भेदविभेदत:'- श्रीभागवत में तीन प्रकार की भाषायें है- लौकिक, मतान्तर तथा समाधि । इन तीनों प्रकार की भाषाओं के जो अनेकों भेद हैं, उन विभेदों से श्रीभागवत में तारतम्य है, किंतु इस तारतम्य के कारण उपर्युक्त आगमत्वादि तीनों रूप विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि श्रीभागवत एक महापुराण है । यहां यह शंका होती है कि श्रीभागवत के अमुक अंश में त्रिरूपता हो सकती है, किंतु समग्र श्रीभागवत में इस तरह होना संभव नहीं। गौर पुरुष के नख, केश तथा नेत्र में उज्ज्वलत्व, श्यामत्व तथा रक्तत्व आदि अन्य रूप-रंग वर्तमान होते हुये भी, वह गौर रूप ही कहा जायेगा, अनेक रूपवाला नहीं । इसी प्रकार सम्पूर्ण भागवत को त्रिरुपता प्राप्त नहीं हो सकती। इसके समाधान में यह कथन है कि जैसे एक ही पुरुष किसी का पिता तथा किसी का पुत्र आदि रुप में होता है, उसी तरह अधिकारी-भेद से फल में भी भेद होता है। तदनुसार, भागवत में त्रिरुपता हो सकती है, इसी का प्रतिपादन 'भत्तयंशे फलता'- इस पद से किया गया है। अर्थात् भक्ति के अंश में तो संपूर्ण भागवत ही फलरूप है।

'यस्यां वै श्रयमायाम्' जिसके श्रवण करते रहने से भक्ति उत्पन्न होती हैं-इत्यादि वाक्यों में भागवत को भक्ति का उत्पादक कहा गया है। भक्ति के होने पर, स्वतंत्र पुरुषार्थ रुप से श्रवण कीर्तन आदि के द्वारा जो इसका रसास्वादन करता है, उसके लिये तो संपूर्ण भागवत नि:संदेह फलरूप ही है।

इस भागवत को भगवान ने प्रकट की है-'इदं भगवता पूर्व, तदुपरांत, 'सर्ववेदेतिहासानाम्' इस वाक्य के अनुसार भागवत, वेद, इतिहास आदि का साररुप है । तदनुसार, प्रमाण-बल के अंश में समग्र भागवत वेदरुप है, अर्थात् वेद के शब्द स्वत: प्रमाण हैं। उसमें किसी अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं। अर्थात् ऐसे अनपेक्षत्व-रुप अंश में स्वत: प्रमाण होने से संपूर्ण भागवत को वेदरुपता है।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अधिकारी-भेद से सम्पूर्ण भागवत को ही त्रिरुपता है- उदाहरणार्थ-'कैवल्यैक प्रयोजनम्' पद में 'एक' पद मुख्य वाची है और कैवल्य पद मोक्ष के

लिये प्रयुक्त होता है । उसी तरह 'लीला' के लिये भी– 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' । अतः इस भागवत में भगवद्-लीला–रस का आस्वादन भी प्राप्त होता है और मोक्ष भी । तदनुसार, भागवत की त्रिरूपता स्पष्ट है । उसमें शंका को कोई स्थान नहीं । प्रक्षिप्त अध्यायों का ग्रहण नहीं हो इसलिये इस कल्प-वृक्ष-रूप भागवत की ३३२ शाखायें ही निर्दिष्ट की गई हैं– 'शाखा द्विवह्निद्वयम्' । श्रीधरी में भी ३३२ शाखाओं का ही उल्लेख है– 'द्वात्रिंशत् त्रिशतं च विलसत् शाखा' ।

यद्यपि श्री आचार्य चरण, काव्यों में जिस तरह अलंकार आदि का आदर है, उस तरह भागवत के व्याख्यान में अलंकारों के प्रति सत्कार नहीं करते, तथापि श्रुति सूत्र सम्मत अमुक अलंकारों को ही आपश्री ने मान्यता प्रदान की है, जैसे–'असावादित्यो देव मधु' 'शरीररूपकविन्यस्त गृहीते' – आदि में जो रूपकालंकार है उसे स्वीकार किया है और इसीलिये स्वकीय उपर्युक्त कारिका में भागवत के लिये 'सुरतरु' इस रूपक का प्रयोग भी किया है । वास्तव में देखा जाये तो श्रीव्यासचरण को भी यह रूपक अभिप्रेत है, अन्यथा श्रीभागवत के 'भागों' के लिये 'स्कंध' का प्रयोग आपश्री कदापि नहीं करते ॥४॥

अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानरात् वाक्पते–
रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः ।
दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥५॥

अनुवाद : अलौकिक सुख से वंचित इस विश्व के उद्धारार्थ भागवत के यथार्थ अर्थ प्रकट करने के लिये, वाणी के पति वैश्वानर श्रीमद् वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी समर्थ नहीं है, यह विचार कर श्रीपति भगवान् ने, अपने ही अंशरूप मुझे भी श्रीवेदव्यास की तरह ही मानव देह से संपन्न करके, श्रीभागवत का उत्तम अर्थ प्रकट करने की कृपा-पूर्ण दृष्टिपात पूर्वक, आज्ञा प्रदान की, इसी कारण से श्रीवेदव्यास तथा श्रीविष्णु को (अथवा विष्णुरूप व्यास को) जिस तरह अत्यंत प्रिय लगे उस तरह से भागवत के गूढ़ अर्थ को मैं आनंदपूर्वक अनेक प्रकार से प्रकट करता हूं ।

व्याख्या: इस तरह भिन्न-भिन्न अधिकारी के भिन्न-भिन्न फल के अनुकूल भागवत के स्वरूप का निरूपण करके, अब, प्रस्तुत श्लोक से यह कहते हैं कि इससे पूर्व अनेकों पण्डितों ने श्री भागवत की व्याख्यायें की है तो फिर, श्रीमद् वल्लभाचार्य इसकी व्याख्या में क्यों प्रवृत्त हुये । इसका यह कारण है कि जब से इस भूतल का अलौकिक सुख लुप्त हो गया, तब से इस भागवत

के यथार्थ अर्थ करने की श्रीमद् वल्लभाचार्य के अतिरिक्त किसी में भी सामर्थ्य नहीं रही, क्योंकि आप स्वयं वाणी के पति हैं– वैश्वानर हैं। अग्नि, वाणी के पति हैं, उनका सामर्थ्य अबाधित है। पत्नि अपने स्वरूप को अपने पति के समक्ष ही प्रकट करती है, अतः वाणी अपने अंतरंग स्वरूप को अपने पति अग्नि-स्वरूप श्रीमद् वल्लभाचार्य के समक्ष ही व्यक्त करेगी। 'तस्याग्निरास्यम्'– इस वाक्य के अनुसार अग्नि को मुख कहा है–तदनुसार, शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ इस प्रकार के सातों अर्थ प्रकट करने का सामर्थ्य श्रीअग्नि-स्वरूप वाक्यपति श्रीमद् वल्लभाचार्य में ही है, अन्य में नहीं।

श्रीपति भगवान् ने जिस तरह श्रीव्यास को भागवत प्रकटनार्थ मनुष्य देह में आविर्भूत किया, उसी तरह अपने ही अंशरूप मुझे (आचार्यचरण को) 'मानुष-तनु' के रूप में प्रकट किया तथा कृपा-पूर्ण नेत्रों से निरखते हुये मुझे भागवत के अर्थ को प्रकट करने की आज्ञा प्रदान की। अतः श्रीभगवान् तथा श्रीव्यास को अतिप्रिय जो भागवत का गूढ़ार्थ है उसको मैं प्रसन्नतापूर्वक बहुत प्रकार से प्रकट करता हूं। भागवत के गूढ़ार्थ को प्रकट करने में, भगवदाज्ञा से उत्पन्न मेरी प्रसन्नता ही कारण है ॥५॥

जिस प्रकार को अपनाते हुये यह व्याख्या की गई है, उसी का निर्देश निम्न श्लोक में किया है :—

लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् ।
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृते ।६।

अनुवाद : मैं भागवत का अर्थ कहीं भी लक्षणा से नहीं करूंगा, उसी तरह 'यहां अर्थ न्यून है' ऐसा कहकर उसकी पूर्ति मैं दूसरों अथवा अधिक अर्थ का संयोजन नहीं करूंगा–परोक्ष कथन के अतिरिक्त, जो वाच्यार्थ है वही कहूंगा–अर्थात् परोक्षरूप में कहे गये अर्थ में लक्ष्यार्थ हो सकता है, किन्तु, अन्यत्र तो वाच्यार्थ ही कहूंगा, अर्थात् जैसा शुद्ध अर्थ निकलता होगा वैसा ही अर्थ करूंगा, तोड़-मरोड़ कर नहीं।

व्याख्या : शब्द का अर्थ लक्षणा से भी किया जाता है, जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्य का यथार्थ अर्थ होगा– 'गंगा में गांव' किंतु, यहां 'गंगायां' का अर्थ है 'गंगा के किनारे पर' और यही लक्षणा कहलाती है। इस प्रकार का लक्षणार्थ में नहीं करूंगा। न्यून पद के प्रयोग से, दूसरे पद की पूर्ति नहीं करूंगा। पुरंजनाख्यान आदि परोक्ष-कथन को छोड़कर, शब्द का यथार्थ अभिप्राय ही प्रकट करूंगा। इन नियमों के अन्तर्गत रहते हुये भागवतार्थ करने की इस श्लोक द्वारा श्रीआचार्य-चरण प्रतिज्ञा करते हैं ॥६॥

अविरोधेन सप्तानामर्थानामिह सङ्गतिः ।
उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यं सङ्कोचतः परम् ।।७।।

अनुवाद :– सातों प्रकार के अर्थों में परस्पर विरोध न हो, इस प्रकार से यहां सभी अर्थों की संगति रहेगी। इस प्रकार के सप्तार्थों में, व्यवहार सौकर्य-सुलभ शक्ति संकोच के कारण यथापूर्व अर्थ की अपेक्षा यथोत्तर अर्थ का दौर्बल्य रहेगा ।।७।।

व्याख्या : श्रीमद् आचार्य–चरण ने भागवत का सात प्रकार से अर्थ किया है– शास्त्रार्थ, स्कंधार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ तथा अक्षरार्थ। ये सातों प्रकार से अर्थ परस्पर अविरुद्ध हैं तथा एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। सर्व-साधारण, भागवत का अर्थ सहजतया समझ सकें यही इस व्याख्या का प्रयोजन है। किन्तु व्यवहार-प्रयोजन-सुलभ शक्ति संकोच को लेकर उपर्युक्त सप्तधा अर्थों में उत्तरोत्तर अर्थ की दुर्बलता रहेगी। कहने का तात्पर्य यह है– भागवत शास्त्र का मुख्य अर्थ है भगवान श्रीकृष्ण की आनन्दमय लीलायें। भागवतशास्त्र का यह मुख्य अर्थ–शास्त्रार्थ प्रत्येक स्कन्ध के अर्थ में व्याप्त है। अतः शास्त्र का अर्थ, सर्वतोधिक प्रबल माना जायेगा। स्कन्धार्थ, शास्त्रार्थ का अवयव-रूप होने के कारण, शास्त्रार्थ से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं करेगा, प्रत्युत भगवल्लीला के प्रतिपादक शास्त्रार्थ के अनुकूल, भगवल्लीला का ही निरूपण करेगा। इसी तरह, सम्पूर्ण स्कन्ध का अर्थ उस स्कन्ध के उस ही प्रकरण में नहीं आ सकता। इसलिये शास्त्रार्थ से स्कन्धार्थ, स्कन्धार्थ से प्रकरणार्थ दुर्बल रहेगा। इसी तरह सम्पूर्ण प्रकरण के अर्थ से अध्यायार्थ, अध्यायार्थ से वाक्यार्थ, वाक्यार्थ से पदार्थ तथा पदार्थ से अक्षरार्थ-उत्तरोत्तर दुर्बल समझ लेना चाहिये ।।७।।

भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात्समाहितः ।
भाषात्रयविभेदश्च लक्षणैर्ज्ञाप्यते पुनः ।।८।।

अनुवाद :– भागवत में लौकिकी मतान्तर तथा समाधि-भाषा में जहां जहां विरोध आता हो, वहां वहां उसका समाधान-निराकरण कल्प-भेद से कर लेना चाहिये और इन तीनों भाषाओं के भेद भी उनके लक्षणों से बताये गये हैं, अथवा उनके लक्षणों से जान लेना चाहिये ।।८।।

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि यहां भागवत में कहीं ज्ञान की प्रशंसा की गयी हैं, और कहीं कथा में भी पूर्वोत्तर भेद है, कहीं पुनरुक्ति आदि दोष है– इन सबके समाधान में तीन प्रकार की भाषा का उल्लेख किया गया है– 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः' समाधि-मतान्तर तथा लौकिकी।

साक्षात् समाधि में, भगवद्-अनुभव पूर्वक जितने भागवतार्थ का श्रीव्यास ने निरूपण किया, वह समाधि भाषा है। जहां इसके विरुद्ध कहा गया है, वहां मतान्तर भाषा समझनी चाहिये, लोक-सिद्ध भाषा लौकिकी हैं,। मतान्तर भाषा तथा लौकिकी भाषा का प्रामाण्य, उस भाषा के वक्ताओं के अभिप्राय तक ही सीमित माना गया है। मतान्तर भाषा तथा लौकिकी भाषा में अभिव्यक्त किये गये अर्थ का प्रामाण्य, समाधि-भाषा के प्रामाण्य की कोटि में कदापि स्वीकृत नहीं किया जाता-समाधि भाषा के अर्थ का अनुमोदन करने पर ही, लौकिक अथवा परमत भाषा प्रमाण-भूत मानी जायेगी, अन्यथा नहीं। सर्वांश में प्रमाण-भूत तो समाधि भाषा ही है। सम्पूर्ण भागवत में सामान्यतया सर्वत्र समाधि भाषा का ही कथन है, तथापि श्रीआचार्यचरण ने अपनी सुबोधिनी में इन तीनों ही भाषाओं का पृथक् पृथक् निर्देश भी किया है। ऐसा कहा गया है कि श्रीशुक ने —जहां जहां यह कहा है कि 'अब मैं अन्य व्यक्तियों से सुनी हुई बात कहूंगा' वहां वहां 'परमत' का उल्लेख किया गया है—तदनुवार इसे मतान्तर भाषा समझनी चाहिये। जहां विषय का लौकिक शैली में निरूपण किया गया हैं, उसे लौकिकी भाषा समझनी चाहिये यथा—,स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्' ।।८।।

अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम् ।
अत्र सन्तः स्वन्तोषैराज्ञां यच्छन्तु सिद्धये ।।९।।

अनुवाद : भागवत के सात अर्थों में से प्रथम चार अर्थ तो तत्वार्थदीप निबन्ध में किये जा चुके हैं, अवशिष्ट तीन अर्थ यहां सुबोधिनी व्याख्या में कहूंगा। अतः इस विषय में साधु-पुरुष स्व-सन्तोषपूर्वक सहृदयता सहित अर्थ—सिद्धि के लिये आज्ञा प्रदान करें ।।९।।

व्याख्या : 'तत्वार्थ दीप निबन्ध,' के भागवतार्थ प्रकरण में, श्री आचार्यचरण, भागवत के अर्थ - चतुष्टय, शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ कर चुके हैं, सम्प्रति भागवत के अवशिष्ट अर्थ -त्रय, वाक्यार्थ पदार्थ, तथा अक्षरार्थ अपनी सुबोधिनी में उपपत्ति सहित कर रहे हैं—निर्विघ्न रूप से इस अर्थ की सिद्धि के लिये आपश्री सत्पुरुषों से स्व-सन्तोषपूर्वक आज्ञा के लिये प्रार्थना करते हैं ।।९।।

◆

.
.
.
ा
ा
ा
।
ा
ा,
।
े
ा
ष
त
ित
र
के

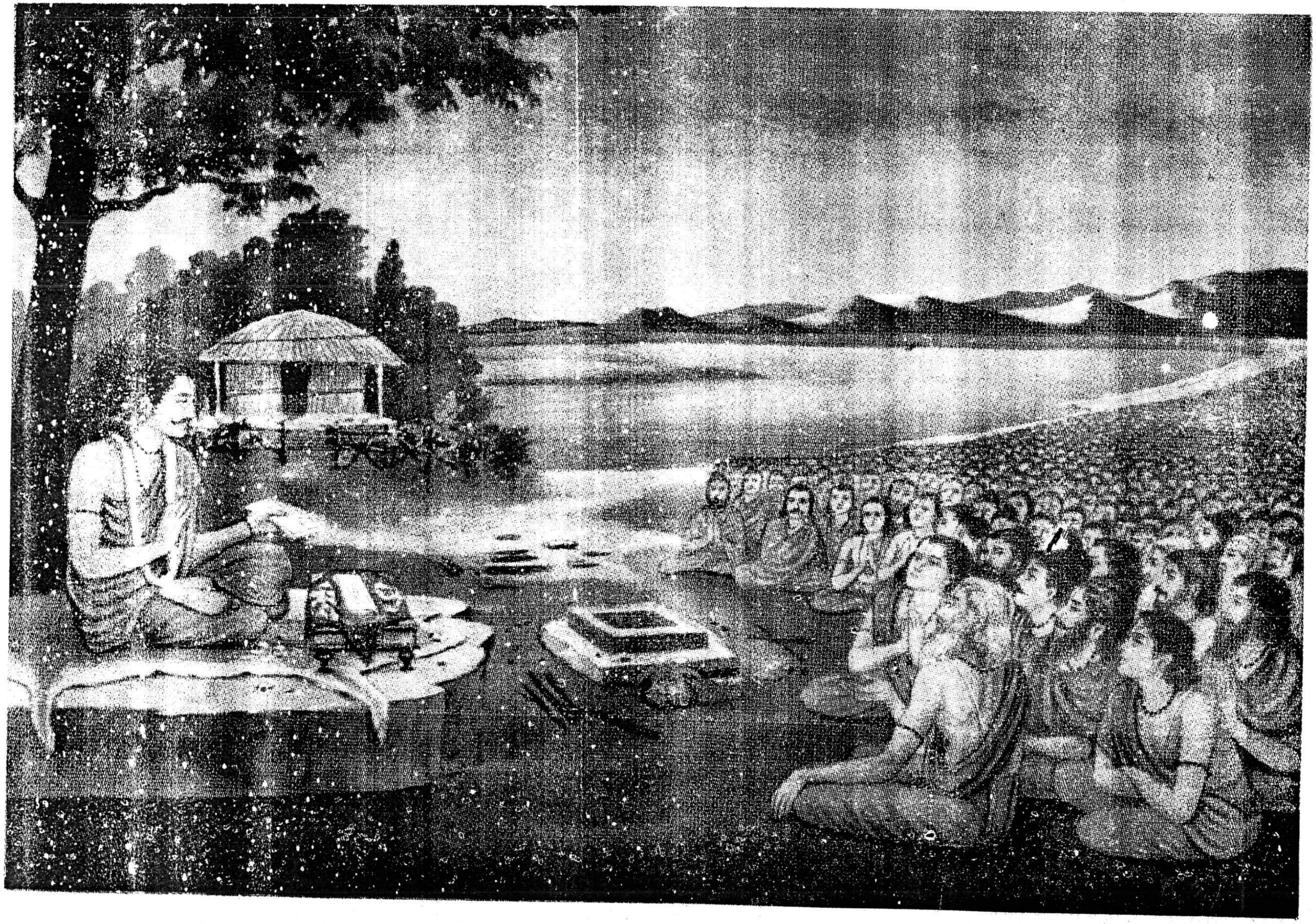

सूतजीको कथा

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्-भागवत-संहिता

प्रथम-स्कंध

श्रीसुबोधिनी व्याख्या
का
अनुवादात्मक विवेचन

अथ व्याख्या—

भगवदाज्ञया भक्तिजनिकां संहितामारभमाणः शिक्षार्थं मङ्गलमाचरन्बीजभावेन प्रथमं गायत्र्यर्थमुपनिबबन्ध—

'ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये'– शिष्य को इस प्रकार की शिक्षा देने के लिये स्वयं श्रीवेदव्यास भगवदाज्ञा से, भक्तिरस को उत्पन्न करने वाली भागवत-संहिता का प्रारम्भ करते हुए प्रथम श्लोक से मंगलाचरण पूर्वक वेद की बीजरूप गायत्री के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥

अनुवाद: समवायी तथा निमित्त कारणरूप जिस ब्रह्म से इस जगत् के जन्म आदि होते हैं, जो ब्रह्म सर्व विषयों को जानता है, अथवा समग्र जीवों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थ सिद्ध करने के विषय को सर्व प्रकार से जानता है 'अर्थेष्वभिज्ञ'; जो ब्रह्म विषयों में रमण

न करके अपने ही स्वरूपानंद में स्वयं ही रमण करता है– 'स्वराट्' – अथवा जो ब्रह्म विराट् के भीतर रहने वाला स्वराट् है, अथवा विराडन्तर्गत रहता हुआ उसकी सभी वस्तुओं को, विषयों को, जानता है– **'अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'**; जिस ब्रह्म ने, उत्तम विद्वानों को भी मोहित कर देनेवाले वेदों का, पुराणों सहित, अवबोध, शब्द रस में निपुण ऐसे आदिकवि ब्रह्मा को, हृदयपूर्वक (हृदा) कराया, जिस तरह तेज, जल तथा पृथ्वी इनमें से एक की दूसरे में प्रतीति मिथ्या है उसी तरह जिस ब्रह्म में, तीनों गुणों के– (सत्व-रज-तम के) अर्थात् माया के कार्यरूप–देह, इन्द्रिया तथा अंतःकरणादि धर्मों की तथा उनके अध्यास की कल्पना करना, मिथ्या है, जो ब्रह्म स्व-स्वरूप की स्फूर्ति से ही जीवों की सर्व अविद्या को निवृत्त कर देता है उसी परम सत्यरूप ब्रह्म का (पूर्ण-पुरुषोत्तम का) जो त्रिकालाबाधित है– हम ध्यान करते हैं।

जन्माद्यस्येति । अत्र हि श्लोकत्रयस्याऽसङ्गतिः । कथारूपं हि भागवतम् । तत्तु ,'**नैमिष**''-इत्यादिना निरूप्यते । तत्रोच्यते । ''**यत्राऽधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते**'' ॥ यथा हि **यज्ञात्मको** वृत्रस्तद्वधेन यज्ञाः प्रवृत्ता **वेदे** निरूपितास्तथाऽत्रापि **भक्त्यात्मको** वृत्रस्तद्वधनिरूपणेनाऽत्र **भक्तिः** प्रवर्तयिष्यते । गायत्री हि वेदमाता, वेदत्रयार्थप्रति–पादिका भवति । तदर्थो भागवते, प्रथमं बीजार्थं निरूप्यते । **यथा वेदस्तथा भागवतमिति** । एक-बीजत्वात् । अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन **वेदविरोधो, वेदाद्दौर्बल्यं** च परिहृतम् । किञ्च। यथा हि वेदे, यज्ञियाः पदार्था योगजधर्मेणाऽनुभूयन्ते फलसाधनसहितास्तथाऽत्रापि योगजधर्मेण व्यासस्त्रयमनुभूत-वान्—**पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकमिति** । ''**अपश्यत्पुरुषं पूर्णं**'' मित्यादिना । एषा हि समाधिभाषा । तत्र हि पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव । ''**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचाऽन्यथे**'' ति वैष्णवतन्त्रवचनान्माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहो भक्तिः । सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्त्वात्मत्वेन ज्ञाते भवति । माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्या-दिभिः । तत्र द्वयं साधयितुमेषा भागवतसंहिता । यथा हि यज्ञा, ब्रह्माऽऽत्मावगतिश्च, काण्डद्वया-र्थोऽन्योन्यहेतुभूतस्तथाऽत्र **द्वयमपि** भक्तिहेतुरिति निरूपयितुं **गायत्री बीजं, वेदो** वृक्षः, **भागवतं फल**मिति निरूप्यते । अतः काण्डद्वयार्थनिष्णातोऽप्यफलवृक्ष इव व्यर्थ इति **भागवतारम्भः** । तदत्र श्लोकत्रयेण निरूप्यते । यद्यपि **प्रणवो व्याहृतयश्च** तथा भवन्ति, तथापि तेषामर्थः स्पष्टो नेति, गायत्र्यर्थो निरूप्यते । किञ्च । अग्न्युपस्थाने हि गायत्री नियुक्ता । ''**ततसवितुर्वरेण्यमित्याह प्रसूत्या**'' इति । तथा मन्देहादिनिवारणे च—''**गायत्र्याऽभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ती**''– त्यादिना । तेन निर्विघ्नं वाक्प्रसवार्थं, गायत्र्या भगवदुपस्थानं कुर्वाणो, गायत्र्यर्थमाह । तत्र गायत्र्या जगत्प्रस-वकर्तृत्वेन सर्वकर्तृत्वं, देवत्वेन च सर्वज्ञत्वं, षष्ठीद्वयेन निरूप्यते । **वरेण्यमिति** भक्तिबीजम् ।

भर्ग इति संसारनिवृत्तिः। "**भर्जयत्यखिलाऽविद्या**"मिति। अतस्तदेव—**धीमहीति**। आवश्यकत्वं चाऽऽह—"**धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा। प्रेरयेद्यः समस्तानां तद्ध्यानं सर्वथा हित**"मिति। तदत्राऽप्याह—**जन्माद्यस्य यत इति। जन्म आद्यस्य** आकाशस्य **यत** इति वा। "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत**" इति श्रुतेः। गायत्र्यर्थे हि प्रसवमात्रमुक्तं, न स्थितिप्रलयौ। **वरेण्यभर्ग**शब्दाभ्यां च पश्चात्सूचितौ। तदत्राऽप्युत्तरार्द्धे सूचयिष्यते। अथवा। सूचितमप्यर्थमादायोत्पत्तिस्थितिप्रलया निरूप्यन्ते जन्मादिपदेन। "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्त**" इति श्रुतेः। **जन्म आदि**र्यस्य स्थितिभङ्गस्येति तद्गुणसंविज्ञानो वहुव्रीहिः। उत्पत्तिस्थितिभङ्गस्येति वाऽतद्गुणसंविज्ञानः। देदार्थप्रतिपादकत्वान्नाऽधिकपुनरुक्ती। **अस्येति**। ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसाऽप्याकलयितुमशक्यस्येति माहात्म्यम्। यत इत्यव्ययनिर्देशोऽविकृतत्वाय, सर्वजगद्बीजमपि ब्रह्म न विकृतमिति निरूपयितुम्। यथा, **कामधेनोः कल्पवृक्षाच्चिन्तामणेर्मन्त्रादेश्च** जायमानाः पदार्था दृश्यन्ते। न हि ते विकृता भवन्ति। अनेन "**कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वे**"ति पूर्वपक्षः परिहृतः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धेऽपि, शब्दन्यूनतादोषपरिहारायाऽध्याहारः कर्तव्यो यद्यपि, तथापि गायत्र्यन्तर्गततच्छब्दव्याख्यानरूपस्य सत्यं परमिति पदद्वयस्य विद्यमानत्वान्नाऽध्याहारः। तत्र ब्रह्मणः समवायित्वं, प्रकृतेर्निमित्तत्वमिति **केचिदाहुः**। विपरीतमित्यन्ये। कर्तृत्वमात्रमित्यपरे। तत्सर्वनिराकरणायाऽऽह **अन्वयादितरतश्चेति**। अन्वेतीत्वन्वयः समवायिकारणम्। इतरन्निमित्तकारणम्। "**यत्र येन यतो यस्ये**"ति श्लोकोक्ता अनुक्ताश्चकारेण परिगृहीताः। अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं जगद्ब्रह्मकारणकमित्युक्तं भवति। स्थितिप्रलयादावपि यथाऽपेक्षं ग्रहणान्न समवायकथनदोषः। अथवा। वैनाशिकप्रक्रियाया अनङ्गीकारान्नाशेऽप्यव्यक्तस्थितेः समवाय्यपेक्षाऽस्त्येव। प्रत्यक्षानुग्राहकान्वयव्यतिरेकाविह न भवतः। न हि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्। श्रुतिसिद्धं तु तत्। न वा ब्रह्मणः क्वचिद्व्यतिरेकः सम्भवति। खपुष्पादिकमपि तत्सत्तयैव भासते। "**यदस्ति यन्नास्ती**"ति वाक्याच्च। तस्मात्सर्वप्रकारेणाऽपि, **ब्रह्मैव** जगत्कारणमित्युक्तम्। जगत्कारणत्वेन तदुपयोगिसर्वज्ञत्वे सिद्धेऽपि, लोकवत्फलाऽज्ञानं सम्भवतीति, तदाह—**अर्थेष्वभिज्ञ इति**। अनतिप्रयोजनाय सप्तमी एकस्याऽपि प्रयोजनस्य बहुप्रयोजनार्थत्वं ज्ञापयितुं बहुवचनम्। ज्ञानशक्तेः प्रयोजनानां च न समासः। तेन न हर्षविषादौ। अर्थशब्दः प्रयोजनवाची। अथवा। **अर्थेषु** निमित्तेषु। चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगज्जननमित्यर्थः। सर्वजीवानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगदित्युक्तं भवति। एकस्यापि प्रयोजनस्य प्रयोजनकार्यकारणपरम्पराणां ज्ञानमभिशब्दार्थः। ज्ञानमार्गे केचन स्वार्थमेव सर्वं करोतीत्याहुः। तन्निराकरणायाऽऽह—**स्वराडिति**। यद्यपि जीवा अपि स्वरूपमेव, तथापि प्रकारभेदान्न दोषः। स्वेनैव राजते, न विषयेषु रमत इत्यर्थः। अथवा। विराडन्तर्गतः **स्वराट्**। तेन पूर्वोक्तसर्वज्ञता समर्थिता भवति। अक्लेशार्थं वा स्वरूपानन्दे रमत इत्यर्थः। एतावता **रूपप्रपञ्चे** कारणत्वमुक्तम्।

नामप्रपञ्चकारणमाह—**तेन इत्यादिना**। यद्यप्यविशेषेण कारणत्वं वक्तुं शक्यं, तथापि रूपप्रपञ्च आसक्तानां जीवानां निवारणार्थं भेदेनोक्तम्। बन्धमोक्षयोः प्रकारभेदेन निरूपणार्थं वेद जगतोर्भिन्नतया निरूपणम्। त्रिविधाऽप्युत्पत्तिर्वेदे नास्ति। किन्तु प्रलये सूक्ष्मतयाऽवस्थानम्। यथा वर्णानामनेकभाषाविततत्वं विस्तारस्तथा श्रुतेरपि वेदशाखाभेदेन विस्तारः। **ब्रह्म वेदम्**। अविकृतत्वाय तथा वचः **हृदेति** मनःपूर्वकम्। स्वार्थमेतदिति भावः। पुराणेन सहेति वा। "**पुराणं हृदयं स्मृत**" मिति वचनात्। "**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा**" इति ब्रह्मार्थं वेदविस्तारः। भगवत्तात्पर्यं वेद एव, लोक इति वा **हृदेत्युक्तम्। य इति** गायत्रीतृतीयपादस्थस्य ग्रहणम्। तेन सर्वप्रेरकत्वमायाति। अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेः। **यत** इत्यस्यैव सर्ववाक्येषु विभक्तिविपर्ययेण योजयितुं शक्यत्वात्। **आदिकवये** ब्रह्मणे। वेदमार्गेण ब्रह्मैवमुच्यत इत्यर्थः। अन्येषां वेदार्थनिष्ठानामपि तद्रूपेणैव मुक्तिरिति भावः। शब्दरसाभिज्ञत्वाय **कवि**पदप्रयोगः। गोपनार्थमन्यथाकथनसामर्थ्याय वा। **नह्यन्यस्तादृशोऽस्तीत्यादिपदम्**। कविदोषाऽभावाय वा। नानाविधस्तोत्रेण वा सन्तुष्टो भगवान् तस्मै वेदं प्रकाशितवानित्**यादिकवि**पदप्रयोगः। अन्येषां वेदानुपयोगे हेतुमाह—**मुह्यन्तीति**। यस्मिन्वेदे सूरयोऽपि मुह्यन्तीत्यर्थः। वेदार्थे वा। यज्ञांल्लौकिकान् फलसम्बन्धमात्रे वैदिकान्। ब्रह्म च जीवानामात्ममात्रमिति **सांख्या योगिनश्च**। न वैदिकाः। **पौराणिकाः** परं, सद्वादिनोऽपि पुरुषपर्य्यवसिताः। न तु **पुरुषोत्तमविदः**। अन्ये च तदनुवर्तिनः। मोहे भगवदप्रपत्तिर्हेतुः। तस्माद्भगवानेव, तत्प्रपन्नो वा वेदार्थवित्। वेदस्य सर्वसमर्थत्वात्कामनया क्लिष्टेषु प्राणिषु कामनासिद्ध्यर्थं वेदप्रचारः। तथैव शाखाप्रणयनम्। तथैव पुरुषश्च हृदि क्वचित्। प्रणवमात्रं वा। "**वेदः प्रणव एवाऽग्र**" इति वचनात्। सर्वथा वेदोपयोगो ब्रह्मण एव स्थितः। अत एव वेदतात्पर्याऽज्ञानादन्यथा वेदार्थवक्तार उपेक्षणीयाः। प्रपञ्चेन बन्धः। वेदेन मोक्षः। उभाभ्यां हरिः क्रीडतीति माहात्म्यम्। एवं पूर्णगुणविग्रहत्वमुक्त्वा निर्दोषत्वं वदन् भर्गश्शब्दार्थमाह—**तेजोवारीति**। वरणीयत्वं वा बोधयति। मायातत्कार्यसम्बन्धलेशाऽभावप्रतिपादनात्। दोषाऽभावपक्षे तु दोषो द्विविधः। स्वत एव दुष्टतापादकः सेवकानुद्धारो वा तत्राऽऽद्याऽभावमाह—**तेजोवारीति**। देहेन्द्रियान्तःकरणधर्मसम्बन्धो दोषः। स च प्रत्येकमिति **दृष्टान्तबाहुल्यम्**। सात्त्विकादिभेदेन वा। पृथिव्यप्तेजसामन्योन्यस्मिन्नन्योन्याऽवभासो यथा **मृषा** द्रष्टुरेव तथा बुद्धिजनकः। न तु विषयस्तादृश इत्यर्थः। तेजसि वारिबुद्धिर्मरीचितोये। वारिणि पृथिवीबुद्धिः तमिस्रायां जलादौ। तथा मण्यादिष्वग्निबुद्धिः। मृदि काचादौ वारिबुद्धिः। मेघेषु चन्द्रबुद्धिः चन्द्रकिरणे वस्त्रबुद्धिः। सजातीया भ्रमाश्च शुक्तिरजतादिषु। ते यथा जीवानां बुद्धिपरिकल्पितास्तथा भगवति देहेन्द्रियान्तःकरणवत्त्वमवतारादिषु मृषैत्याह—**यत्र त्रिसर्गो मृषेति। यत्रेति** निमित्ताधिकरणयोर्ग्रहणम्। ततो गुणत्रयकार्यदेहेन्द्रियमनांसि तद्धर्माः तत्कारणं वा तदधिकरणानि तदर्था

वा अध्यासेन न सन्तीत्यर्थः । केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने **यत्रेति** वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वाधारत्वाच्च ब्राह्मणः । तेनाऽध्यासेनैवेति वक्तव्यम् । एतदर्थमेव दृष्टान्तानाह लोकदृष्ट्या प्रतीतः । अन्यस्मिन्ब्रह्मण्यन्यधर्माणां देहेन्द्रियादिधर्माणां प्रतीतिर्मिथ्येति । प्रवृत्तिप्रकाशतद्राहित्यवैधर्म्यस्य स्पष्टस्यापि सतो यथाऽन्यस्मिन्नन्याध्यासः । केचिद्भगवति देहेन्द्रियाणि परिकल्प्य, तेषां चिदानन्दत्वं परिकल्पयन्ति । केचिच्चिदानन्दे देहेन्द्रियाणि, केचिच्चले कृष्णे जडजीवसम्बन्धं कल्पयन्ति । जडजीवविशेषे वा सामर्थ्यम् केचिच्छरीरे मायातद्वतोरध्यासं प्रकल्पयन्ति । मायाविशिष्टे स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धं वा । सर्वेषां तेषां बुद्धिरेव भ्रान्ता, न ब्रह्मणि शरीरेन्द्रियसम्बन्धः । यथा पुनर्ब्रह्मणि व्यवहारस्तथोत्तरत्र वक्ष्यते । एवं भगवति जडजीवधर्मा मृषेत्युक्तम् । मायातत्कार्यसम्बन्धलेशाऽभावाद्वरणीयं सुन्दरमिति स्वतो दोषाभाव उक्तः । भजनीयगुणान्वदन्सेवकोद्धारमाह—**धाम्ना स्वनेति** । स्वरूपस्फूर्त्यैव सर्वेषां सर्वाऽविद्यानाशक इत्यर्थः । स्वरूपमेवाऽविद्यानाशकम् । प्रमेयबलमेतत् । **सदेति** । न कलिकालादिः प्रतिबन्धकः । **कुहकं** कापट्यं, देहेन्द्रियात्मभाव इति यावत् । **तस्मिन्निराकृते शिष्टं स्वत एव भविष्यति** । एतेन भर्जयत्यखिलाऽविद्यामिति भर्गश्शब्दः सकारान्तो व्याख्यातः । तच्छब्दं व्याचष्टे— **सत्यं परमिति**। कालत्रयाऽबाधितं सर्वलोकप्रसिद्धं **सत्यम्** । **परं** श्रेष्ठं पुरुषोत्तमरूपं सर्ववेदप्रसिद्धम् । **धीमहीति** । ध्यायेम प्रीतिं वा कुर्म इत्यर्थः ।इदमेकमेवोभयत्र पदं, वैदिकत्वबोधनाय । अनेन वेदसम्मितं पुराणमित्युक्तं भवति । एवं बीजभावो निरूपितः ॥१॥

सुबोधिनीः— यहां यह यह प्रश्न किया जा सकता है कि भागवत वस्तुतः कथारूप है- और, कथारूप होने के कारण इसका यथार्थ प्रारम्भ "नैमिषे निमिष- क्षेत्रे"- इस चतुर्थ श्लोक से ही होता है- तदनुसार, "जन्माद्यस्य यतः"- यह प्रथम श्लोक तथा "धर्मः प्रोज्झित" तथा "निगमकल्पतरोः" से प्रारम्भ होने वाले यथाक्रम द्वितीय और तृतीय श्लोक- ये तीनों श्लोक असंगत हैं- कथारूप भागवत से इनका कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि इनमें से किसी भी श्लोक में कथा का निरूपण ही नहीं किया गया । इसके प्रत्युत्तर में यह कथन है कि सर्व–प्रथम यह जान लेना चाहिये कि भागवत किसे कहते हैं ? भागवत वही माना जायेगा, "जिसका प्रारम्भ "गायत्री" से हो- जिसमें, धर्म का सविस्तर वर्णन हो, और जो वृत्रासुर के वध की कथा से युक्त हो" । (इसीलिये यहां प्रथम बीजरूप गायत्री के अर्थ निरूपण से भागवत का प्रारम्भ किया गया है ।) यज्ञाहुति से वृत्रासुर की उत्पत्ति हुई थी- "तत्त्वष्टा हवनीयमुपप्रावर्तयत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व" इस तरह यज्ञात्मक होने के कारण उससे यज्ञादि प्रवृत्तियां रुद्ध हो गयी थीं । किन्तु, जब इन्द्र ने उसका बध किया तब यज्ञों की प्रवृत्ति हुयी; इसी तरह यहां भागवत में "अहं हरेस्तव पादैकमूलं दासानुदासो भवितास्मिभूयः" इस स्तुति से वृत्रासुर, भक्त्यात्मक कहा गया है, तदनुसार, यहां भक्ति के

प्रतिबन्धक वृत्रासुर-बध के निरूपण से भक्ति कीं निःसन्देह प्रवृत्ति होगी– अर्थात् वध-काल में वृत्रासुर द्वारा भक्ति के निरूपण होने पर ही जगत् में भक्ति प्रवर्तित हुयी तथा होती रहेगी।

भागवत का प्रारम्भ गायत्री से ही किया जाता है। गायत्री वेद-माता हैं, अतः वेद-त्रयी के अर्थ का प्रतिपादन वही कर सकती है। तदनुसार, गायत्री का अर्थ यहां भागवत का बीजरूप माना गया है। जिस तरह वेद का बीज गायत्री है, उसी तरह भागवत का बोज भी गायत्री ही है। वेदमाता गायत्री के अर्थ का निरूपण यदि भागवत में किया जाये तो, भागतत का वेद से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता। जैंसा वेद है वैंसा ही भागवत है, क्योंकि दोनों का बीज एक ही है– और वह है गायत्री। तदनुसार जिस तरह वेद प्रमाण है, उसी तरह भागवत भी प्रमाण है। अतः भागवत वेद के समान है, वेद से भागवत में न्यूनता नहीं है। गायत्री के अर्थ का भागवत में बीजरूप से निरूपण होने के कारण, यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि भागवत, वेद से विरुद्ध अथवा न्यून-दुर्बल है, और इस प्रकार की शंका के समाधान के लिये प्रथम श्लोक में गायत्री का अर्थ प्रपिपादित किया गया है, जो बीजरूप है।

अब, यहां से दूसरे श्लोक की संगति का निरूपण इस तरह किया गया है कि जिस तरह वेद में फल तथा साधन सहित यज्ञ-सम्बन्धित समग्र पदार्थों का योग-बल से योगसिद्धि से अनुभव होता है, उसी तरह यहां भागवत में भी श्रीवेदव्यास ने, पुरुष का, माया से बन्धन की प्राप्ति का, भक्ति से बन्धन की मुक्ति का– इन तीनों का समाधि द्वारा साक्षात् अनुभव किया और इसी तथ्य को– "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं" इस पंक्ति द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसीलिये भागवत श्रीव्यास की समाधि-भाषा कहलाती हैं। पुरुष का प्रयत्न भक्ति की सिद्धि के लिये है और, भागवत का यही विषय है। "भगवान् में उसके माहात्म्य-ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ तथा सबसे अधिक स्नेह को भक्ति कहते हैं और ऐसी भक्ति से ही मुक्ति मिलती है, अन्य से नहीं। 'माहात्म्य-ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोधिकः– स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा"– नारद पंचरात्र अर्थात् वैष्णव-तंत्र के अनुसार यही भक्ति का स्वरूप है। अत्यन्तदृढ़ तथा सर्व से अधिक स्नेह तो प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के प्रति ही होता है, अन्य के प्रति नहीं। अतः प्राणी जब भगवान को अपनी आत्मारूप जानने लगता है, तव उसका भगवान् में सर्वतोधिक स्नेह होता है– इसी तरह, कोटि-ब्रह्मांडरूप इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि भगवान् के आधीन है, इस प्रकार के ज्ञान से जीव को प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान होता है। जीवमात्र में, भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान को तथा उनमें सुदृढ़ तथा सर्वतोधिक स्नेह को इन दोनों को सिद्ध करने के लिये यह भागवत–संहिता प्रकट की गयी है– इस प्रकार के स्नेह से ही भक्ति-सिद्ध होती है।

और इसी अभिप्राय को भागवत के द्वितीय श्लोक में व्यक्त किया गया है । यहां से, तृतीय श्लोक की संगति का इस तरह निरूपण किया गया है कि—

जिस तरह वेद का पूर्वकांड, यज्ञरूप परब्रह्म की क्रिया-शक्ति के प्रतिपादन द्वारा तथा जिस तरह वेद का उत्तरकांड परब्रह्म की ज्ञान-शक्ति के (ब्रह्मावगतिश्च) प्रतिपादन द्वारा– एक दूसरे के अर्थ के संपोषक, उपकारक है, उसी तरह, भागवत संहिता में यज्ञ तथा ब्रह्म–क्रिया तथा ज्ञान– ये दोनों ही साक्षात् तथा परंपरा से भक्ति के संवर्धक– हेतुभूत–माने गये हैं– अर्थात् निष्काम यज्ञादि करते रहने से चित्त-शुद्धि होती है, तदनन्तर, चित्त-शुद्धि से ब्रह्म-ज्ञान होता है और, ब्रह्म-ज्ञान से भक्ति होती है । तदनुसार, ज्ञान, भक्ति का साक्षात् कारण है तथा यज्ञादि भक्ति में, परंपरा से कारण है । क्रिया तथा ज्ञान– ये दोनों ही भक्ति में कारण हैं– और इसी के स्पष्टीकरण के लिये गायत्री को बीजरूप, वेद को वृक्षरूप तथा भागवत को फलरूप माना है । अतः यज्ञ तथा ब्रह्मज्ञान से संम्पन्न किंतु भागवत से अपरिचित व्यक्ति उतना ही निरर्थक-अधन्य-माना जायगा जितना फल-हीन एक वृक्ष । इसीलिये फलरूप भागवत का प्रकटीकरण उसका प्रारम्भ अनिवार्य है । तदनुसार, प्रारम्भ के तीनों श्लोकों में से 'जन्माद्यस्य' प्रथम श्लोक से बीजरूप गायत्री के अर्थ का निरूपण किया गया है । 'धर्मप्रोज्झित' इस द्वितीय श्लोक से वेदरूप वृक्ष का प्रतिपादन किया गया है तथा 'निगमकल्पतरोः' इस तृतीय श्लोक से भागवत को फलरूप से निरूपित किया गया है– और यही इन तीनों श्लोकों की संगति है ।

यद्यपि प्रणव-ओंकार को सर्व मंत्रों का बीजरूप माना गया है– 'स सर्वोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्'–इसी तरह– भूर्भुवः स्वः– व्याहृतियां भी वेद की बीज–रूप में परिगणित की गयी हैं, किंतु इनका अर्थ स्पष्ट न होने के कारण, यहां, गायत्री के अर्थ का ही निरूपण किया गया है । यहां अक्षरशः गायत्री मंत्र को उद्धृत न करके उसके अर्थ को ही प्रकट किया है । इसका कारण यह है कि अग्नि के उपस्थान में गायत्री का उपयोग होता है- और इसी का निरूपण 'सवितुः' गायत्री मंत्र के इस पद से– ब्राह्मण– भाग में किया गया है । तदुपरान्त मंदेह आदि दैत्यों के निवारणार्थ भी गायत्री से अभिमंत्रित जल को अर्घ्य द्वारा ऊपर उछाला जाता है– 'गायत्र्याभिमंत्रिता आप उर्ध्वं विक्षिपति' । ऐसी गायत्री के प्रत्येक उपयोग को सूचित करने के लिये, तथा गायत्री के अनेकों अर्थ हैं– उनमें से कौन-सा अर्थ शुद्ध है, यह भी स्पष्ट करने के लिये, यहां गायत्री मंत्र को अक्षरशः न कहकर, उसके अर्थ से ही भागवत का प्रारम्भ किया गया है । और, वास्तव में देखा जाये तो अग्नि के उपस्थान में प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान् का ही वर्णन करती है

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'– श्रुति के अनुसार, भगवान् अग्नि के अन्तर्यामी हैं तथा मंदेहादि दैत्यों का निवारण भी भगवत् सामर्थ्य से होता है। अतः अग्नि के उपस्थान में अथवा मंदेहादि के प्रशमन में प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान का ही निरूपण करती है– और यही तो गायत्री का अर्थ है। तदनुसार, भागवत के व्याख्यान में वाणी की निर्विघ्न प्रवृत्ति के लिये, गायत्री से भगवद् उपस्थान करते हुये 'जन्माद्यस्य' इस प्रथम श्लोक से गायत्री के अर्थ का निरूपण करते हैं।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि गायत्री मंत्र में 'सवितुः' तथा देवस्य यह दोनों पद षष्ठ्यन्त हैं, तदनुसार; इनका अर्थ यह होता है कि– (तत्) वह भगवान् जगत् का उत्पादक है (सवितुः), अतः कर्त्ता है, तथा देव (देवस्य) होने के कारण सर्वज्ञ है। गायत्री के इन दोनों पदों का अर्थ– अर्थात् 'सवितुः' और 'देवस्य' का अर्थ– यथाक्रम– 'जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरतः'– तथा 'अर्थेष्वभिज्ञः' पदों से किया गया है।

'वरेण्यम्' का अर्थ है– 'श्रेष्ठ'– जो श्रेष्ठ होता है उसी में भक्ति होती है। यहां ब्रह्म ही श्रेष्ठ हैं, अतः ब्रह्म ही भक्ति का विषय है। 'वरेण्यम्'– इस तरह भक्ति का बीज-हेतु है तथा भर्ग शब्द संसार की निवृत्ति का बोधक है– 'भर्जयत्यखिलाऽविद्याम्'– सम्पूर्ण अविद्या को जो भस्म करता है उसे 'भर्गः' कहते हैं। 'तेजोवारिमृदां' तथा 'धाम्ना'– ये दोनों पद, गायत्री के 'वरेण्यं' तथा भर्गः इन पदों के अर्थ रूप हैं।

उपर्युक्त गायत्री मंत्र की पंक्ति का, तदनुसार, यह अर्थ होता है कि जो सब को जन्म देता है– (तत्सवितुः– यहां सविता का अर्थ -'सूर्य' नहीं है, किंतु 'प्रसव' करने वाला– जन्म देने वाला है)– सर्वज्ञ है (देवस्य), श्रेष्ठ है (वरेण्यम्) तथा संसार का निवर्त्तक है (भर्गः), उसी का हम ध्यान करते हैं (धीमहि–सत्यं परं धीमहि)- प्रत्येक श्लोक में 'धीमहि' पद, गायत्री के 'धीमही' पद के ही अनुसंधान में समझना चाहिये। इस प्रकार की विशिष्टता वाले तत्व का पदार्थ का ध्यान अवश्य करना चाहिये, यही शास्त्र की आज्ञा है– 'धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा प्रेरयेत् यः समस्तानां तत् ध्यानं सर्वथा हितम्' – जो पदार्थ मन सहित समस्त इन्द्रियों और बुद्धि को प्रेरणा देता है उसी का ध्यान सर्वशः कल्याणप्रद होता है। श्री वेदव्यास, 'जन्माद्यस्य यतः' इस पंक्ति से उसी 'परं' पदार्थ के ध्यान का आदेश देते हुये भागवत–संहिता का मंगल–आरम्भ– मंगलाचरण करते हैं।

यहां से भागवत के प्रथम श्लोक की व्याख्या का प्रारंभ होता है–जन्माद्यस्य यतः-यहां यतः का अर्थ है, जिससे'–अर्थात् जिससे ,आद्यस्य' –आकाश का जन्म हुआ और यही अर्थ श्रुति भी करती है-,एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः। गायत्री के अर्थ में तो 'सवितुः' से 'प्रसव' -जन्म-

अर्थ ही लिया गया है, स्थिति तथा प्रलय नहीं। तदनुसार, उपर्युक्त 'जन्माद्यस्य यतः' के अर्थ में केवल 'जन्म'– सविता का ही निर्देश किया गया है।

स्थिति तथा प्रलय का अर्थ तो वरेण्यं तथा भर्गः गायत्री के इन अग्रिम शब्दों से पीछे से सूचित किये जाते हैं और जिसका अर्थ इसी श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा किया जायेगा। अर्थात् 'वरेण्यं' से स्थिति तथा 'भर्गः' से प्रलय' यथाक्रम यह दोनों अर्थ आगे कहे जायेंगे।

अथवा, गायत्री के– उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय– इस सूचितार्थ को लेकर भी इन तीनों ही अवस्थाओं का निरूपण, श्लोक-गत केवल 'जन्मादि' पद द्वारा भी, किया जा सकता है। श्रुति ने भी ब्रह्म से ही जगत् की उत्पति, स्थिति तथा लय का प्रतिपादन किया है– 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'– इत्यादि तदनुसार जन्मादि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय यह अर्थ द्विविध प्रकार से किया जा सकता है– प्रथम अर्थ इस तरह है– 'जन्म आदिर्यस्य स्थिति भंगस्य'–अर्थात् 'जन्म है आदि में जिसके ऐसा स्थिति–युक्त प्रलय'। यह अर्थ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास के अनुसार है– द्वितीय अर्थ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास के अनुसार इस तरहहै– 'जन्म है आदि में, जिस जन्म-स्थिति तथा लय के'। यहां इस अर्थ में 'जन्म' शब्द को उत्पत्ति, स्थिति तथा लय- इस समुदाय का विशेषण बनाया गया है। इस अर्थ में उत्पत्ति शब्द की पुनरुक्ति अथवा अधिकता नहीं माननी चाहिये। प्रस्तुत 'जन्मादि'- शब्दों से यहां- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'– इत्यादि सम्पूर्ण श्रुति का अर्थ ग्रहण किया गया है– अतः, इस प्रकार का यह अर्थ वेदार्थ का प्रतिपादक होने से, इसमें अधिकता के अर्थ का तथा पुनरुक्ति का दोष नहीं आता। इस तरह यह 'जन्मादि' का अर्थ हुआ। 'अस्य' का अर्थ है 'मन से भी जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती ऐसे कोटि ब्रह्माण्डरूप इस जगत् की' जिससे उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है। यहां–'मन से भी अचिन्त्य- 'कोटि ब्रह्माण्डरूप जगत्' के निर्देश द्वारा भगवान् के माहात्म्य का बोध कराया गया है। 'यतः' इस अव्यय के प्रयोग द्वारा, यह निरूपित किया गया है कि इस जगत् का उत्पादक होता हुआ भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है। जिस तरह कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि तथा मंत्र आदि से उत्पन्न होते हुये पदार्थ दीख पड़ते हैं, किंतु, कामधेनु आदि अविकृत ही रहते हैं, उनमें कोई विकृति नहीं होती, उसी तरह ब्रह्म अविकृत रहता है। श्रुति के इस कथन द्वारा यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि– 'यदि एक ही ब्रह्म अपने आपको ही 'जगत्' रूप बना देता है, तो इस तरह समग्र ब्रह्म के ही कार्यरूप होने पर, मूल कारणरूप ब्रह्म का ही उच्छेद हो जायेगा'। और यदि यह शंका हो कि ब्रह्म, जगत् का अंशी हैतथा जगत् उसका अंश है, तो यहां भी श्रुति से विरोध आयेगा, क्योंकि श्रुति ने ब्रह्म को निरवयव निष्कल तथा निष्क्रिय माना है– '(कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्दकोपो वा' ब्र. सू. २-१-२६' इस–

प्रकार की ब्र.सू. में जो शंका की गयी है)- तो इस शंका का भी निराकरण, श्रुति के इस कथन द्वारा, कि 'जगत् को उत्पन्न करता हुआ भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है, – हो जाता हैं।

'य आदिकवये– में 'यत्' शब्द है– अतः आगे 'तत् शब्द भी होना चाहिये, क्योंकि 'यत्–तदोर्नित्यसम्बन्धः'– किंतु श्लोक में 'तत्' शब्द नहीं है– अतः शब्द न्यूनता का दोष आता है अतः श्लोकान्वय में 'तत्' शब्द का अध्याहार करना चाहिये, किंतु, गायत्री मंत्र के अन्तर्गत 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' में जो 'तत्' शब्द आया है, उसी के अर्थ में, यहां– अर्थात् गायत्री के व्याख्यान रूप इस श्लोक में– 'सत्यं परं' ये दो पद विद्यमान हैं– तदनुसार, 'तत्' शब्द के अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार, ब्रह्म, जगत् का कारण है, इसका प्रतिपादन इससे हो जाता है।

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि अमुक मत में ब्रह्म को समवायिकारण तथा प्रकृति को निमित्त कारण माना गया है– और, अमुक के मत में इससे विपरीत अर्थात् प्रकृति को समवायिकारण और ब्रह्म को निमित्त कारण बताया गया है। अमुक के मत में, ब्रह्म केवल कर्त्ता ही कहा गया है–इन प्रत्येक पक्ष के परिहारार्थ ही मूल श्लोक में 'अन्वयात्' तथा 'इतरतः' इन पदों का प्रयोग किया गया है। यहां 'अन्वय' का अर्थ है समवायिकारण–जैसे, 'मृत्तिका' में से 'घट' आदि उसके कार्यरूप आकार बनते हैं यहां इस कार्यरूप 'घट' आकार की समावायि कारण' मृत्तिका है। 'इतरतः' का अर्थ निमित्त कारण है। उपर्युक्त उदाहरण में कार्य रूप घट का कुंभकार, चाक तथा दण्ड आदि निमित्त कारण है। जिस तरह 'घट' आदि कार्य में, समवायि उपादानकारण मृत्तिका तथा निमित्तकारण कुंभकार आदि पृथक्-पृथक् है, उस तरह इस कार्यरूप जगत् के दोनों कारण भिन्न-भिन्न नहीं है-अर्थात् जगत् का ब्रह्म ही उपादान-समयायिकारण है और ब्रह्म ही निमित्त कारण है। अभिन्न निमित्तोपादान ब्रह्म, जगत् का कारण है। इस श्लोक पंक्ति में– 'इतरतश्च'– 'च'कार का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जितनी भी कर्त्ता, कर्म, तृतीया, चतुर्थी आदि विभक्तियां हैं – 'यत्र येन यतोयस्य'– उन सबका अर्थ 'भगवान्' ही है– भगवान ही कर्त्ता, वही कर्म, वही साधन है– उसके लिये और उससे ही यह सब कुछ है और जिसका उल्लेख दशम स्कंध, उत्तरार्ध में, श्रीवासुदेवकृत स्तुति प्रसंग में किया गया है। इसी तरह, जगत् की स्थिति भी ब्रह्म में रहती है। जगत् के प्रलय आदि में, तदनुकूल आधार के रूप से, समवाय का ग्रहण किया गया है – अर्थात् तदनुकुल अपेक्षा के रूप से, ब्रह्म का, प्रलय-स्थिति में भी, जगत् से समवाय सम्बन्ध रहता है। इसी कारण ब्रह्म सूत्र द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में समवाय-सम्बन्ध का जो निषेध किया गया है, वह कणाद मुनि के न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत समवाय-सम्बन्ध का निषेध है, तादात्म्य-रूप सम्बन्ध का निषेध नहीं है। श्रीव्यास ने तो अपने

'तर्क पाद' वैनाशिक आदि से सम्मत समवाय का खंडन किया है, तादात्म्यरूप समवाय का नहीं यहां यह शंका होती है कि कार्य और कारण में जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है- अतः, प्रलयकाल में कार्य का नाश होने से वहां समवाय सम्बन्ध किसमें, और कैसे हो सकेगा- सम्बन्ध के लिये कार्य तथा कारण दोनों की आवश्यकता है- इसका समाधान यह है कि कार्यरूप जगत् का प्रलय काल में सर्वथा नाश नहीं होता- कार्य का केवल तिरोभाव होता है, नाश की दशा में भी जगत् की स्थिति अक्षर-ब्रह्म में रहेगी ही- इस तरह कार्य कारण के रहने से समवाय सम्बन्ध रहेगा और ब्रह्म समवाय कारण कहलायेगा।

यहां यह शंका होती है कि 'तत्सत्वे तत्सत्वम्'- जैसे जहां जहां वह्नि है वहां वहां धूम है- इस प्रकार के सम्बन्ध को- एक के होंने पर दूसरे का होना- अन्वेय' कहते हैं– तथा तत् अभावे तत् अभावः'- 'यत्र यत्र वह्निर्नास्ति'- तत्र तत्र धूमोनास्ति'- इस प्रकार सम्बन्ध को उसके न होने पर उसका न होना- व्यतिरेक कहा जाता है। तो फिर यहां 'अन्वय' का अर्थ समवायिकारण तथा 'इतर' का अर्थ निमित्त- कारण- कैसे हो सकता है ? इसका ससाधान यह है कि ब्रह्म जगत् का कारण है। किंतू इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है- यह तो एक वेद-सिद्ध प्रमाण है- और, इसीलिये यहां से प्रत्यक्ष सिद्ध अन्वय- व्यतिरेक नहीं माने जा सकते । अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार करने पर एक दोष यह भी है कि वहां व्यक्तिरेक में ब्रह्म का अभाव भी मानना पड़ेगा कितु, ब्रह्म का अभाव तो कहीं भी नहीं देखा गया। जब कि आकाश, पुष्प जैसी बुद्धि-कल्पित वस्तु की सत्ता भी, ब्रह्म से अन्वित होने के कारण ही भासित होती है- अर्थात्- आकाश, पुष्प की बाह्य सत्ता न होते हुये भी बुद्धि में सत्ता अवश्य है। आकाश-पुष्प के उच्चारण करते ही बुद्धि में अमुक पदार्थ उपस्थित होता है और उसकी सत्ता, ब्रह्म से अन्वित- अनुस्यूत- होने से ही है। इसो संदर्भ में यह कहा गया है कि जो कुछ है, जो कुछ नहीं है-' यदस्ति-यन्नोस्ति'- वह सब कुछ ब्रह्म-रूप से, निमित्त रूप से, अधिष्ठान रूप से प्रयोजक रूप से, ब्रह्म ही जगत् का कारण है- और इसी का निर्देश 'अन्वयादितरतश्च' पद द्वारा किया गया है।

ब्रह्म ही जगत् का कारण है और इसीलिए वह सर्वज्ञ कहा गया है। सर्वज्ञ हुये बिना, वह जगत् का कारण नहीं बन सकता। लौकिक व्यक्ति की तरह ब्रह्म 'फल' का जानकार नहीं है ऐसा कथन अनुचित है- और इसी का संकेत 'अर्थष्स्वभिज्ञः' इस पद द्वारा किया गया है। इस पद का वास्तव में गूढ़ तात्पर्य यह है कि ब्रह्म, पूर्ण वैराग्य से– निष्काम भाव से युक्त है, तथा उसे कोई पदार्थ ईप्सित नहीं,- और इसो हेतु से 'अर्थानामभिज्ञः'- अर्थो का जानकार- इस प्रकार

की कर्मषष्ठी का प्रयोग न करके– 'अर्थेषु अभिज्ञः'- अर्थों में जानकार- ऐसी विषय सप्तमी कही गई है- अर्थात् ब्रह्म, पदार्थों में अनासक्त रहता हुआ उनके विषय में जानकार अवश्य है। यहां 'अर्थेषु' बहुवनान्त पद है– क्योंकि ब्रह्म के एक प्रयोजन में, अनन्तों प्रयोजन होते हैं– एक प्रयोजन भी अनेकों प्रयोजनों के लिये हो सकता है– और, ब्रह्म उन सबका जानकार है।

ब्रह्म, प्रयोजन अथवा फल का जानकर होता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं है– अर्थात् इस निमित्त से उसे न हर्ष है न विषाद- इसी का सूचन करने के लिये–प्रयोजनवाची 'अर्थेषु' में तथा ज्ञानशक्ति-वाचक 'अभिज्ञः' में- इन दोनों पदों में- 'अर्थाभिज्ञः' इस तरह समास नहीं किया गया। 'अर्थाभिज्ञः' ऐसा समस्त पद न देकर, प्रयोजन-निर्देशक 'अर्थेषु' तथा ज्ञान-शक्ति निर्देशक 'अभिज्ञः' इन दोनों पदों का पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है। यहां 'अर्थ' शब्द प्रयोजनवाची है।

अथवा, 'अर्थेषु' में विषय सप्तमी से अर्थ न लगाकर, निमित्तार्थक सप्तमी से अर्थ किया जाये तो तात्पर्य यह होगा- 'पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये इस जगत् को उत्पन्न किया'। तथा 'अर्थेषु' का यह तात्पर्य होगा- 'एक ही प्रयोजन की प्रयोजन–कार्य-कारण-परंपरा'- और इस प्रयोजन परम्परा का भी उसे अभिज्ञः ज्ञान है। ब्रह्म ने, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये इस जगत् का निर्माण किया है। 'सभी जीवों की, सर्व-विध पुरुषार्थ सिद्धि के लिये, मैं इस जगत् का निर्माण कर रहा हूं'– यह वह ब्रह्म जानता है।

ज्ञान-मार्गीय यह मत कि ब्रह्म अपने लिये इस जगत् का निर्माण करता है, अशुद्ध है। भागवतकार के मत में 'ब्रह्म' स्वराट् है, वह अपने आप में ही रमण करता है– विषयों में नहीं। यद्यपि जीव भी, ब्रह्म के अपने ही रूप है, फिर भी स्वयं ईश्वर-ब्रह्म है तथा ये जीव ही है, ऐसे प्रकार भेद के कारण, ब्रह्म की 'स्वराट्' रूपता में कोई दोष नहीं आता। ब्रह्म अपने ही स्वरूप में स्वयं प्रकाशमान है– तथा विषयों में रमण नहीं करते। अथवा, विराट् के अन्तर्गत स्वराट् है और इसी कारण पूर्वोक्त सर्वसता का इससे समर्थन हो जाता है, अथवा, स्वयं को क्लेश नहीं– इसलिये ब्रह्म अपने ही आनन्द में रमण करते हैं। 'अन्तारमण' ही प्रलय का प्रयोजन है।

यहां तक उपर्युक्त श्लोक के प्रथम-पद द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस रूपात्मक जगत् का कारण ब्रह्म ही है। अब नामात्मक जगत् का अर्थात् वेद का कारण भी वही ब्रह्म है– इसका निरूपण 'तेने' इत्यादि पद द्वारा कहते हैं। यद्यपि यहां रूप-नामात्मक इस प्रपञ्च-द्वय का एकमात्र ब्रह्म ही कारण है– इसका विवेचन एक साथ ही किया जाता तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, तथापि, रूप-प्रपञ्च में तथा नाम प्रपञ्च में-इन दोनों में आसक्त रहने वाले जीव भिन्न-

भिन्न हैं, इसलिये नाम प्रपञ्च का पृथक् निरूपण किया गया है। बंध तथा मोक्ष दोनों भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं- यह निरूपण करने के लिये वेद का 'तेने ब्रह्म हृदा' पद से तथा जगत् का 'जन्माद्यस्य' पद से, अलग अलग निर्देश किया है- यद्यपि वेद में त्रिविध उत्पत्ति का ही निर्देश है, तथापि प्रलय के समय प्रपञ्च सूक्ष्म-संकुचित रूप से रहता है। जिस प्रकार वर्णों का अनेक भाषाओं के रूप में विस्तार है, उसी तरह श्रुति का भी, वेद की शाखाओं के भेद से विस्तार है।

यहां ब्रह्म पद का अर्थ वेद है, वेद का 'ब्रह्म' शब्द से जो उल्लेख किया गया, वह यह निर्देश करने के लिये कि वेद भी, ब्रह्म की तरह अविकृत है। ऐसे अविकृत वेद का, आदिकवि ब्रह्मा के लिये संकल्प मात्र से विस्तार किया- अर्थात् ब्रह्मा को, भगवान् ने, वेद का ज्ञान, हृदय-पूर्वक, मन:पूर्वक (हृदा) दिया। यहां 'हृदयपूर्वक' इस कथन से यह निर्देश किया गया है कि इस ज्ञान के अनुदान में प्रभु का अपना स्वार्थ भी निहित है। यहां 'हृदा' का अर्थ पुराण भी होता है- 'पुराणं हृदयं स्मृतम्'- तदनुसार, इसका यह अर्थ भी होता है कि भगवान ने पुराण सहित-(हृदा) वेद का ज्ञान आदिकवि ब्रह्मा को दिया। भगवान ने ब्रह्मा को वेद का बोध कराया, इसका प्रमाण श्रुति में मिलता है- 'यथा यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै' वेदांश्च प्रहिणोति- अर्थात् भगवान् ने ब्रह्मा को प्रकट किया तथा उनको वेदों का ज्ञान कराया। जितने भी गूढ़ अभिप्राय होते हैं वे हृदय में ही निगूढ़ रूप से रहते हैं- अत: यहां 'हृदा' का एक अर्थ यह भी है कि भगवान् ने अपने अंतरंग अभिप्राय का ब्रह्मा को बोध किया, और भगवान का अंतरंग अभिप्राय वेद में ही है, लोक में नहीं।

'तेने ब्रह्म हृदा य:'- इस श्लोक में 'य:' पद से गायत्री के 'धियो यो न: प्रचोदयात्' इस तृतीय पाद के 'य:' पद का ग्रहण किया गया है– तदनुसार, इस श्लोक पंक्ति का वही अर्थ होगा जो गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ है- अर्थात् गायत्री के 'सर्व प्रेरकत्व' का अर्थ ही उपर्युक्त श्लोक पंक्ति में संगृहीत है- अर्थात्, 'जिससे जन्मादि होते हैं और जिसने ब्रह्मा को वेद का बोध कराया, वही ब्रह्म सबका प्रेरक है'- इस तरह 'य:' पद द्वारा इस श्लोक पंक्ति में, गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ ग्रहण किया गया है। श्लोक पंक्ति द्वारा, गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ संगृहीत किया गया है- यह सिद्ध करने के लिये ही श्लोक में 'य:' पद का प्रयोग किया गया है- यदि यह अर्थ अभिप्रेत नहीं होता तो 'य:' पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योकि 'जन्माद्यस्य यत:' पद में प्रयुक्त 'यत:' में सार्वविभक्तिक 'तसि' के प्रयोग से 'यत:' को व्याकरण के नियमानुसार सभी विभक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है- तदनुसार 'तेने ब्रह्म हृदा य:'

इस पंक्ति में 'यः' की जगह 'यतः' का प्रयोग किया जा सकता था- किन्तु यह न करके 'यः' का प्रयोग ही किया- उससे यह स्पष्ट किया गया है कि गायत्री के तृतीय पाद का सम्पूर्ण अर्थ इस श्लोक पंक्ति में संगृहीत है।

आदिकवये- वेदमार्ग के सर्वप्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा ही हैं- इसलिये यहां 'आदिकवि' से ब्रह्मा का ग्रहण किया गया है। वेदों के अर्थ में निष्ठा रखनेवाले अन्य व्यक्तियों को भी, उसी रूप से, ब्रह्मरूप से ही, मुक्ति मिलती है, यह तात्पर्य है। आदिकवये- में ब्रह्मा के लिये कवि- पद के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट किया गया हैं कि वह शब्द-रस के ज्ञाता है। अथवा 'कवि' पद, परोक्ष रूप से ब्रह्मा का बोधक है- क्यों कि, 'परोक्षप्रिया वै देवाः- परोक्षं मम च प्रियम्'- देवताओं को परोक्ष-गुप्त-कथन प्रिय है। अतः परोक्ष कथन के लिये 'कवि'- पद दिया गया हैं- अथवा, कविलोग, अन्यथा कथन का सामर्थ्य भी रखते हैं-इसलिये भी कवि पद का प्रयोग किया गया है।

यदि केवल 'कवि' पद का ही प्रयोग किया जाता अर्थात् आदिकवये- में 'आदि' शब्द का प्रयोग न करते, तो केवल 'कवि'- पद से नवीन कवियों का भी ग्रहण किया जाता- और नवीन कवियों में दोष की संभावना होती है- किन्तु, यहां 'आदि' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट किया गया है- कि ब्रह्मा में कोई दोष नहीं, क्योंकि इनके सदृश दूसरा है नहीं।

अथवा, ब्रह्मा ने अनेक विध स्तोत्रों से भगवान् को संतुष्ट किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने ब्रह्मा को वेद के ज्ञान से प्रकाशित किया- इसका निर्देश करने के लिये भी, 'आदिकवि' पद का प्रयोग किया गया है।

मुह्यन्ति यत् सूरयः- ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के लिये वेदों की कोई उपयोगिता नहीं- उद्भट पंडित लोग भी वेदों के अर्थ में भ्रांत हैं-'यज्ञ लौकिक हैं, उनमें-यज्ञों में- जो वैदिकता है वह इसलिये कि उनके अनुष्ठान से फल की प्राप्ति होती है- अपनी इस मान्यता के कारण मीमांसक वेदार्थ में भ्रांत ही हैं- इसी तरह 'ब्रह्म, जीवों का केवल आत्मरूप है'- अपने इस मंतव्य के कारण सांख्य तथा योग मार्ग के पंडित भ्रांत हैं। केवल, वैदिक मार्ग वाले भ्रांत नहीं हैं। पौराणिक, यद्यपि सत्-कार्यवाद को मानते हैं, तथापि, उनका निरूपण 'पुरुष' तक ही सीमित है- 'पुरुषोत्तम' को नहीं जानते। अतः ये पौराणिक तथा इनका अनुसरण करने वाले भी, वेदार्थ में भ्रांत ही हैं। अपनो भगवद्-विमुखता के कारण ही इनकी वेदार्थ में भ्रांति रही। इसलिये, वेद के अर्थ को या तो भगवान् ही ज्ञानते हैं या भगवद्-संमुख रहने वाला जीव ही।

यहां यह शंका होती है कि, यदि ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी वेदार्थ नहीं जानता तो फिर मीमांसकादि की पद्धति से किये गये यज्ञादि से पुत्रादि रूप फल की जो प्राप्ति होती है, उसका क्या कारण ? इसका उत्तर यह है कि वेद, भगवद्‌–स्वरूप होने के कारण सर्व समर्थ है– इसीलिये विविध कामनाओं से आतुर प्राणियों की सर्व कामना की सिद्धि के लिये वेद का प्रचार हुआ है– और, इसी तरह उसकी अनेक शाखाओं का विभाग भी किया गया है-- और इसी तरह इस प्रकार के शास्त्रीय वाक्य--उद्धरण भी मिलते हैं यथा पहिले पुरूरवा की कामना-पूर्ति के लिये वेद--त्रयी उसके हृदय में उत्पन्न हुई, कभी हृदय में पुरुष रूप में वेद उत्पन्न हुयें--अथवा, 'वेद, पहिले ओंकार रूप में था'-- (वेदः प्रणव एवाग्रे) -- तत्पश्चात् उसका ऋग्-यजुः–साम इस तरह विभाग किया गया। वास्तव में तो--वेदों का सर्व प्रकार से उपयोग तो ब्रह्मा ने ही किया है। इसलिये, वेद के तात्पर्य को विना समझे ही जो लोग वेद का अन्य प्रकार से ही अर्थ करते हैं, वे सभी उपेक्षणीय हैं।

जीवों को, प्रपंच से बन्धन तथा वेद (ज्ञान) से मोक्ष मिलता है। भगवान् रूप–प्रपंच तथा नाम प्रपंच इन दोनों से ही क्रीड़ा करते हैं, यही भगवान् का माहात्म्य है।

इस तरह, भगवान्, पूर्ण गुण विग्रह से युक्त है-- यह प्रति--पादित करके, भगवान् के 'निर्दोषत्व' को सिद्ध करते हुये, 'भर्ग' शब्द का अर्थ कहते हैं--

'तेजो वारिमृदां यथा विनिमयः'-- भगवान् में माया तथा माया के कार्य का लेशमात्र भी नहीं है-- इसीलिये वह वरणीय--वरेण्य है, अथवा दोषरहित हैं। ('भर्ग शब्द गायत्री में' संसार की निवृत्ति करनेवाला' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है--अथवा, 'भर्ग' शब्द यहां भक्ति के बीज का निर्देश करता है।) दोषों के अभाव पक्ष में-- दो प्रकार के दोष कहे गये हैं- स्वयं हीं दुष्टता का संपादन करने का दोष, अथवा, सेवकों का उद्धार नहीं करने का दोष। इनमें से प्रथम दोष का-- स्वतः दुष्टता--संपादक--दोष का भगवान् में अभाव है। देह, इन्द्रिय तथा अंतःकरण के धर्मों का अपने में संबन्ध करना, यह स्वतः दुष्टता--संपादक रूप प्रथम दोष है और यह दोष प्रत्येक में होता है। इसलिये इनके दृष्टांत भी अनेकों है। इनके सात्विक, राजस तथा तामस भेद से भी अनेकों दृष्टांत हैं। दृष्टांत का आशय यह है कि जिस प्रकार, पृथिवी, जल, तेज, -- इनमें से एक की दूसरे में जो प्रतीति अथवा आभास होता है वह मिथ्या है- केवल देखने वाले की बुद्धि ही उस प्रकार की हो जाती है, किन्तु, वहां उस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार से,भगवान् में अथवा उनके अवतारों में, अथवा जिनको फल की प्राप्ति हो चुकी हैं ऐसे भक्तों में, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के धर्मों का संबन्ध मिथ्या है। अर्थात् तेज में जल की बुद्धि, जिस तरह मृगजल में, होती है-- जल में पृथवी की बुद्धि, जिस तरह

रात्रि के अन्धकार में जलाशय में, होती है; पृथ्वी में तेज की बुद्धि, जिस तरह मणि आदि में होती है, पृथ्वी में जल की बुद्धि, जिस तरह काच आदि में होती है, जल में चन्द्र-रूपी तेज की बुद्धि जैसे बादलों में होती है-और, तेज में वस्त्ररूप पृथ्वी की बुद्धि, जिस तरह चन्द्र-किरणों में, होती है–इसी तरह स्व-समान-सजातीय-पदार्थ में अर्थात् शुक्ति आदि में, रजत की भ्रांति होती है। एक वस्तु की दूसरी वस्तु है जो प्रतीति होती है वह देखने वाले की बुद्धि का भ्रम है, क्योंकि, वहां उस प्रकार की वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। जिस तरह ये पदार्थ जीवों की बुद्धि से कल्पित कर लिये जाते हैं, उसी तरह भगवान् में–तथा उनके अवतारादि में, देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्मों का संबन्ध भी जीवों की बुद्धि से परिकल्पित है, इसलिए मिथ्या है।

यत्र त्रिसर्गो मृषा– इस पंक्ति में 'यत्र' पद द्वारा, निमित्त तथा अधिकरण इन दोनों का ग्रहण किया गया है– अर्थात् वहां ब्रह्म में, तीनों गुणों के कार्यरूप जो देह, इन्द्रिय तथा मन हैं, अथवा इन गुणों के धर्म, अथवा इनके कारण (प्रकृति), अथवा इनके अधिकरण अथवा अर्थ-रूप रस, स्पर्श आदि हैं, उन सभी का, अध्यास नहीं है। संक्षेप में, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में प्राकृत गुण-कृत शरीर का तथा इन्द्रियादि का सम्बन्ध अथवा तत्कृत अध्यास नहीं है।

मायावादी की तरह यहां देह, इन्द्रिय आदि के केवल मिथ्यात्व-प्रतिपादन में 'मृषा' का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि, ब्रह्म, मिथ्याभूत देह, इन्द्रिय आदि का आधार है, ऐसा कहीं भी प्रसिद्ध नहीं– श्रुति ने ब्रह्म को सभी सत्य-वस्तुओं का आधार बताया है- 'सदायतना, सत्प्रतिष्ठा'। तदनुसार सर्व का आधार रूप ब्रह्म, सत्य स्वरूप है, इस कारण उसमें- देह तथा इनके धर्म, जीव को अपने अज्ञानादि दोष को लेकर अर्थात् अध्यास से ही प्रतीत होते हैं- और यही सिद्ध करने के लिये कि ब्रह्म में देह इन्द्रिय आदि धर्मों की प्रतीति मिथ्या है, तथापि केवल लोक-दृष्टि से तीनों गुणों के कार्यों की उसमें प्रतीति होती है, दृष्टांतों को उद्धृत किये हैं। (संक्षेप में यह तात्पर्य है कि ब्रह्म में देहादि के धर्म, लोक दृष्टि से प्रतीत होते हैं, अन्य धर्मों की अर्थात् प्राकृत की तरह देह, इन्द्रिय आदि धर्मों की ब्रह्म में प्रतीति होना मिथ्या है।)

तेजोवारि मृदाम्- तेज, जल तथा मृत्तिका इनमें से- जल में प्रवृत्ति है, तेज में प्रकाश है- किंतु मृत्तिका में न प्रवृत्ति है और न प्रकाश- इस प्रकार से वैधर्म्यों के स्पष्ट होते हुये भी जिस प्रकार एक में दूसरे का भ्रम होता है- जैसे जल में प्रकाश का, तेज में प्रवृत्ति का तथा मृत्तिका में प्रकाश (तेज) तथा प्रवृत्ति (जल) इन दोनों का भ्रम होता है, उसी तरह कोई भगवान् में देह, इन्द्रियों की कल्पना करके इनको चिदानन्द रूप बताते हैं। कोई चिदानन्द रूप ब्रह्म में देह-इन्द्रियों

आदि की कल्पना कर लेते हैं। कोई आवेशात्मक कृष्ण में जड़, जीव, का सम्बन्ध मानते हैं। कोई जड और जीव विशेष में ही सामर्थ्य है ऐसा मानते हैं। कोई शरीर में माया तथा माया से युक्त भगवान् के अध्यास की कल्पना करते हैं। कोई, माया-विशिष्ट भगवान में अपनी इच्छा से शरीर का सम्बन्ध होता है, ऐसा मानते हैं। इस प्रकार से मानने वाले इन सब की बुद्धि ही भ्रांत है, ब्रह्म में प्राकृत शरीर एवं इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म में देहादि का व्यवहार जिस प्रकार होता है, वह प्रकार हम अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। इस तरह, भगवान् में जड और जीव के धर्म मिथ्या हैं– यह प्रतिपादित किया गया। ब्रह्म में माया तथा माया के कार्य का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। और, इसीलिये वह वरणीय है– अर्थात् सुन्दर है। तदनुसार भगवान् में स्वतः दोष का अभाव है– इस प्रकार के पूर्वोक्त कथन का यहां प्रतिपादन हो जाता है।

अब, भगवान के भजनीय गुणों के वर्णन पूर्वक, उनके सेवकों द्वारा गुण का निरूपण किया जाता है- 'धाम्ना स्वेन'– भगवान् अपने स्वरूप की स्फूर्ति से ही सभी प्राणियों की सर्वविध अविद्या का नाश कर देते हैं। विना किसी साधन के, भगवान् का स्वरूप ही अविद्या का नाश कर देता है। इसमें कलि-काल आदि भी प्रतिबंध करने में असमर्थ हैं, क्योंकि यहां स्वरूप ही अविद्या का नाश करने वाला है– इसे 'प्रमेय' – बल कहते हैं।

देह, इन्द्रिय आदि में से अविद्या-जन्य-आत्मभाव की निवृत्ति होने पर, अर्थात् देहेन्द्रिय आदि में आत्मभाव रूपी कापट्य निवृत्त होने पर, अपने-अपने अधिकारानुसार, अर्थात् जिस प्राणी का जैसा अधिकार है, उसको उसके अनुरूप, अपने आप ही स्वतः-सिद्धि की प्राप्ति हो जायेगी– 'तस्मिन् निराकृते शिष्टं स्वत एम भविष्यति'। इस प्रकार के निरूपण द्वारा गायत्री के 'स' कारान्त 'भर्गस्' शब्द का अर्थ किया गया है। भर्ग का अर्थ है–'सर्व अविद्या का नाशक'– भर्जयत्यखिलाविद्यां'– (गायत्री मंत्र में 'भर्गस् ऐसा सकारान्त शब्द है– और इसी की यह व्याख्या की गई है।)

अब, गायत्री में– 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'–मे आये हुये 'तत्' शब्द की व्याख्या करते हैं। 'सत्यं परं धीमहि'- जो काल-त्रय से अबाधित, सर्वलोक प्रसिद्ध हो, उसे 'सत्य' कहते हैं– और जो श्रेष्ठ, पुरुषोत्तम-- रूप सर्ववेद-प्रसिद्ध हो, वह पर कहा जाता है। धीमहि का अर्थ हैं- 'जो कालत्रयाबाधित सर्वलोक तथा सर्ववेद–प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुषोत्तम है, उसका हम ध्यान करते हैं अथवा उससे प्रीति करते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् दिव्य स्वरूप से युक्त, निर्दोष तथा दिव्य पूर्ण गुण हैं। अतः परम सुन्दर हैं, वरण करने योग्य हैं- अर्थात् अविद्यानाशक तथा अत्यन्त सुन्दर होने के कारण भगवान् ही एकमात्र वरेण्य है।

गायत्री में तथा प्रस्तुत श्लोक में उभय में 'धीमहि' इस एक ही पद का समान पद का जो प्रयोग किया गया है, उससे यह निर्देश किया गया है कि भागवत को भी वैदिकत्व प्राप्त है- इसी हेतु से यह कहा जाता है कि यह भागवत पुराण वेद-सम्मत है। इस तरह यहां तक गायत्री-रूप बीजभाव का निरूपण किया गया है।

अब, वृक्षभाव का निरूपण करने के लिये, 'भागवत कल्पवृक्ष है,- यह प्रतिपादित किया जाता है-

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।

श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।।२।।

श्लोकार्थ : मात्सर्य आदि दोषों से रहित तथा कृपालुत्वादि गुणों से युक्त संत जनों के–भगवद्-भक्तों के- कापट्यादि से मुक्त परम धर्म का यहां भागवत में निरूपण किया गया है। यहां भागवत शास्त्र में, जानने योग्य उस परम वस्तु–तत्व का साक्षात् भगवान् का निरूपण किया गया है जो कल्याणकारी हैं तथा त्रिविध ताप का समूल विनाशक है। महामुनि श्री वेदव्यास ने इस दश-रस–युक्त भागवत का प्रणयन किया है–तो फिर, भगवद् अतिरिक्त अन्य पदार्थ का निरूपण करनेवाले अन्य शास्त्रों से प्रयोजन ही क्या ? इस भागवत शास्त्र का ऐश्वर्य इतना अमाप है कि इसके श्रवण की इच्छा करनेवाले महा भाग्यशाली जीव, तत्क्षण ही श्रवण करते ही ईश्वर को अपने हृदय–कमल के संपुट में अवरुद्ध कर लेते हैं- अपने वश में कर लेते हैं।

धर्मः प्रोज्झितकैतव इति। धर्मो ज्ञानं च साधनम्। भगवदाविर्भावः साध्यः। तदनु तत्र प्रवेशः फलम्। एतत्सर्वं भागवतादेव भवतीति विशिष्टकल्पद्रुमत्वम्। विधिसम्बन्धो धर्मलक्षणम्।

वेदश्च प्रमाणम् । स यज्ञात्मको धर्मः । आचारोऽपि धर्मः पौराणिकः । सत्यादयोऽपि धर्माः । तपःप्रभृतयश्च श्रवणादयश्च । तत्र यज्ञेषु पूर्वोक्तन्यायेनाऽतद्धेतोरपि फलसाधनतयोक्तरूपेण स्वर्गादिपदभ्रमजननाद्वा कापट्यं सम्भवति । आचारेऽपि "**शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुष्वि**"त्यादिन्यायेन प्रवृत्तिसङ्कोचार्थं गुणदोषौ विधीयतो इति कापट्यम् । सत्यादिष्वपि व्यवहारस्य सन्निपातत्वात्कापट्यम् । तपःप्रभृतिषु च "कः क्षेमो निजपरयोः कियान्वाऽर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण" । "कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतस" इति वाक्यात्कापट्यम् । सर्वत्र विहितनिषेधात्कापट्यप्रतीतिः । न तथा श्रवणादिषु किञ्चित्कापट्यमस्ति । तद्धर्मकर्तृष्वपि कापट्याऽभावः प्रशब्दार्थः । **प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं** यस्मात् । स श्रवणादिधर्मो भागवत एव । परमश्चाऽयम् । भगवद्धर्मत्वात् । परो मीयत इति भगवत्साक्षात्कारहेतुत्वाद्वा **परमः** । कर्तृवैशिष्ट्यादपि धर्मोत्कर्षमाह-**निर्मत्सराणां सतामिति ।** परोत्कर्षाऽसहनं **मत्सरो** दोषः । कृपालुत्वादिधर्मसम्बन्धो गुणः । दोषाभावगुणयुक्ता अस्य धर्मस्य सम्बन्धिन इत्युत्कर्षः । अन्यत्र मात्सर्यादयः स्पष्टा एव । ज्ञानमप्यत्रैवेत्याह-**वेद्यमित्यादि । अत्र वास्तवं वस्तु वेद्यम्** । यज्ञब्रह्मकालपुरुषा एव सर्वत्र वेद्या उक्ताः । तेषामपि वस्तुस्वरूपो भगवानत्रैव वेद्य उक्तः । तदेव हि वास्तवं रूपं सर्वेषाम् । किञ्च । स्वप्रकाशस्याऽपि वेद्यताऽत्रैव शास्त्रे सिद्धा नाऽन्यत्र । अन्यत्र वेद्यस्याऽवास्तवत्वं, वस्तुनश्चाऽवेद्यत्वमिति स्थितिः । अविद्यावद्विषयत्वं च । भागवते तु मुक्तानामधिकारः । सर्ववेद्यस्याऽपि भगवतस्तदिच्छया प्राकट्ये वेद्यत्वम् । अन्यत्र पर्यवसितबुद्धीनामेव तादृशे अवास्तवत्वप्रतीतिः । सर्वेषां वा वास्तवं रूपं वेद्यमिति । यज्ञादिषु कृतेषु च न शान्तपरमानन्दाऽवाप्तिः पारलौकिकत्वाच्च तस्य फलस्य । साम्प्रतं दुःखानुभवश्च । आत्मज्ञानेऽपि शान्तता, परं न परमानन्दः । तस्यैव परमानन्दत्वं शास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् । भगवत्साक्षात्कारे त्वन्ततः सायुज्ये वा शान्तपरमानन्दः । तत्क्षणमेव तापत्रयस्योन्मूलनम् ! तस्मादत्रैव फलं साधनं चेति ज्ञानोत्कर्षः । शब्दरसाभिज्ञानामपीदमेवोत्कृष्टमित्याह । **श्रीमति** लक्ष्मीयुक्ते **भागवते,** दशरसयुक्त इति यावत् । काव्येष्वप्येतच्छायारूपमस्ति । तथापि निन्दितत्वम् । कर्तृदोषात् । तदत्र शङ्कितमपि नेत्याह–**महामुनिकृत इति** । वेदव्यासकृत इत्यर्थः । समाधावनुभूय कृतत्वात्समाधिभाषार्थं महामुनिकृतमित्युक्तम् । असाधारणमुपासनाकाण्डोत्कर्षमाह । मन्त्रशास्त्रमुपासनाकाण्डः पञ्चरात्रं च । तत्र मन्त्रशास्त्रे देवता स्वाधीना भवति । परं नेश्वररूपा । पञ्चरात्रेऽपि मन्त्राऽधिष्ठानस्वरूपेणैव स्वाधीनता । तथा स्थानाधिष्ठानेष्वपि । साक्षात्पुराणपुरुषस्त्वत्रैव हृद्यवरुध्यः । **अत एव परै**र्भगवद्व्यतिरिक्तप्रतिपादितैर्भेदेन प्रतिपादितैर्वार्तैर्वा **किं?** न किञ्चिदित्यर्थः । वाशब्दस्त्वनादरे । अत्र तु **ईश्वरः** कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः अदृष्टकालादिबाधकं परिहृत्य कर्त्तुं, अदृष्टादिकृतं दूरीकर्त्तुं च, भ्रान्तेष्वन्यथाकर्तुं च समर्थ **ईश्वरः सद्य इति** भागवतश्रवणमात्रेण हृदयाऽऽरूढो भवति विचारचिन्तनव्यतिरेकेणाऽपि । अत्र प्रतिपादकानां महापुरुषत्वात्तद्वाक्यं

दुर्बोधमिति बोधनप्रकारमाह– **कृतिभिः शुश्रूषुभिरिति** । बुद्धेः कौशलं कृतित्वमुक्तबोधोपयोगि । शुश्रूषा तु कथनोपयोगिनी । तदुभयसम्पत्तौ तत्क्षणादेवाऽवरुध्यत इत्यर्थः । अथवा । भागवतस्योत्कर्षमाह– **किं वा परैरिति** । भागवतस्योत्कर्षहेतुभिरन्यैरुक्तै रलम् । वेत्यनादरे । अर्थतः शब्दत उत्कर्षप्रकारा बहवः सन्त्येव । तथाप्ययं महानुत्कर्षः । **यद्भगवानेव सद्यो हृद्यवरुध्यते** । **कैः ? अत्र शुश्रूषुभिः** श्रवणेच्छुभिः । सा श्रवणेच्छा महाभाग्यैरेवेत्याह । **कृतिभिः** कुशलैः । भाषात्रयविरोधपरिहारेण पदवाक्ययोर्भगवत्परता हि ज्ञातव्या । **अन्यथा** श्रुतमप्यश्रुतं भवति । **तत्क्षणादिति** । **तदानीमेव भगवदर्थं** प्रयत्नदर्शनात् । **तस्मात्मात्सर्वोत्कृष्टं भागवतमिति** वस्तुनिर्देशः ।।२।।

सुबोधिनी : धर्म और ज्ञान साधन है, भगवान् का आविर्भाव साध्य है– अर्थात् धर्म और ज्ञान से भगवान् का आविर्भाव होता हैं, तदनन्तर, उसमें प्रवेश को प्राप्त करना ही फल है। यह सब भागवत से ही संभव है। अतः भागवत एक विशिष्ट कल्प-वृक्ष है – अर्थात्, भागवत इच्छित से भी अधिक देता है। जिसका 'विधि' से सम्बन्ध हो, अर्थात् जो विधि-बोधित हो, वह धर्म है– और यही धर्म का लक्षण है– अर्थात् किसी भी कार्य को करने में वेद की आज्ञा को धर्म कहते हैं। धर्म में वेद प्रमाण है। वैदिक धर्म यज्ञात्मक है । आचार, पौराणिक धर्म है। सत्य, तप तथा श्रवण आदि भी धर्म हैं। अब, प्रथम श्लोक के कथनानुसार, वेद–विहित यज्ञादि धर्म में महान् पंडितों को भी मोह-भ्रांति होती है। वास्तव में देखा जाये तो स्वर्गादि लोक की प्राप्ति-रूप फल के लिये यज्ञ करने का विधान नहीं है, यज्ञादि का विधान तो श्रीकृष्ण के आनन्द की उपलब्धि के लिये है– ऐसी स्थिति में 'स्वर्ग-कामोयजेत' इस प्रकार के कथन द्वारा यज्ञादि को स्वर्ग का साधन बताते हुये भ्रम उत्पन्न किया जाता है। इसलिये, वैदिक–धर्म में कापट्य की संभावना है।

आचार धर्म में भी 'शुद्धचशुद्धी विधियेते समानेष्वपि वस्तुषु– इत्यादि कथन द्वारा एक-सामान पदार्थों में भी भिन्न भिन्न प्रकार से शुद्धि और अशुद्धि का विधान माना गया है– गुण तथा दोष का यह विधान, प्राणियों की आचार-धर्म में प्रवृत्ति कराने की एक युक्ति मात्र हैं- अर्थात् आचार धर्म में मनमानी प्रवृत्ति रोकने के लिये, गुण-दोष का यह विधान किया गया हैं । अतः आचार धर्म में भी कापट्य है। सत्यादि धर्म, व्यवहार-दशा में असत्यादि से मिले रहते हैं । अतः उनमें भी कापट्य है। इसी तरह तप आदि धर्मों में भी कापट्य है । अपने और पराये का उपकार करनेवाले तपो-धर्म द्वारा अपना तथा अन्य का कल्याण अथवा अर्थ किस तरह सिद्ध किया जा सकता है ? अन्यत्र गीता में तो तप आदि धर्म की निंदा की गयी है– शरीर में स्थित पंच महाभूतों को तप आदि से जो कष्ट देते हैं वे मूढ़ हैं। इस तरह सर्वत्र विहित का निषेध किया

जाने के कारण, कापट्य की प्रतीति होती है।

श्रवणादि धर्म में, ऐसा, किसी भी प्रकार का कापट्य नहीं। श्रवणादि करने वाले भक्तों में भी कापट्य का अभाव हैं। यहां कापट्य के एकांत अभाव का निर्देश 'उज्झित' के पूर्व 'प्र' उपसर्ग के प्रयोग द्वारा किया गया है। अर्थात् भागवत में कापट्य धर्म का 'प्रकर्षरूप से' सर्वथा अभाव है। कपट-रहित श्रवणादि धर्म भागवत से ही सिद्ध किया जा सकता है। भगवद्-धर्म होने के कारण, यह परम धर्म है। अथवा, इससे 'परोमीयते' पर श्रीकृष्ण जाने जा सकते हैं- इसलिये, अथवा, यह धर्म भगवत साक्षात्कार में हेतु है, इसलिये भी इस धर्म को 'परम' श्रेष्ठ कहा है। श्री व्यास जैसे विशिष्ट महानुभावों से आचरित होने के कारण भी यही धर्म उत्कृष्ट है, और, इसी का निर्देश, 'निर्मत्सराणांसताम्' इस पंक्ति द्वारा किया गया है।

दूसरों के उत्कर्ष को सहन नहीं करना मत्सर-दोष कहलाता है। कृपालुता आदि धर्म सम्बन्धी विषय गुण कहलाता है। जो व्यक्ति दोष से रहित तथा गुण से युक्त हैं, वे ही इस श्रवणादि धर्म के सम्बन्धी हैं- अधिकारी हैं- अन्य नहीं, और, इसी में भागवत धर्म के उत्कर्ष की सिद्धि है। इससे अन्य धर्मों में ईर्ष्या आदि, मात्सर्य आदि स्पष्ट ही हैं। ज्ञान भी भागवत में ही निरूपित हुवा है, और इसीलिये जानने योग्य वस्तु तो भागवत में ही है- 'वेद्य' वास्तवमत्र वस्तु' इस प्रकार का कथन किया गया है। अन्यत्र तो यज्ञ-ब्रह्म-काल तथा पुरुष ये चार ही विषय जानने योग्य- वेद्य बताये गये हैं। किन्तु यहां भागवत में तो इन चारों का ही वास्तविक रूप (वस्तु-स्वरूप) जो साक्षात् भगवान् है, वही जानने योग्य कहे गये हैं, क्योंकि, भगवान् ही सब के 'वास्तविक' रूप हैं। तदुपरांत, अपने आप से ही प्रकाशित भगवान् यहां भागवत शास्त्र में ही जाने जा सकते हैं, अन्यत्र नहीं। क्योंकि, अन्य शास्त्रों में वेद्य-वस्तु (जानने योग्य पदार्थ) अवास्तविक हैं ओर जो वास्तविक वस्तु है वह अवेद्य है जानने योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में, अन्य शास्त्रों मैं निरूपित विषय, अविद्या से युक्त व्यक्तिओं के लिये हैं- अर्थात् अन्य शास्त्रों में अविद्याग्रस्त जीवों को अधिकार है, किन्तु, भागवत में तो केवल मुक्त जीवों को ही अधिकार है।

सब के लिये अवैध होते हुये भी, भगवान्, भागवत धर्म में अपनी इच्छा से प्रकट होते हैं, तथा वेद्य बनते हैं। अन्य शास्त्रों में जिनकी बुद्धि समाप्त हो गयी है, अथवा लगी हुयी है उन्हीं को यहां साक्षात् भगवान् में अवास्तविकता की प्रतीति होती है, अथवा, वास्तव में देखा जाये तो, प्रत्येक व्यक्ति को, वास्तविक स्वरूप की जानकारी- वेद्यत्व- यहां ही प्राप्त हो सकती है।

यज्ञादि करने से, अथवा उनको जान लेने से- शांति तथा परम आनन्द प्राप्त नहीं होते,

क्योंकि यज्ञादि द्वारा प्राप्त होने वाला फल 'पारलौकिक' हैं- ऐहिक नहीं। अतः जब तक इहलोक में स्थिति है, तब तक तो दुःखानुभव ही करना होता है। आत्म-ज्ञान से भी शान्ति मिलती है, किंतु परन आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञानी के लिये इसी परमानन्द का निषेध शास्त्रों द्वारा किया गया है। भगवत् साक्षात्कार अथवा अन्ततः सायुज्य होने पर ही शान्ति तथा परमानन्द दोनों ही मिल जाते हैं- और प्राप्ति समकाल मे ही- तत्काल ही उसके ताप-त्रय का उन्मूलन हो जाता है। इसलिये, श्रवणादि धर्म वाले को तो साधन और फल यह दोनों यहां भागवत मे ही प्राप्त हो सकते हैं- और इसीलिये, ज्ञान की अपेक्षा श्रवणादि धर्म उत्कृष्ट माना गया है।

शब्द रस को भलीभांति समझने वालों के लिये भी यही भागवत ही उत्कृष्ट है- इसी का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में 'श्रीमद्-भागवते' इस पद द्वारा किया गया है। यह भागवत श्री से युक्त श्रीमद् है, अर्थात् भक्ति-रस सहित दश रस से युक्त है। जितने भी काव्य हैं उनमें यद्यपि इसकी छाया अवश्य है, तथापि काव्य निन्दित है, क्योंकि, उनके रचयिता सदोष हैं। यहां भागवत में कर्तृ-दोष की, अर्थात् उसके प्रणेता में दोष की शंका करना ही व्यर्थ है, क्योंकि यह श्रीमद् भागवत तो महामुनि की रचना है- अर्थात् सम्यक् मनन करने वाले- महामुनि- श्रीवेदव्यास द्वारा प्रणीत है। वेदव्यास ने समाधि में अनुभव करके इसको रचा है। इसी समाधि-भाषा का निर्देश करने के लिये यहां 'महामुनि-कृते' - इस पद का प्रयोग किया गया है- तदुपरांत इस पद से यह भी सूचित किया गया है कि इस भागवत का प्रणयन, समाधि में जैसी वेदव्यास को भगवान ने प्रेरणा दी, उसी के अनुसार मनन पूर्वक यह भागवत आलेखित की गयी है। वेदव्यास का कथन है कि मैंने स्वतन्त्रतया इस भागवत की रचना नहीं की है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इसमें भागवत में-कर्तृ-दोष नहीं है।

मंत्र-शास्त्र तथा पंचरात्र उपासना काण्ड है, इस उपासना काण्ड से भी अधिक असाधारण उत्कर्ष से युक्त यह भागवत है। मंत्र शास्त्र में देवता स्वाधीन होते हैं, किंतु वे ईश्वररूप नहीं है। पंचरात्र में भी देवता, मंत्र के अधिष्ठान रूप से ही स्वाधीन होते हैं, इसी तरह स्थान विशेष में- अर्थात् मथुरा आदि में भी, उसमें आवेश रूप से ही- स्थान-स्वरूप से ही- स्वाधीनता है। अर्थात् पंचरात्र के अनुसार उपासना करने वाले के तथा मथुरा आदि में निवास करने वाले के हृदय में, भगवान अवरुद्ध नहीं होते। साक्षात् पुरुषोत्तम तो यहां भागवत से ही हृदय में अवरुद्ध होते हैं। इसीलिये, भगवान से अतिरिक्त अन्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से, अथवा इससे भिन्न रूप से प्रतिपादित शास्त्रों से कौन-सा

फल सिद्ध किया जा सकता है? कोई भी नहीं। इसी का निर्देश 'किंवा परैः'–पद से किया गया है यहां 'वा' का अर्थ 'अनादर' है– अर्थात् भगवद्-अतिरिक्त अन्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र, अथवा भिन्न रूप में प्रतिपादन करने वाले शास्त्र अनादरणीय हैं। श्रीमद् भागवत में तो ईश्वर ही प्रतिपादित है– यह ईश्वर, करने में, न करने में, तथा अन्यथा करने में समर्थ हैं– अदृष्ट तथा काल आदि के भी बाधक हैं– दूर करनेवाले हैं। इनको दूर करके, जो करना हो वही कर सकते हैं, अदृष्टादि से किये गये प्रतिबंध को दूर करने में समर्थ है। जो भक्त भ्रांत हो गये हैं, उनकी भ्रांति को दूर करके, उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं– यहां 'ईश्वरः' से यही तात्पर्य है। यही ईश्वर, श्रीभागवत के श्रवण मात्र से ही, विचार अथवा चिंतन किये बिना भी, तत्क्षण हृदय में आरूढ़ हो जाते हैं।

श्रीमद्-भागवत का प्रतिपादन करने वाले ब्रह्मा, नारद आदि महापुरुष होने से उनके वाक्य दुर्बोध हैं। उनका आशय यथावत् समझ में नहीं आ सकता– इसलिये उनके सम्यक् बोधन के प्रकार का निर्देश करते हुये कहते हैं कि 'कृतिभिः शुश्रूषुभिः'– जो व्यक्ति कुशल बुद्धि वाला है तथा श्रवण की उत्कट इच्छा से युक्त है, उनको भागवत का ज्ञान होता है– अर्थात् बुद्धि का कौशल भागवत के बोधन में उपयोगी है, तथा श्रवण की इच्छा कथन में उपयोगी है। अतः जिसमें कृतित्व है और जो सुनने की इच्छा रखता है, उसको इस ज्ञान का कथन उपयोगी है। इन दोनों के होने पर भगवान् तत्क्षण ही हृदय में आरूढ़ हो जाते हैं।

अथवा, 'किंवा परैः- इस पंक्ति में भागवत के उत्कर्ष का कथन है– अर्थात् भागवत के उत्कर्ष में अन्य अनेक हेतु हैं। उन सभी का यहां उल्लेख करने से कोई लाभ नहीं। अर्थ से तथा शब्द से, भागवत की उत्कृष्टता के, यद्यपि बहुत से प्रकार हैं- तथापि इनमें सबसे अधिक महान् उत्कर्ष तो यह है कि साक्षात् भगवान् को ही श्रवण की परमोत्कट इच्छा वाले भक्तजन, शीघ्र ही हृदय में पधरा कर रोक लेते हैं– इस प्रकार की यह श्रवणेच्छा परम भाग्य से ही होती है– और इसी का निर्देश यहां 'कृतिभिः' पद से किया गया है। यहां कृति का अर्थ 'कुशलता' है। परमत भाषा लौकिकी भाषा तथा समाधि– भाषा इन तीनों भाषाओं से विरोध न आये, इस तरह पद और वाक्यों की भगवत्परता को जानता हुआ जो कुशल व्यक्ति इस श्रीमद् भागवत को सुनता है, उसी के हृदय में भगवान् तत्क्षण पधार कर, वहां ही निवास करते हैं, अन्यथा सुना हुवा भी, अनसुना जैसा ही हो जाता है। यहां 'तत्क्षणात्' का तात्पर्य यह है कि इस तरह श्रवण करने वाले का, उसी समय, भगवत् प्राप्ति के लिये प्रयत्न देखा गया है।

इस समस्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रीमद् भागवत सबसे उत्कृष्ट है। इस प्रकार यहां वस्तु का निर्देश हुआ है।

यहां अनुबंध-चतुष्टय इस प्रकार हैं–

१. विषय- ईश्वर,
२. प्रयोजन-तापत्रय का उन्मूलन,
३. अधिकारी- सत्पुरुष,
४. सम्बन्ध- विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव।२।

अब, भागवत की फलरूपता का प्रतिपादन किया जाता है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ : पृथ्वी पर रहने वाले भावना-चतुर हे, रसिको, वेदरूपी कल्पवृक्ष से परिपक्व होकर स्वतः गिरे हुये शुक मुख को प्राप्त अतएव भक्ति रस से परिपूर्ण, मोक्षानन्द को तिरस्कृत करने वाले तथा प्रपञ्च को निवृत्त करने वाले, भागवत रूप रस का पुनः पुनः पान करो।

निगमकल्पतरोरिति। काव्यवद्रूपकनिरूपणे स्पष्टोऽर्थो भवति यद्यपि तथापि भागवते तथा कथनमनुचितम्। सर्ववेदसारोद्धारत्वात्। रूपकादिकं तु बुद्धिपरिकल्पितम्। अतो वाच्यार्थ एव वक्तव्यः। तत्र प्रमेयस्याऽप्रसिद्धावप्येतद्वाक्याऽन्यथानुपपत्या तादृशं प्रमेयमस्तीति बोद्धव्यम्। तत्र व्यापिवैकुण्ठेऽक्षरात्मके प्रणवबीजो वेदतरुरस्ति। ततो व्यासाख्यभगवदवतारे, आदिनारायणावतारे वा, सर्वजनाह्लादनाय मूर्तीभूतं देवतात्मकं तस्य फलमानीतम्। तदत्र निरूप्यते। मध्वादिवत्। तत्र "असौ वा आदित्यो देवमध्वि" ति स्वर्गस्थानां सूर्यो मधु। यथाऽस्माकं सारघम। तथा स्वर्गे कल्पवृक्षवद्वैकुण्ठेऽपि वेदैकसमधिगम्ये शब्दरसात्मकः कल्पवृक्षः। न तु लक्षणा। वेदस्योत्कर्ष आर्थिकः। नितरां गमयति ब्रह्म बोधयतीति परमोपनिषन्**निगमः**। एव **कल्पतरुः** सर्वफलदानसमर्थः। कल्पः स चाऽसौ तरुश्चेति कल्पतरुः। निगम एव कल्पतरुः। अतिपक्वं हि फलं **गलति** स्वत एव पतति। आगमनसमये पतितं शकुनमिव फलं समानीतमिति भावः। शुको व्यासपुत्रो मुक्तत्वादत्राऽधिकारी। पिता ह्युत्कृष्टं पुत्रमुखे प्रयच्छति, फलं च विशेषतः। तच्च रसात्मकं, निर्झरैर्जलमिव सर्वेन्द्रियैः सम्बद्धं प्रेमरसं जनयति। तदेकीभूतं हृदये ह्रद इव तिष्ठति। तत्र भागवतं संश्लिष्टं सद्भक्तिरसाऽऽलोडितं मुखान्निस्सरतीति। शुकमुखं प्राप्य **अमृतं** मोक्षमपि **द्रावयति** शिथिलं करोतीति भक्तिरसोऽमृतद्रवः। तेन संयुतम्। अनेनाऽन्यरसादप्यधिकरस उक्तः। यद्यपि वृक्षोत्कर्ष एव तादृशफलजननादायाति, तथाप्युत्कर्षहेतुः फलजननमिति प्रकृतोत्कर्षः। अथवा। शब्दात्मके वृक्षे शब्दात्मकमेव

फलम् । सर्ववेदार्थविचारे भगवद्धृदय एव फलितम् । निर्द्धारितार्थप्रतिपादकशब्दराशिः । **शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नाऽन्य इत्यर्थतः फलम्** । अयमर्थो गोप्योऽपि भक्तचिन्तया परवशस्य भगवतो हृदयादागतमिति गलितम् । अन्ये भगवद्रूपा अवतारा अधिकारिणो वा । अतोऽत्यन्तविरक्ते शुके ग्रन्थार्थः फलितः । अतस्तद्धृदये भक्तिरसः स्थितः । भागवतं च स्थितम् । मुखान्निर्गमनसमये समानाधिकरणभक्त्या सह निर्गच्छतीति तथेत्यर्थः । सम्यग्योगो हि यथाकथञ्चिच्छ्रवणेऽप्यधिकारिहृदये भक्त्यावेशात् । **पिबते**त्युपदेशः । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इतिवत् । बहिःस्थितस्येन्द्रियादिद्वारा अन्तः– प्रवेशनं पानम् । तद्द्रवद्रव्यस्येति रसमित्युक्तम् । **भागतमिति** ग्रन्थनाम । **भगवत्सम्बद्ध**मिति वा । शब्दश्रवणेनाऽर्थज्ञानाद्रसास्वादनमतिरिक्तमिव भवति । सीत्कारेण तस्य पानात् । तथा भागवतं पातव्यम् । न तु श्रवणमात्रं कर्तव्यमित्यर्थः । त्वगस्थ्यादिकं तु नास्ति । निर्बीजदाडिमबीज वत् । रसात्मकान्यपि कानिचित्फलानि सन्ति । यथा पृथिव्यादयो रसा उद्गीथान्ताः । तथा रसात्मकस्य भागवतो भागवतं रसः । तत्स्पर्शनमात्रयोग्यं न भवति किन्तु पानयोग्यमित्यर्थः । अस्य रसस्य ब्रह्मतामाह-**आलयमिति** । सर्वाधारभूतं, आ समन्ताल्लयो यस्मादिति सर्वप्रपञ्चलयहेतुभूतं वा **आ** ईषल्लयो मोक्षो यस्मादिति वा । मोक्षेच्छां परित्यज्य तत्पातव्यमिति । **मुहुरिति** व्यासस्य परवशत्वमापादयति । अन्यथा रसिकाः स्वयमेव पास्यन्तीति व्यर्थं वचनं स्यात् । मुहुः पानं वा विधीयते रसज्ञानाय । प्राकृतकर्णैरापाततस्तद्रसास्वादनं न भवतीति । वक्ष्यति च "परस्परं त्वग्दुणवादसोधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा" इति । **अहो रसिका** इत्याश्चर्येण सम्बोधनम् । भवतामेवार्थेऽयं रसः समानीत इति । भूमौ भावुकाः भविष्णवः । भावनाचतुरा वा । विस्मृतेऽपि रसे भावनया रसाभिनिवेशं कुर्वन्तीति मुहुः पानं सम्भवति । भुवि भाग्यवतां च बहुवचनेनैकस्य रसाभिनिवेशो न भवतीति सूचितम् । ३ ।

सुबोधिनी : काव्य में जिस प्रकार रूपक अलंकार के सहारे किसी का निरूपण करते हैं, उसी तरह यहां भी 'कल्पतरु' पद से, रूपक का आधार लेने से यद्यपि अथ स्पष्ट किया जा सकता है, फिर भी भागवत सर्व वेद का साररूप है, तथा रूपकालंकार केवल बुद्धि की कल्पना मात्र है, इसलिये यहां रूपक का वर्णन सर्वथा अनुचित है । इसलिये, यहां तो वेद ही कल्पतरु है– 'निगमकल्पतरु'– इस तरह वाच्यार्थ ही कहना होगा ।

यद्यपि वेद, कल्पवृक्ष है, इस तरह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, तथापि 'निगमकल्पतरु' इस वाक्य के अन्यथा अनुपपन्न होने से, अर्थात् वेद ही कल्पवृक्ष है ऐसा अर्थ न किया जाये तो, निगम कल्पतरु पद का यथार्थ अर्थ नहीं हो सकता । इसलिए वेद ही कल्पवृक्ष है यही मानना चाहिये ।

यहां अक्षरात्मक व्यापिवैकुंठ में प्रणव-बीज से अंकुरित तथा विकसित एक वेद-वृक्ष है तदनन्तर, व्यास रूप में जब भगवान् ने अथवा आदिनारायण ने अवतार लिया, तब सव जनों के हृदय को आनन्द देने के लिये, वह मूर्त्तिमान् आधिदैविक फल यहां लाया गया। उसी का यहां निरूपण किया जाता है।

यहां यह शंका होती है कि शब्द का मूर्त्त रूप तथा रसात्मक रूप तो अप्रयोजक है, फिर यहां ऐसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है—

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'– इस श्रुति से सूर्य का वेदात्मकरूप निश्चित होते हुये भी, मधु-विद्या में सूर्य का मूर्त्त रूप तथा रस रूप सिद्ध है– 'असौ वा आदित्यो देवमधु'- अर्थात् यह सूर्य देवताओं के लिये मधु है, रसात्मक रूप है। जैसे हमारे लिये पुष्प-पराग से एकत्रित किया गया मधु है, उसी तरह स्वर्ग में कल्पवृक्ष है और इसी तरह एकमात्र वेद से ही जाना जा सके, ऐसे वैकुण्ठ में भी शब्द-रसात्मक कल्पवृक्ष है, इसलिये यहां रूपक मानकर लक्षणा से अर्थ नहीं करना चाहिये- यह तो वेदों का आर्थिक उत्कर्ष है- और, इसीलिये- वेद का नाम 'निगम' कहा गया।

जो ब्रह्म का निरन्तर ज्ञान कराता है, उस परमोपनिषद् को निगम कहते हैं। और, यह निगम ही कल्पतरु है, क्योंकि यह सर्व प्रकार के फल-दान करने में समर्थ है। और, ऐसे कल्पवृक्ष का यह श्रीमद्भागवत गलित-फल है, अत्यन्त पक्व फल वृक्ष से अपने आप नीचे गिर जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रीव्यास, इस गिरे हुये फल को एक शुभ शकुन के रूप में यहां आते समय अपने साथ लेते आये। व्यास के पुत्र शुक, मुक्त होने के कारण यहां इस फल के अधिकारी हैं। पिता, अपने पुत्र को उत्कृष्ट वस्तु ही खिलाता है और यदि फल हो तो उसको देने का विशेष आग्रह रहता है। तदनुसार व्यास ने अपने पुत्र शुक को यह भागवत रूप फल दिया और यह फल रसात्मक है, इसका आस्वाद, निर्झर से जल की तरह उत्पन्न सर्व इन्द्रियों से संवर्द्धित प्रेम रसको, प्रवाहित करता है। सर्व-इन्द्रियों से प्रसवित यह प्रेम-रस एकत्र होकर हृदय में, हृद की तरह भर जाता है। वहां हृदय में, प्रेमरस से संश्लिष्ट भागवत, भक्ति-रस से आलोड़ित होकर मुख से बाहर निकलता है। शुक मुख से निकला हुआ यह रस, अमृत (अर्थात् मोक्ष) को भी, द्रावित (अर्थात् शिथिल) कर देता है– ऐसा यह भक्ति रस, साक्षात् अमृत--द्रव से युक्त है। इससे यह सिद्ध होता है, कि यह भागवत, अन्य सभी प्रकार के रसों की अपेक्षा अधिक रस-युक्त, उत्कृष्ट रस से परिपूर्ण है।

यद्यपि इस प्रकार के उत्तमोत्तम फल को उत्पन्न करने में वृक्ष का उत्कर्ष सिद्ध होता है,

किंतु वृक्ष के उत्कर्ष का हेतु यहां फलोत्पत्ति है, अतः यहां प्रधानरूप से फल का ही उत्कर्ष माना जायेगा, न कि वृक्ष का वृक्ष का उत्कर्ष, उसके उत्तमोत्तम फल को लेकर है स्वतंत्र नहीं। अथवा, शब्दात्मक वृक्ष का फल भी, शब्दात्मक ही होता है । सर्व वेदों के अर्थ का विचार करते हुये भगवान् के हृदय में ही यह भागवत फलित हुआ है। इसीलिये इसका शब्द-समूह निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला है। इसका शब्द राशि से प्रतिपाद्य अर्थ-रूप फल यह है कि शुद्ध प्रसन्न चित्त तथा ब्रह्म-विद्या में कुशल पुरुष ही भगवान् की सेवा करने के योग्य है, अन्य नहीं। भागवत का यह अर्थ 'गोप्य' होते हुये भी भक्त की चिन्ता से परवश भगवान् के हृदय में से निःसरित हुआ है और इसी का निर्देश यहां 'गलितम्' इस पद से किया गया है। इसीलिये भागवत का यह गोप्य गलितार्थ, अन्य भगवद्रुप अवतारों तथा अधिकारियों में फलित न होकर अत्यंत विरक्त श्रीशुक में यह ग्रंथार्थ फलित हुआ है। इसीलिये, उनके हृदय में यह भक्ति-रस तथा भागवत दोनों ही स्थित हैं। श्रीशुक के मुख से जब भागवत निःसरित होती है, तब वह भक्ति-रस को साथ ही में लेकर बाहर निकलती है– अर्थात् भागवत तथा भक्ति रस इन दोनों का परस्पर उत्तमोत्तम योग है और 'संयुतम्' का यहां यही अर्थ है। इस तरह इन दोनों के इस उत्तम योग से, भागवत का जैसे-तैसे श्रवण करने पर भी अधिकारी के हृदय में भक्ति का आवेश होता है। वेद में 'स्वाध्याय का अध्ययन करो'– 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'- ऐसा उपदेश है– इसी तरह 'भागवत-रस का पान करो'- 'पिबत'- यहां भी यह उपदेश है। इन्द्रिय आदि, द्वारा बाहर स्थित रस के अन्तः प्रवेशन को पान कहते हैं, ऐसा पान प्रवाही द्रव्य का ही किया जा सकता है, और, इसीलिये, भागवत को यहां रस-रूप कहा है ।

भागवत– यह ग्रन्थ का नाम है, अथबा, जो भगवान् से सम्बद्ध हो वह भागवत कहलाता है। शब्द को सुनकर, अर्थ का ज्ञान होने पर, उस शब्द के रस का एक लोकोत्तर जैसा आस्वादन होता है- जैसे दूध आदि का सीत्कार पूर्वक पान करने से एक भिन्न प्रकार के ही रस का अनुभव होता है। इसीलिए शब्दार्थ के ज्ञान पूर्वक भागवत का पान करना चाहिये, केवल श्रवण मात्र ही नहीं ।

यह फल छिलके तथा गुठली रहित है । बेदाना-दाड़िम– के दाने जैसा है। अमुक फल केवल रसमय भी होते हैं, जैसे शहतूत गोस्तनी आदि । जैसे पृथ्वी आदि के रस उद्गीथ पर्यन्त हैं, उसी तरह, रसात्मक भगवान का रस यह श्री भागवत है। ऐसा रस केवल स्पर्श करने के योग्य ही नहीं है, किंतु वह पान करने के योग्य है।

यह रसात्मक फल ब्रह्म-रूप है– रसमालयम्–अर्थात् यह रस, सर्व का आधारभूत है, अथवा आसमन्तात् लयो यस्मात् आलयम्-यह रस, सर्व प्रपंच के लय का हेतु रूप है, अर्थात्,

इसका एक बार पान करने पर, जगत् में पुनः आगमन नहीं होता। अथवा, इस भागवत-रस के समक्ष मोक्षानंद भी तुच्छ है– आ–ईषद्, लयो– मोक्षो, यस्मात्–इसीलिये, मोक्ष की कामना को त्याग करके भी, इसी का- भागवत-रसका- पान करना चाहिये।

'पुनः पुनः पान कीजिये'- मुहुरहो– इस से श्रीव्यास की परवशता का निर्देश किया गया है। श्रीव्यास इस रस के इतने आधीन हो गये हैं कि श्रोताओं को इस रस का पुनः पुनः पान करने के लिये आग्रह करते हैं। अन्यथा यदि रसिक पुरुष स्वयं ही इस रस का पान करने लग जायेंगे, तो श्रीव्यास का पुनः पुनः पान करने का कथन ही व्यर्थ हो जायेगा। अथवा, रस का पूरा ज्ञान तभी हो सकता, जब वह बार-बार पीया जाये। लौकिक कर्णों से इस रस का आपाततः आस्वादन नहीं हो सकता। इसलिये, कर्णों की लौकिकता को निवृत्त करने के लिये ही इस रस का पुनः पुनः पान करने के लिये कहा गया है। इसी का कथन– 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापित देह धर्माः– इस पंक्ति द्वारा अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि परस्पर में निरन्तर किये गये भगवद् गुणानुवादरूप अमृत से भगवदीयों की देह के लौकिक धर्मों की निवृत्ति पूर्वक अविद्या नष्ट हो जाती है। इसीलिये यहां इस रस को पुनः पुनः पीने के लिये कहा गया, जिससे कर्णों की लौकिकता निवृत्त हो जाये और साथ में लोकोत्तर आस्वादन का अनुभव भी हो।

श्लोक में 'अहो रसिकाः' इस प्रकार आश्चर्य की अभिव्यक्ति पूर्वक संबोधन किया गया, इसका आशय यह है कि हे रसिको! आप लोगों के लिये ही यह अमृत द्रव से सम्पूर्ण भागवत भूतल पर लाया गया है, क्योंकि यहां पृथ्वी पर अपने जीवन को सफल बनाने वाले आप स्वयं ही हैं– अथवा, भावना करने में चतुर हैं– कदाचित् रस का विस्मरण हो जाये, किंतु आप अपनो भावना से भी रस में अभिनिवेश कर सकते हैं– और इस तरह–रस का पुनः पुनः पान करना सम्भव है। भूतल पर जो भाग्यवान् 'भावुकाः' है, उनको भी इस रस के पुनः पुनः पान की प्राप्ति होती है। यहां 'भावुकाः' बहुवचनान्त है। अतः पान करने वाले बहुत से बताये गये हैं, जिससे यह सूचित किया गया है कि एक को रस का अनुभव नहीं होता, परस्पर अनेकों को मिलकर– एकत्रित होकर, इस रस का पान करना चाहिये ॥३॥

इस प्रकार बीज-भाव, मध्य (वृक्ष) भाव तथा फलरूपता का निरूपण करके, सभी श्रोताओं को– अभिमुख–सावधान–करके, शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है :—

नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ।।४।।

श्लोकार्थः (१) जहां ब्रह्मा से छोड़े गये मनोमय-चक्र की नेमियां (आरे) विशीर्ण हुयी थी, ऐसे विष्णक्षेत्र (अनिमिष-क्षेत्र) में, मंत्रदृष्टा शोनकादि ने एक हजार वर्ष में पूर्ण होने वाले 'सहस्र-सम' नाम के यज्ञ को लोकाधिदैविक देवविशेष शरीर की प्राप्ति के लिये सत्रारम्भ किया ।

नैमिश इति । अत्र भागवतस्य परम्परागताः सप्ताऽर्थाः कथार्थतोऽतिरिक्ता भवन्ति । अतो नाऽन्यटीकासु ते निरूप्यन्ते । ते हि निबन्धे—"**शास्त्रे, स्कन्धे, प्रकरणेऽध्याये, वाक्ये, पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यत**" इति निरूपिताः । तत्र आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थः । भक्तिजनिका हि संहिता । सृष्टयादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिर्भवति, न कार्यत्वे । कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला । तदा हि महत्वं निर्दुष्टत्त्वं च भवति । सा च लीला मुख्या दशविधा "**अत्र सर्गो विसर्गश्चे**" **ति** श्लोकेन निरूपिता । सा च तृतीयादिदशस्कन्धैर्निरूप्या । श्रोतृवक्तृलक्षणं प्रथमे । अङ्गनिरूपणं द्वितीये । अतो द्वे गौणलीले । एवं द्वादश । तत्र प्रथमे स्कन्धेऽधिकारिलीला निरूप्यते हीनमध्यमोत्तत्वतो भागवतार्थज्ञाने प्रकारबोधनाय । न हि सर्वैरेकविधं भागवतं बुध्यते । सूतशौनकाभ्यां बुद्धमेकविधम् । तथा नारदव्यासाभ्यामपरविधम् । तथा शुकपरीक्षिद्भ्यामुत्कृष्टम् । एवं त्रैविध्यनिरूपणेन यथाधिकारमर्थाविबोधो भविष्यतीति फलिष्यति । तत्र प्रथमं हीनाधिकार उच्यतेऽध्यायत्रयेण प्रश्नोत्तराभ्याम् । प्रश्न एकविधः । उत्तरं द्विविधमिति । तत्र श्लोकद्वयेन प्रश्नसङ्गतिमाह स्वरूपसङ्गति भेदेन । तत्र स्वरूपमाह-**नैमिश इति** । पुण्यतीर्थे पुण्यक्षेत्रे यज्ञादिभि शुद्धाः यज्ञरूपभगवदाविष्टा भगवत्प्रश्ने प्रथमाधिकारिणः स्वरूपतोऽधिकारिणः । नेमिः शीर्यत इति नेमिशम् नेमिशमेव **नैमिशम्** । प्रजापतिसृष्टस्य मनोमयचक्रस्य ऋषीणां तपःस्थानज्ञानार्थं "**यत्राऽस्य नेमिः शीर्यत**" इति पुण्याधिक्यमुक्तम् । **नैमिष** इति पाठे यत्र निमिषमात्रेण दानवबलं निहितमिति नेमिषम् । सर्वदोषनिवारकम् । तस्य क्षेत्रस्य विष्णुर्देवतेत्याह—**अनिमिषक्षेत्र इति** । अनिमिषो विष्णुस्तस्य क्षेत्रे दोषाऽभावगुणावुक्तौ ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः शौनकादय इति प्रसिद्धा ऋषिपरम्परायाम् । **सत्रम्** । **सहस्रसम**मिति नाम यस्य । सहस्रवत्सरसाध्यम् ।

---

(१) एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते । यत्रास्य शीर्यते नेमिः सदेशः तपसः शुभः ।।
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् । प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ।।
भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यते । कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् ।।
(वायवीय)

यत्र यजमाना एव सर्वे ऋत्विक्कर्म कुर्वन्ति तत्सत्रम् । तत्र पूर्वं सहस्रसंवत्सरे सत्रे तत्राऽलौकिकभगवदाविर्भावो दृष्टः । "विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासते" त्यादौ । तथाऽत्रापि सहस्रसम आरब्धे भागवतरूपस्य भगवत आविर्भावो भविष्यतीति ज्ञात्वा ऋषीणां सत्राऽऽरम्भ इत्यर्थः । **स्वर्गाय** । भगवदानन्दांशभूतः स्वर्गः । लोकात्मकस्तु महानंशः । स ह्यत्र फलम् । न तु स्वर्गीयत इति स्वर्गायो विष्णुः । स चाऽसौ लोकश्चेति । "**सुवर्गाय वा एतानि लोका (?) हूयन्त**" इति श्रुतिविरोधात् । सच्च सुखविशेषशरीरः । देवविशेषो लोकरूपः । "**देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवदि**" त्यत्र तथा निर्णयात् । सत्रे सर्वत्र **आसतिरेव** कृतिवाची । एवं तेषां स्वरूपोत्कर्ष उक्तः ।।४।।

सुबोधिनी : यहां भागवत के परंपरागत सात अर्थ, कथा के अर्थ से अतिरिक्त, होते हैं, इसलिये, उनका अन्य टीकाओं में निरूपण नहीं किया गया । किंतु तत्वार्थ दीप निबंध में इनका निरूपण किया गया है– यथा– भागवत का, शास्त्र में, स्कंध में, प्रकरण में, अध्याय में, वाक्य में, पद में अक्षर में– इस तरह सात प्रकार से, परस्पर अविरोधक-पूर्वक एक ही अर्थ जानने वाला संशय से मुक्त हो जाता है । यहां आनन्दरूप भगवान् की लीला ही इस भागवत शास्त्र का अर्थ है । यह भागवतसंहिता भक्ति की जननी है । 'सृष्टि आदि भगवान् की लीला है, ऐसा ज्ञान होने पर भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है, किंतु 'सृष्टि' आदि भगवान् का कार्य है, इस प्रकार का माहात्म्य ज्ञान, भक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता । और, इसीलिये उपनिषद् आदि के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि, इनमें सृष्टि आदि को भगवान् का कार्य कहा है, लीला-रूप नहीं कहा । भगवान् का, कुतूहलतावश अनायास-विना श्रम के– किया गया कर्म लीला कहलाता है । सृष्टि आदि को भगवान् की लीला मान लेने पर ही, भगवान् की महत्ता एवं निर्दोषता सिद्ध होती है । लीलार्थ कर्म में– खेलमें– दोष नहीं होता । यह लीला मुख्यतया दश प्रकार की है (सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय), जिसका निरूपण 'अत्र सर्गो विसर्गश्च' इस श्लोक द्वारा किया गया है । यह दश विध लीला, तृतीयादि स्कंध से (द्वादश स्कंध पर्यंत) दश स्कंधो में निरूपित की जायेगी । प्रथम स्कंध में श्रोता तथा वक्ता के लक्षणों का वर्णन है । द्वितीयस्कंध में अंग का निरूपण है । अतः ये दोनों गौण लीलायें हैं । इस तरह कुल बारह लीलायें हैं- द्वादश स्कंध हैं ।

भागवत के अर्थ को समझने में, हीनाधिकारी मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के पृथक्-पृथक् प्रकार भेद बताने के लिये, यहां प्रथम स्कंध में 'अधिकारी लीला' का निरूपण किया गया है, क्योंकि सभी मनुष्य एक ही प्रकार से भागवत का अर्थ नहीं समझ सकते । हीनाधिकारी सूत और शौनक से जाना गया भागवतार्थ एक प्रकार का है– तो, मध्यमाधिकारी नारद और व्यास ने

इस अर्थ को दूसरे ही प्रकार से जाना तथा उत्तमाधिकारी शुक और परीक्षित ने इसी का अर्थ तृतीय उत्तम प्रकार से समझा। इस तरह भागवत में तीन प्रकार के अधिकारियों का निरूपण होने से यही प्रतीत होता है कि इसके अर्थ का बोध यथाधिकार - अधिकारानुसार - फलित होगा। इस संदर्भ में, पहिले, प्रश्न तथा उत्तर पूर्वक, तीन अध्यायों में– हीनाधिकार का कथन किया गया है। अर्थात्. जिसका जैसा अधिकार, उसके अनुसार उसको वैसा ज्ञान होगा। प्रश्न, एक प्रकार का है, उत्तर दो प्रकार के। यहां स्वरूप तथा संगति के भेद से(अर्थात्, प्रश्नकर्त्ता के स्वरूप से तथा वक्ता की संगति से) दो श्लोकों द्वारा प्रथम, 'प्रश्न' की 'संगति' कहते हैं।

नेमिशे, इत्यादि द्वारा 'स्वरूप' के विषय में कहा गया है– अर्थात् जिस क्षेत्र में यह भागवत सत्र प्रारम्भ हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है, यह कहते हैं। जो व्यक्ति, पुण्य क्षेत्र में यज्ञादि से परिशुद्ध है तथा जिनमें यज्ञ रूप भगवान का आवेश है, वे भगवद्-विषयक प्रश्न में स्वरूपतः अधिकारी अर्थात् (प्रथम) हीनाधिकारी हैं।

(नेमिश पुण्यक्षेत्र ही है) जहां चक्र की नेमियां विशीर्ण हुयी हों, वह नेमिष कहलाता है। नेमिश ही नेमिश है। अर्थात्, ऋषियों के योग्य तपः स्थान बताने के लिये, प्रजापति द्वारा फेंके गये मनोमय धर्म-चक्र की नेमि जिस स्थान पर शिथिल हो गयी, वही स्थान निमिषारण्य कहा गया है, और वहां ही पुण्य-प्रचुरता है। जहां 'नेमिष' ऐसा पाठ है, वहां यह अर्थ करना चाहिये– 'निमिष मात्र में जहां दानव-सेना का संहार कर दिया गया हो वह नेमिषारण्य' । और इसी कारण से यह स्थान सर्व-दोषों का निवारक माना जाता है। इस क्षेत्र के देवता 'विष्णु' हैं– यह निर्देश करने के लिये इसे अनिमिषक्षेत्र' भी कहते हैं– 'अनिमिष'- अलुप्त दृष्टि- विष्णु का नाम है– विष्णु का यह क्षेत्र दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त है। यहां ऋषियों की परम्परा में सुप्रसिद्ध शौनकादिमन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए इन ऋषियों ने सहस्त्र-सम नामक सत्र को प्रारम्भ किया। यह सत्र हजार वर्ष में पूर्ण होता है, इसलिये, इसे 'सहस्त्रसम' कहते हैं । जिस यज्ञ में सभी यजमान ऋत्विजों का कर्म करते हों, उसे 'सत्र' कहते हैं। यहां, जैसे बहुत पहले सहस्त्रसम सत्र में अलौकिक भगवद् आधिर्भाव हुआ था, जिसका वर्णन 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्र मासते' में किया गया है, उसी तरह यहां फिर सहस्त्रसम-सत्र के करने से भागवतरूप भगवान् का आविर्भाव होगा, यह जानकर ऋषियों ने यह सत्र प्रारम्भ किया।

स्वर्ग तो भगवान् के आनन्द का अंशभूत है– और, लोकात्मक स्वर्ग, भगवान् के आनन्द का महान् अंशरूप है, और, उसी की प्राप्ति यहां फलरूप कही गयी है। अन्य टीकाकारों ने यहां

'विष्णु-लोक' की प्राप्ति को फल माना है। उन्होंने श्लोकोक्त 'स्वर्गाय- लोकाय' का अर्थ विष्णु-लोक किया है– स्वर्गीयते इति स्वर्गायो विष्णुः, सचासौ लोकश्च– इति विष्णु-लोक- अर्थात्, जिसकी प्रशस्ति स्वर्ग में की जाती हो उसको– स्वर्गीय– विष्णु कहते हैं। तदनुसार 'स्वर्गाय-लोकाय' का अर्थ विष्णुलोक हुआ। इस अर्थ से सुबोधिनीकार सम्मत नहीं हैं, क्योंकि यह अर्थ किया जाये, तो श्रुति से विरोध आता है– सुवर्गाय वा एतानि लोका हूयन्ते–यहां 'सुवर्गाय–स्वर्गाय' का अर्थ है – भगवद्-आनन्द-रूप नित्य आत्म-सुख'– 'इसी नित्य-आत्म-सुख के लिये 'सुवर्गाय' इन इन्द्रादि लोक-प्राप्ति की कामनाओं का तथा अन्य विसर्जनी द्रव्यों का होम होता है। क्योंकि, इन्द्रादिलोक में 'केवल सुख' नहीं है–यह सुख वहां ईर्ष्या अभिमान आदि दुःखान्त भावों से, युक्त है–तथा क्षयिष्णु अस्थिर है। और यही श्रुति का निर्णय है 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवत्– देवताओं के लिये स्वर्ग-लोक-अर्थात् 'सुख विशेष शरीर से युक्त देव-विशेष लोकरूप स्वर्ग'– तिरोहित हो गया। इसीलिये, गृह-विमान आदि होते हुए भी उनको– देवताओं– को सुख नहीं मिला।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्रादि पांच नित्य- यज्ञों की आकृति करते हुये, सहस्र वर्ष में संपूर्ण होने वाले दीर्घ सत्र के अनुष्ठान द्वारा, कोई भी व्यक्ति इन्द्रलोकादि- लौकिक-फल की कामना कदापि नहीं करेगा, क्योंकि इस प्रकार का यह फल, क्षयिष्णु अस्थिर है। अतः इस प्रकार के नित्य यज्ञ का कोई अलौकिक फल होना चाहिये– और, रसात्मक भागवत रूप भगवान् के आविर्भाव से अतिरिक्त अन्य और कौन-सा अलौकिक, नित्य तथा अक्षय्य फल हो सकता है? अतः यहां इसी 'नित्य आत्म-सुख रूप' फल की सिद्धि के लिये– अर्थात्, भगवदानन्द के महान् अंशरूप लोकात्मक स्वर्ग-फल के लिये- ऋषियों ने इस सुदीर्घ एवं नित्य सत्र का प्रारम्भ किया है– विष्णु-लोक की प्राप्ति के लिये नहीं।

वेद में जहां-जहां 'यज्ञ किया' ऐसा मंत्र आता है, वहां-वहां 'कृ' करना धातु की जगह 'आस्' धातु का प्रयोग किया जाता है। सत्र में सर्वत्र 'कृति–वाची 'आसति' का ही प्रयोग होता है– तदनुसार, यहां 'आस' धातु का अर्थ है 'करना'। इस प्रयोग के द्वारा ऋषियों का स्वरूपतः उत्कर्ष बताया गया है।४।

अब यहां वक्ता की संगति कहते हैं:—

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ।।५।।

अनुवाद :- एक समय नित्य नैमित्तिक हवन से निवृत्त होकर मुनियों ने, सत्कार-प्राप्त करके आसन पर विराजमान श्रीसूत पौराणिक से आदरपूर्वक, यह पूछा- (यह बात पूछी जिसका वर्णन इससे आगे किया जायेगा)।

त एकदेति। उत्सर्गकालोऽयं, दीक्षाकालो वा। नित्यनैमित्तिकसर्वहोमान्कृत्वा, **भगवत्कथाश्रवणार्थे सावकाशा** जाता इत्याह—**प्रातर्हुतहुताग्नय इति**। **एकदेति** हरिगाथोपगायनकाल उक्तः। **तदैव सूतादीनामागमनम्**। **मुनय** इत्यलौकिकपरिज्ञानमुक्तम्। येन सूतपरिज्ञानं भवति। तत्प्रसङ्गेऽन्येषां **प्रश्नव्यावृत्यर्थं त** इति। **प्रातरेव हुता** एवाऽग्नयः **पुनर्हुता** येषां ते **प्रातर्हुतहुताग्नयः**। न च वेदविरोधश्शङ्कनीयः। **तुशब्देन** पक्षान्तरस्वीकारात्। तथाकरणे मननं हेतुः काल गुणविशेषपरिज्ञानात्। अत एवाऽग्रे वक्ष्यति "कर्मण्यस्मिन्ननाश्वास" इति। **सत्कारः** सम्भाषणादिना **ब्रह्माऽऽसनदानेन वा**। सूतः पौराणिक उग्रश्रवाः। ब्राह्मणानां सदस्यन्येषामनुपवेशनात्। उत्थितस्य **च** पुनर्वैयग्र्यात्कथान्यूनभावाच्च तन्निराकरणाय **आसीन**मित्युक्तम्। भगवत्कथारसाभिनिवेशादहमहमिकया सर्वैः पृष्ट इति बहुवचनम्। **इदमिति**। वक्ष्यमाणम्। सूतस्य **भगवदादरात्**प्रच्छुरादरेण वा। सर्वत्र भगवत्कथायामान्तरो भावो मुख्यः। न तु वाक्यमात्रम् ।। ५ ।।

सुबोधिनीअर्थ :— 'त एकदा'। यह उत्सर्ग अथवा दीक्षा का समय है- इसलिये ऐसे समय में मुनि लोग नित्य-नैमित्तिक सभी प्रकार के होम आदि से निवृत्त होकर, भगवत्कथा सुनने के लिये सावकाश हो गये थे। इसी का निर्देश 'प्रातर्हुत हुताग्नयः' से किया गया है। यहां 'एकदा' से 'हरिगाथा के उपगायन काल का' सूचन किया गया है- क्योंकि, ऐसे समय में ही सूत आदि का वहां आगमन हुआ था। 'मुनयः' इससे यह संकेत किया गया है कि मननशील होने के कारण ये मुनिगण अलौकिक परिज्ञान से सम्पन्न है- परिणामतः उनको श्रीसूत के स्वरूप का सर्वशः ज्ञान है, अर्थात् 'श्रीसूत हमारे से जिज्ञासित अर्थ को जानते हैं'- यह भी इन मुनियों को ज्ञान है। श्लोकोक्त 'से' पद का अभिप्राय यह है कि उक्त प्रसंग में, शौनकादि ऋषि ने ही श्रीसूत से प्रश्न किया, दूसरों ने नहीं। प्रातर्हुत हुताग्नयः - मुनियों ने प्रातः जिन अग्नियों में हवन किया था, उन्हीं अग्नियों में फिर हवन किया। इस श्लोक- पंक्ति में 'हुत' पद दो बार आया है- प्रथम 'हुत' पद से नित्य किये जाने वाले होम का तथा द्वितीय 'हुत' से नैमित्तिक होम का सूचन किया गया है- अर्थात् मुनियों ने प्रथम, नित्य हवन किया, पीछे नैमित्तिक हवन किया। दूसरी बार होम करने का वेद में निषेध है- इसलिये, वेद से विरोध आयेगा, यहां ऐसी शंका अनुचित है। क्योंकि, श्लोक में 'तु' अव्यय द्वारा, 'पूर्वात्परबलीयस्त्वम्' इस न्यायानुसार यहां पक्षान्तर में वैष्णव-पक्ष का स्वीकार किया गया है। इस पक्षान्तर को स्वीकार करने में, ये मुनिजन 'मनन' कर सकें यही

एकमात्र कारण है। इन शौनकादि मुनियों को काल के गुण का परिज्ञान है– इसीलिये, वैष्णव-पक्ष को लेकर ही यहां प्रातः हवन कहा गया है– और इसी कारण से– 'यह विश्वास से रहित कर्म है' – इस प्रकार अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। यथोचित संभाषण आदि से अथवा ब्रह्मासन देकर यहां सूत पौराणिक का सत्कार किया गया है– 'सत्कृतम्'। श्री सूत पौराणिक है– आपका नाम उग्रश्रवा है। पौराणिक सूत ही ब्राह्मणों की सभा में बैठ सकते हैं, इनके अतिरिक्त अन्य क्षत्र धर्मोपजीवी– वैश्य-वृत्ति करने वाले सूत वहां नहीं बैठ सकते। और, यदि सूत पौराणिक खड़े ही रहें तो तत्सुलभ (श्रम) व्यग्रता आदि होने पर हरि-कथा में न्यूनभाव (अनादर) होगा। इसके निराकरणार्थ भी, वह बैठे हुये हैं– आसीनम्। भगवत्कथा-रस का अभिनिवेश सभी में होने का कारण– मैं पहिले पूछूं, मैं पहिले पूछूं, इस प्रकार की स्पर्धा के कारण सभी ने श्री सूत से प्रश्न किया– और इसीलिये, बहुवचनान्त 'पप्रच्छु:' क्रिया पद का प्रयोग किया गया है। यह प्रश्न पूछा– जो आगे कहेंगे। सूत पौराणिक का भगवान् में आदर है– यह देखकर अथवा भगवान् के स्वरूप को जानने में इन मुनियों को– स्वयं को– आदर है – इसलिये भी मुनियों ने प्रश्न किया सर्वत्र भगवत्कथा में, आंतर-भाव प्रेम ही मुख्य है– वाक्य मात्र नहीं, केवल वाणी द्वारा वर्णन मात्र फलरूप नहीं है। यहां यह आदर हार्दिक है।

अत्र षट् प्रश्ना भगवद्विषयकाः कर्त्तव्याः। पङ्गुणत्वाद्भवतः। तदर्थं वक्तारमभिनन्दन्ति त्रिभिस्त्वयेत्यादिभिः—

भगवान् के षड्गुण हैं इसी कारण भगवान् के विषय में यहां छः प्रश्न किये गये हैं। इस प्रकार से प्रश्न करने के लिये प्रथम तीन श्लोकों द्वारा वक्ता का अभिनन्दन किया गया है।

ऋषय ऊचुः— त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राण्युत ।६।

ऋषयों ने कहा हे निष्पाप सूत ! आपने इतिहासों सहित पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है– तथा अध्ययनोपरांत उसका व्याख्यान भी किया है– आपने इनका पुनः पुनः अध्ययन–अध्यापन–व्याख्यान– किया है।

खल्विति स्तुतिव्यावृत्तिः। पुराणान्याकरस्थानि, मूलसंहिताचतुष्टयं वा। **इतिहासो** भारतम् **चकारादन्याश्च** कथाः प्रगाथादयः। विद्योपजीवनं च न करोतीत्यनघेत्युक्तम्। **आख्यातान्यप्यधीतानि** पूर्वमधीत्य व्याख्याय, पुनः पुनरधीतानीत्यर्थः। तदैवनिस्सन्देहः।

धर्मशास्त्राणि चाऽधीतानी । **"धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् । जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि निरूपिता:"** ।। तत्रेश्वरविचारिताश्चत्वारो वेदा एव । जीवविचारितास्तु स्मृतिषु धर्मः, नीतिशास्त्रे अर्थः, वात्स्यायनादिषु कामः, सांख्यायनदिषु मोक्षः । तत्र यावत्सर्वज्ञत्वं भवति, तावद्भगवच्छास्त्राऽपरिज्ञानम् । तदर्थमाह-**धर्मशास्त्राणीति** । **उत यानि** प्रसिद्धानि अर्थशास्त्रादीनि लौकिकानि वा ।। ६ ।।

सुबोधिनी : श्री सूत से ऋषियों ने कहा कि जो कुछ भी हम कह रहे हैं– वह आपको प्रसन्न करने के लिये मिथ्या-स्तुति रूप नहीं है– अपने इसी निश्चय की अभिव्यक्ति रूप यहां 'खलु' शब्द का प्रयोग किया गया है । आपने शतकोटि विस्तार में विस्तृत समग्र पुराणों का आपने अध्ययन किया है । तदुपरांत, सांख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णव-रूप मूल चारों संहिताओं को भी पढ़ा है । इतिहासरूप महाभारत भी आपने पढ़ा है–और (च)–अन्य कथाओं तथा गाथाओं के भी आप ज्ञाता हैं ।

यहां 'अनघ' पद से यह अभिप्राय है कि आप उक्त विद्याओं के व्याख्यान आदि करके अपनी आजीविका नहीं चलाते– अतः आप 'निष्पाप हैं ।

आख्यातान्यप्यधीतानि- आपने पुराणादिक पर व्याख्यान किये तथा उनको पढ़े भी हैं– अर्थात्, प्रथम अध्ययन करके, पुनः व्याख्यान द्वारा उनको दृढ़ कर लिये हैं । इस तरह पुनः पुनः आवृत्ति से इन विषयों में अब आपको कोई भी संदेह नहीं रहा है । और आपने धर्मशास्त्रों का भी अध्ययन किया है । बुद्धिमान् पुरुषों के लिये धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं– एक जीव–विचारित, दूसरे ईश्वर-विचारित । इनमें ईश्वर-विचारित पुरुषार्थ चारो वेद ही हैं– तथा जीव विचारित पुरुषार्थो में से धर्म का निरूपण स्मृति में है, अर्थ का नीतिशास्त्र में है, काम का वात्स्यायन आदि में है तथा मोक्ष का सांख्यायनादि में है । इन शास्त्रों में जब तक सर्वज्ञता प्राप्त न कर ली जाये, तब तक भगवत् शास्त्र का परिज्ञान नहीं हो सकता– इसके लिये, धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया गया है । 'उत यानि'- तदुपरांत अन्य सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र आदि का तथा लौकिक कथानकों का भी आपने बारम्बार अवगाहन किया है– इसलिये आप सर्वज्ञ हैं– अतः आपको भगवत् शास्त्र का परिज्ञान है ।।६।।

सूतपारम्पर्येण ज्ञातान्येव ज्ञातानि न तु ब्राह्मणैर्ज्ञातानि ज्ञातानीति शङ्कां वारयितुमाह—

यह शंका होती है कि श्री सूत तो सूत-परम्परा से ही जाने गये शास्त्रों को जानते हैं, किंतु ब्राह्मणों ने जिस रूप में इन शास्त्रों को जाना है, श्री सूत को उस रूप से इनका ज्ञान नहीं है,

तो फिर श्री सूत को सर्वज्ञ क्यों मान लिया ? इस शंका के निवारण में कथन है कि—

यानि वेद विदां श्रेष्ठो भगवान्बादरायणः ।
अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ।।७।।

अनुवाद : हे सूत ! ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान व्यास जो जानते हैं तथा भूत तथा भविष्य के ज्ञाता मुनि लोग जो जानते हैं, वह सब आप जानते हैं–

यानि वेद विदामिति । धर्मार्थकामाः सूतपारम्पर्येणाऽपि ज्ञायन्ते । मोक्षशास्त्राणि तु ब्राह्मणैरेव । तत्र सूतस्याऽज्ञानं सम्भवति । तन्निवृत्त्यर्थमाह । **विदां श्रेष्ठो** ज्ञानिनां श्रेष्ठः । **यानि वेदेति** मोक्षशास्त्राणि सर्वाणि गृहीतानि । ननु तानि कथं व्यासस्तस्मै कथयेदित्याशङ्क्याऽऽह **भगवानिति** भगवतः सर्वं सम्भवति । तथाऽप्यनधिकारिणे कथमाहेत्याशङ्क्याऽऽह—**बादरायण इति** । अतितपसा तदधिकारसम्पादनशक्तिरुक्ता । **"न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात्सुपुष्कलमि"ति** वाक्यादसार्वज्ञ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**अन्ये च मुनय इति** । ते च मननशीला ज्ञानिनः । अज्ञानादुपदेश इति न मन्तव्यम् । यतः सूतः प्रसिद्ध इति पुनः सम्बोधनम् । तर्हि कथमुपदेशः ? इत्यत आह—**परावरविदो विदुरिति** । **परे** ब्रह्मादयः **अवरे** अस्मदादयः । भूतभविष्यत्काला वा । ताञ्जानन्तीति ईश्वरेच्छा तथैव, कालश्च तथेति, बोधनार्थं तथा वचनम् ।।७।।

सुबोधिनी : धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का ज्ञान तो, श्री सूत को अपनी वंश-परम्परा से भी प्राप्त हो सकता है– किंतु मोक्ष शास्त्र तो ब्राह्मणों से ही जाना जा सकता है । अतः मोक्ष शास्त्र में श्री सूत का अज्ञान संभव है– इस प्रकार की संभावना के निराकरणार्थ कथन है कि ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् व्यास को जिन सभी मोक्षशास्त्रों का ज्ञान है, उन सब को आप भी (श्री सूत) जानते हैं यदि यह कहो कि ये सब मोक्ष-शास्त्र, व्यास ने सूत को क्यों बता दिये? तो कहते हैं कि व्यासजी भगवान् है, भगवान् सर्व समर्थ हैं । तथापि, अनधिकारी को वैसा ज्ञान क्यों दिया? तो कहते हैं कि व्यासजी, बादरायण हैं– अनधिकारी सूत को, व्यासजी अपने तपोबल से अधिकारी बना सकते हैं— अर्थात् अत्यन्त तप करके उनमें इस प्रकार के अधिकार संपादन की शक्ति है । अर्थात् सूत को, वे मोक्ष शास्त्र का ज्ञाता बना सकते हैं ।

एकादश स्कंध में ऐसा कथन है कि 'एक ही गुरु से प्राप्त किया गया ज्ञान, पर्याप्त नहीं होता'– (नह् येकस्मात् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम्) । इसके अनुसार सूतजी में सर्वज्ञता नहीं हो सकती । इस शंका के समाधान में कथन है कि 'अन्ये च मुनयः' वैसे जैसे अन्य मुनि जन

अपने मनन से ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी तरह ज्ञान-प्राप्ति में आप भी समर्थ हैं। यदि यह कहो कि उन मुनियों को यह ज्ञान ही नहीं था कि यह सूत हैं–तो कहते हैं कि मुनियों को इसका ज्ञान था–क्योंकि, सूत सर्वत्र प्रसिद्ध है और आपको सूत जानकर ही उपदेश दिया है– और, इसीलिये यहां पुनः सम्बोधनात्मक 'सूत' पद का प्रयोग किया गया है।

अब, यदि सूतजी इतने प्रसिद्ध हैं, तो फिर मुनियों ने उनको उपदेश क्यों दिया ? इस शंका का समाधान यह है कि– 'परावरविदोविदु:'– ब्रह्मादि (पर) तथा हम (अवर) जो जानते हैं वह आप भी जानते हैं– अथवा, भूत और भविष्यत् काल के तथा पदार्थ के ज्ञाता ये मुनिगण जो जानते हैं वह सब आप भी जानते हैं कि अभी ईश्वर की यही इच्छा है– और काल भी ऐसा ही है कि सूत द्वारा उपदेश ग्रहण किया जाये। इसी का बोध करने के लिये यहां इस प्रकार का कथन किया गया है– अथवा 'हमें आप समझाइये' – इस तरह बोधनार्थ यह कहा गया है– अथवा सूत को प्रोत्साहन देने के लिये वचन है। ।७।

फलितमाह—

'जिन शास्त्रों को व्यासजी जानते हैं तथा 'जिन शास्त्रों को भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल के ज्ञाता मुनिजन जानते हैं– इस प्रकार से गत श्लोक में जो कहा, उससे जो निष्कर्ष निकला फलित हुआ– वह कहते हैं—

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।।८।।

अनुवाद : क्रूरता आदि दोषों से रहित, सेवा आदि गुणों से युक्त हे सूत ! व्यास आदि के अनुग्रह से आप उन सभी विषयों को तत्वतः जानत हैं, क्योंकि, गुरुजन, प्रिय शिष्य को निगूढ़ रहस्य भी कह देते हैं।८।

वेत्थ त्वमिति। शिष्यगुणानाह **सौम्येति**। हे शान्त ! सेवादिगुणानां साधारण्येऽप्यसुरत्वाच्छूद्रस्य क्रौर्यादयः सम्भवन्ति। तदभावश्चेत्सिद्धा अन्ये सद्गुणा इति भावः। **सूतेति** सम्बोधनाद्देदव्यतिरिक्तमिति ज्ञातव्यम्। आपाततो ज्ञानं वारयति— **तत्वत इति**। उपदेशेऽपि कथमनधिकारिणो ज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—**तदनुग्रहादिति**। गुरूणामनुग्रहात्सर्वं भवतीत्यर्थः।।८।।

सुबोधिनी : 'सौम्य' – सम्बोधन से शिष्य के गुणों को बताया है। सौम्य का अर्थ है हे शान्त ! सेवा आदि साधारण गुणों से युक्त होते हुये भी शूद्र जाति में– असुरता होने के कारण

क्रूरता आदि दोषों की सम्भावना रहती है। यदि ये दोष न हों, तो अन्य सद्गुण अपने आप सिद्ध हैं। इसके निर्देशार्थ सूत को 'हे सौम्य' इस तरह सम्बोधित किया है। इससे पूर्व श्लोक में- 'हे सूत' इस सम्बोधन से सूचित किया यया है कि शूद्र होने के कारण उनको वेद का ज्ञान नहीं- तदतिरिक्त, आपको सर्व का ज्ञान है और यह ज्ञान भी ऊपर-ऊपर का आपाततः-ज्ञान नहीं है, किन्तु आप उनके तत्वतः ज्ञान से सम्पन्न हैं।

यहां शंका होती है कि व्यासजी ने भले ही सूतजी को उपदेश दिया- किन्तु, अनधिकारी को इस तरह का ज्ञान कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि गुरुजन का अनुग्रह हो जाने पर सब कुछ सम्भव हो जाता है ।।८।।

एवं सार्वज्ञ्यमुक्त्वा, प्रथमतः फलं पृच्छति—

इस तरह सूत की सर्वज्ञता का वर्णन करके, शौनक आदि ऋषिगण, प्रथम, फल के विषय में प्रश्न करते हैं:—

तत्र तत्राऽञ्जसाऽऽयुष्मन्भवता यद्विनिश्चितम् ।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ।।९।।

श्लोकार्थः– हे आयुष्मन् ! जिस-जिस शास्त्र को आप जानते हैं, उन-उन में सरलता से- शीघ्र ही- प्राप्त होने वाला तथा आपसे भी विशेष रूप से निश्चित किया गया, मनुष्यों का जो एकांत कल्याण करने वाला हो, उसे कहें ।।९।।

तत्र तत्रेति । फलार्थं हि साधनं मृग्यते । अतः किं फलं किमफलमिति भवति विचारणा । अभ्युदयो निःश्रेयसं वा भवति फलमन्यद्वा ? सर्वत्र दूषणान्यग्रे वक्ष्यन्ते । अतः सन्देहात्प्रश्नः । तथापि प्रमाणबलविचारेण निर्णयः । तदाह । अञ्जसा ग्रन्थाऽऽर्जवेन **आयुष्मन्नि**त्याशीर्भयाऽभावो वा सूच्यते ! गुरूणामन्योन्यं विप्रतिपत्तावपि बहुगुरुत्वेन बुद्धिवैशद्यात्स्वतो निर्धारणं सम्भवतीत्याह–**भवता यद्विनिश्चितमिति । पुंसां** स्वतन्त्राणाम् । **एकान्ततः श्रेयः** । कदापि सर्वान् प्रति श्रेयस्त्वं न त्यजतीत्यर्थः । स्वर्गिणां पुत्रादिषु न श्रेयस्त्वम् । तथा मुक्तानां स्वर्गे । भक्तानां मुक्ताविति किमत्रैकान्ततः श्रेय इत्यर्थः । तदस्मभ्यं शंसितुमर्हसि ।।९,।

सुबोधिनी:– फल के लिये ही साधन की खोज की जाती है- परिणामतः– कौन फल है, कौन अफल है यह भी विचार उपस्थित हो जाता है। सर्वत्र अभ्युदय को अथवा कल्याण को फल

कहा जाये, अथवा इनसे अतिरिक्त हो उसे फल मानें। वस्तुतः इन सभी प्रकार के फलों में सर्वत्र दोष हैं– इसका वर्णन अग्रिम प्रसंग में करेंगे। इस प्रकार का सन्देह होने से ही यहां फल विषयक प्रश्न किया गया है। तथापि, यहां फल अथवा अफल का निर्णय, शास्त्रों के प्रमाण–बल से ही किया जाना चाहिये– इसी का कथन यहां 'अंजसा' पद से किया गया है- तात्पर्य यह है कि शास्त्रों से जिसका सरलतापूर्वक निर्णय किया जा सके, वही बताइये।

'आयुष्मन्!'– आशीर्वादात्मक है, अथवा इससे भय के अभाव का निर्देश किया गया है। आप दीर्घायु हैं, आपको किसी प्रकार भय नहीं। गुरुजनों के निर्णय में परस्पर विरोध है, तथापि आपके बहुत–से गुरु हैं, इसलिये (उनके निर्णयों को भी) आप अपने बुद्धि-बल से यथार्थ वस्तु का निश्चय करके कहें– अर्थात्, आप अपना एक ऐसा विशेष निश्चय कहें, जो स्वतंत्र पुरुषों के लिये श्रेयस्कर हो– जो सभी के लिये अपने 'श्रेयस्त्व' का त्याग नहीं करता हो– उसे कहें– एकान्ततः श्रेयः। स्वर्ग में रहने वाले, पुत्र आदि को एकान्त श्रेय रूप नहीं मानते– इसी तरह मुक्ति को प्राप्त जीव, स्वर्ग को तथा भक्तजन, मुक्ति को एकान्त–श्रेय रूप नहीं समझते।

इसलिये एकान्ततः श्रेय क्या है यह आप हम लोंगो को कहिये–अर्थात् जो सभी के लिये श्रेयरूप है, अथवा जिसे सभी लोग श्रेयरूप मानते हैं–हमें आप वही कहें।९।

द्वितीयं प्रश्नमाह **प्रायेणेति** सार्द्धाभ्याम्—

अब, ढाई श्लोकों से दूसरा प्रश्न कहते हैं—

प्रायेणाऽल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन्युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥१०॥

अनुवादः हे सभ्य! इस कलियुग में मनुष्य, अधिकतर, अल्पायु, आलसी, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के दोषों से युक्त, मंदभागी तथा व्याधिग्रस्त होते हैं ॥१०॥

साधनविषयकोऽयं प्रश्नः। स्वस्य ऋषित्वेन चिरजीवित्वात्त द्व्यतिरेकेणाऽऽह- **प्रायेणेति**। अनेन ऋषिव्यतिरिक्तानामयमुपाय इति गम्यते। आद्यस्तु तेषां पुंसां न इति वा सामानाधिकरण्यम् अल्पमायुर्येषांते **अल्पायुषः**। अनेन सहस्रसमादयो न तेषां साधनमित्युक्तम्। प्रकृताऽनुपयोगाद-कथनमाशङ्क्याऽऽह–**सभ्येति**। सभामर्हतीति सभ्यः। "सभां (?) वा न प्रवेष्टव्य (?) मि"ति

धर्मबोधनाय सम्बोधनम् । अत्यावश्यकमहत्कालसाध्यसाधनत्वे अवक्तव्यत्वमाशङ्क्य **कलिदोषे**णैवाऽल्पायुष्ट्वं न स्वभावतः । तथाच कलिदोषपरिहारकेण तादृशेन साधनेनाऽल्पायुषोऽपि वृद्धिरित्यभिप्रायेणाऽऽह–**कलावस्मिन्युग इति** । तस्य कलेः कालान्तरत्वे इदानीमुपायस्याऽवक्तव्यत्वमाशङ्क्याऽऽह–**अस्मिन्निति** । युगपदप्रयोगस्तत्रत्यानां पूज्यत्वाय । सहजसंसारित्वाभावाय **जना इति** । प्रादुर्भावादुत्कुष्टत्वम् । एवं सहजदोषमुक्त्वाऽऽगन्तुकदोषमाह—**मन्दा** इत्यादिभिश्चतुर्भिर्विशेषणैः । **मन्दा** अलसाः । आलस्यं चित्तजाड्यम् । सुष्ठु मन्दा मतिर्येषामिति ज्ञानेन्द्रियदोषः । **मन्दभाग्या** इत्यदृष्टस्य कर्मेन्द्रियसाध्यत्वात्तद्दोषः । उपद्रुता रोगादिभिरिति शरीरदोषः एवमागन्तुकदोषा उक्ताः ।: १० ।।

सुबोधिनीः– इससे पूर्व श्लोक में फल-विषयक प्रश्न किया गया है, प्रस्तुत श्लोक में इस फल की प्राप्ति जिस साधन से हो सकती है, उस साधन के विषय में प्रश्न है।

यहां 'प्रायेण'– इस पद से यह निर्देश किया गया है कि सभी अल्पायु नहीं हैं– किन्तु, हमसे- शौनकादि ऋषियों से- अतिरिक्त मानव अल्पायु हैं। क्योंकि, ऋषि होने से शौनकादि स्वयं चिरजीवी हैं। तदनुसार, ऋषियों से अतिरिक्त व्यक्तियों के लिये यह उपाय पूछा गया है। पहिले प्रश्न में 'नः' पद 'पुंसाम्' से सम्बन्धित उसके साथ ही है– नः पुंसाम्– जिसका अभिप्राय ऋषि व्यतिरिक्त व्यक्तियों से है– क्योंकि, जो अल्पायु हैं, उनके लिये सहस्र वर्ष में सिद्ध होनेवाला सत्र उपयोगी नहीं है– अर्थात् हजार वर्ष का सत्र ऐसे व्यक्तियों के लिये साधन नहीं हो सकता– वह तो हमारे जैसे चिरजीवी ऋषियों के लिये है।

यदि यह शंका हो कि जो साधन अल्पायु वालों के लिये उपयोगी होगा, वह आपलोगो के लिये अर्थात् शौनकादि ऋषियों के लिये अनुपयोगी है, तो इसका समाधान यह है कि आप में (सूत में) सभा के सभी गुण हैं– अतः आप सभ्य हैं– सभा के योग्य है। प्रथम तो सभा में प्रवेश ही नहीं करना चाहिये, यदि प्रवेश किया है तो सभा में जो भी प्रश्न किया जाये, उसका उत्तर देना चाहिये– चाहे वह प्रश्न दीर्घायु के लिये हो अथवा अल्पायु वाले के लिये हो। सभ्य का यही धर्म है और इसी का निर्देश करने के लिये सूत को यहां 'सभ्य' कहा है।

यदि यह कहो कि जिस साधन के सिद्ध होने में अधिक समय अत्यंत आवश्यक हो, अल्पायु वाले को वह साधन नहीं बताना चाहिये, तो उसका उत्तर यह कि जो अल्पायु हैं, वह कलिदोष के कारण है, स्वभाव से नहीं। और इसीलिये, कलि-दोष को दूर करने वाले इस प्रश्न के साधन से अल्प आयु वाले की आयु में भी अभिवृद्धि होगी, इसी अभिप्राय को लेकर

'कलावस्मिन् युगे'– इस पद का यहां प्रयोग किया गया है– अर्थात्, इस कलियुग में ऐसे मनुष्य हैं- (अल्पायुवाले)– । यदि यहां केवल 'कलौ युगे' पद का प्रयोग किया जाता तथा इसमें 'अस्मिन्' पद नहीं होता, तो उस अवस्था में कलौयुगे का अर्थ होता 'केवल कलियुग में'– अर्थात् 'केवल कलियुग में ऐसे अल्पायु मनुष्य होते हैं' । इस प्रकार के कथन से तो 'यह कोई कालान्तर कलि के लिये कहा गया है'– ऐसा अर्थ करने से यह शंका होती है कि यदि कालान्तर कलि में ऐसे (अल्पायु) व्यक्ति होंगे तो फिर उनके लिये उपाय को, अभी से कहने की कोई आवश्यकता नहीं । इस शंका के निवारणार्थ– 'अस्मिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है– अर्थात् 'इस कलियुग में ऐसे (अल्पायु) मनुष्य हैं' । यहां 'युग' पद से, इस कलि में जन्म लेने वाले मनुष्य की पूज्यता का निर्देश किया गया है– इस कलियुग में जन्म लेने वाले भगवान् के भक्त होने के कारण पूज्य हैं । इसलिये, अभी से उनको और उपाय बताया जाना चाहिये ।

जीवों में सहज संसारीपने का अभाव है– यह बताने के लिये यहां 'जनाः' शब्द का प्रयोग किया है । जीवों का प्रादुर्भाव परब्रह्म से उसके अंशरूप में होने के कारण, उनमें उत्तमता है । किन्तु, मानव-देह में उत्पन्न होने के कारण उनमें सहज दोष है । इस तरह सहज दोष को कहकर जब मनुष्य के आगन्तुक दोषों को– चार विशेषणों से– कहते हैं । 'मन्दाः' का अर्थ है आलसी । चित्त की जड़ता से जीव आलसी हो गये हैं । ज्ञानेन्द्रिय के दोषों को लेकर अत्यंत मंद बुद्धि तथा कर्मेन्द्रियों के दोष के कारण मंदभागी बने हुये हैं, क्योंकि– अदृष्ट– भाग्य की सिद्धि दोष रहित कर्मेन्द्रियों से ही सम्भव हैं । इसी तरह जीव रोगों से आक्रांत रहते हैं– यह शरीर का दोष है– 'उपद्रुताः' । इस तरह चार प्रकार के ये आगुन्तुक दोष हैं ।

कार्यान्तरेण च व्यापृता इत्याऽऽह—

और वे मनुष्य कार्यान्तर में लगे हुये हैं– यह उनका बाह्य दोष है, और इसी का वर्णन यहाँ करते हैं–

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।
अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्गृह्य मनीषया ।
ब्रूहि भद्रं हि भूतानां येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥११॥

अनुवादः– मनुष्यों के लिये विभाग पूर्वक, विवेक सहित श्रवण करने योग्य अनेकों शास्त्र हैं । अतः, परदुःख निवारक हे सहृदय साधु ! उन-उन शास्त्रों के उन-उन प्रकरणों में जो जो

सारूप हो उस उस को आप अपनी बुद्धि से चुन-चुन कर हमको कहैं– जिससे उनका कल्याण हो तथा भगवान् परम प्रसन्न हों ॥११॥

भूरीणीति। अयं बाह्यो दोषः। "**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदि**"ति लौकिककर्मव्यापृताः। ततोऽपि विहितकर्मव्यापृताः। तत्र प्रमाणविचारे प्रकरणशो धर्मादिशास्त्राणि ज्ञातव्यानि। तानि च, भूरीणि कर्माणि येष्विति **भूरिकर्म्माणि**। न च श्रवणमात्रेण कृतार्थता। किन्तु तदुक्तानि कर्माण्यपि कर्तव्यानि। ततो महान्दोषो बाह्यः। एवं त्रिदोषग्रस्तानामुपायं कथयेत्याहुः—**अत इति**।प्रत्युपकारापेक्षाऽभावाय **सम्बोधनम्—साधो इति**। परदुःखदूरीकरणं साधोरावश्यकमिति भावः। अन्यार्थमुक्तस्य, प्रासङ्गिकस्य वा साधनस्य निराकरणायाऽऽह–**अत्रेति**। एतादृशदोषे अत्रापि बहूनि साधनानि चेत् ? यत्सारं तत्समुद्गृह्य वक्तव्यम्। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धान्नाऽध्याहारदोषः। यदिति प्रसिद्धं वा। सारं पारम्पर्यफलव्यभिचारादितुषरहितम्। एकवचनेनाऽसाधारण्यं सुगमत्वं चोक्तम्। "**प्रकरणेन विधयो बद्धयन्त**" इति न्यायेन यद्यपि सर्वं प्रकरणेषु सुसम्बद्धं, तथापि तत्तत्स्थानादुद्धृत्य वक्तव्यमित्याऽऽह—**समुद्गृह्येति**। प्रकरणेषु तद्धर्मशून्यत्वाभावाय। **मनीषयेति**। बुद्ध्यैवोद्धरणं न कृतितः। मनस ईषा मनीषा। मनश्चाञ्चल्यनिवारिका बुद्धिः। प्रार्थनायां प्राप्तकाले वा लोट्—**ब्रूहीति**। **भद्रं** कल्याणं, त्रिविधदुःखाऽभावपूर्वकमहासुखाऽवाप्तिः। तद्भगवत्प्रसादादिति चेत् ? तत्राऽऽह—**येनाऽऽत्मा सुप्रसीदतीति**। **येनैव** हेतुना **आत्मा** भगवान् **सुप्रसीदति**। तर्हि तथैव कथयेत्यर्थः। **भूतानामिति** पिशाचवज्जीवानां परिभ्रमणबोधनेन दया सूचिता ॥ ११ ॥

सुबोधिनीअर्थः—इस श्लोक में निरूपित दोष, बाह्य दोष हैं– 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'– कोई भी प्राणी एक क्षण भी, कार्य किये बिना नहीं रहता। इससे ज्ञात होता है कि कोई लौकिक कर्म में व्यस्त है, तो कोई शास्त्र विहित कर्म में व्यस्त है। इन कर्मों का किस प्रमाण से विधान है, ऐसा विचार करने लगेंगे, तो धर्म आदि का निरूपण करनेवाले शास्त्रों का प्रकरण पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। उन शास्त्रों में अनेक कर्मों का वर्णन है– यह सब 'भूरिकर्माणि' से कही गयी है। किन्तु, उन कर्मों के श्रवण मात्र से जीव कृतार्थ नहीं हो सकता– किन्तु, उनमें कहे गये कर्म करने ही चाहिये– इस तरह, यह एक महान् बाह्य दोष माना गया है। इस तरह, पूर्व श्लोकोक्त सहज दोष तथा आगन्तुक दोष तथा इस श्लोक में निरूपित बाह्य दोष– इन तीनों दोषों से ग्रस्त प्राणी के लिये– अर्थात् इस प्रकार के त्रिदोषात्मक सन्निपात ग्रस्त जीवों के लिये जो उपाय हो वह कहो। 'अतः' पद से इसी का कथन किया गया है।

हे साधो– आप साधु हैं– साधु उपकार करता है, किन्तु, प्रत्युपकार नहीं चाहता–इसलिये

आपको परदु:ख दूर करना ही चाहिये और, यही आपका कर्तव्य है। यहां, हम मुख्य साधन जानना चाहते हैं। अन्य कार्यों के लिये बताया गया अथवा प्रासंगिक रूप से कहा गया साधन, हम सुनना नहीं चाहते। यही 'अत्र' पद का अर्थ है– 'अत्र' का तात्पर्य यह है कि ऐसे उपर्युक्त त्रिदोषज– सन्निपात को मिटाने के लिये कौन-सा उपाय है ?

यदि यह कहो कि इस दोष के शमनार्थ यहां भी बहुत से साधन हैं– तो हमारा यह निवेदन है कि इन साधनों में से जो सबका साररूप साधन हो, उसे निकाल कर कहिये। यत् तथा तत् पद का नित्य सम्बन्ध माना गया है– अत: यहां 'यत्सारं' के संदर्भ में 'तत्' का अध्याहार करने में कोई दोष नहीं। अथवा. 'यत्' को प्रसिद्धार्थक मानकर 'प्रसिद्ध' जो सारं ऐसा अर्थ करने पर 'तत्' के अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'प्र...प्रसिद्धानुभूतार्थ विषयस्तत् शब्दो– यत् शब्दं नोपेक्षते'– यह न्याय यत् शब्द के लिये भी वैसा ही है जैसा तत् शब्द के लिये है। अत:, तत् शब्द का अध्याहार न हो तो भी कोई दोष नही हैं।

'सारम्' में एकवचन से यह निर्देश किया गया है कि जो असाधारण– अर्थात्, जिसकी बराबरी का अन्य न हो– तथा सुगम– जो सरलता से समझ में आ सके– ऐसा एक ही सार कहिये– अर्थात् जो परम्परागत हो और जिससे फल की नि:संदेह प्राप्ति होती हो, ऐसा सार कहिये। 'प्रकरणेन विषयो बद्धयन्ते' इस न्याय से यद्यपि सब कुछ तथ्य प्रकरणों में सुसम्बद्ध है, तथापि, वहां से उद्धृत करके हमें सार वस्तु कहिये– क्योंकि प्रकरणों में वह सार रूप से नहीं जाना जा सकता। इसी से 'समुद्गृह्य' पद का प्रयोग किया है।

मनीषया– मन की ईषा को– मन की चंचलता को मिटाने वाली बुद्धि को मनीषा कहते हैं। आप अपनी बुद्धि से– कृति से नहीं– उस सार को ग्रहण करके हमें कहिये, जो प्रकरणों से नहीं जाना जा सकता और जिससे भिविध–दु:ख के शमन पूर्वक, महासुख की प्राप्ति होती है। अर्थात् जो कल्याणप्रद है– 'ब्रूहि' क्रिया में यहां प्रार्थना के अर्थ मे तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार है। भद्र का अर्थ है कल्याणरूप। यदि यह कहो कि इस प्रकार का कल्याण तो भगवान् के प्रसन्न होने पर मिल सकता है तो इसके लिये ही श्लोक में कहा गया है कि 'येनात्मासुप्रसीदति'– जिस उपाय से आत्मा-भगवान् अच्छी तरह प्रसन्न हों, उसे कहिये। श्लोक में 'जीवानाम्' न कहकर 'भूतानाम्' जो कहा है– उससे यह सूचित होता है कि जीव-गण, पिशाचों की तरह घूमते रहते हैं– अत: उनपर दया-भाव रखना उचित है ॥११॥

एवं फलसाधने निरूपिते। तत्राऽऽविर्भूतो भगवानेव फलं साधनं चेत्याशङ्क्य, भगवद्व-

तारो लोकानामर्थे स्वार्थे वेति सन्देहादवतारप्रयोजनं पृच्छति—

इस तरह फल और साधन के विषय में दो प्रश्नों का निरूपपण किया। यहां, भूतल ऊपर– आविर्भूत भगवान् ही फल और साधन हैं– ऐसी शंका करके– तथा, भगवान् का अवतार लोगों के लिये है अथवा अपने स्वयं के लिये, ऐसा संदेह होने पर, शौनकादि ऋषि सूत से, भगवद्-अवतार का प्रयोजन जानने के लिये पूछते हैं कि–

सूत जानासि भद्रं ते भगवान्त्सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥ १२ ॥

अनुवादः— हे सूत ! भगवान् सात्वतों के– सत्वैकनिष्ठ देवताओं अथवा मुक्तात्माओं के-पति हैं। तो फिर, यही भगवान्– मुक्तलोक से इस मनुष्य लोक में, वसुदेव की भार्या देवकी में, जिस कार्य करने की इच्छा से प्रकट हुये, वह आप जानते हैं– आपका कल्याण हो ॥ १२ ॥

सूत जानासीति। इदं त्वतिगूढमिति को वेद। न जानातीति सन्देहात्पृच्छेति—**जानासीति**। मुखप्रसादं दृष्टवा जानातीति ज्ञात्वा हर्षेणाऽऽशीराहुः(?)—**भद्रं त इति**। **अस्त्वि**त्यर्थात्। महति ज्ञानोपदेशे दक्षिणा ह्येषा। श्रुतमस्ति, **देवक्यां जातः** कृष्णो भगवानिति। तत्र सन्देहः। भगवतः षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नस्य ब्रह्मणः कार्यकरणार्थं न देहे सम्बन्धोऽपेक्ष्यते। जीवधर्मास्तु ब्रह्मणि न सन्त्येव। प्रादुर्भावप्रकारस्तु जीवानामिव। अतः सन्देहः। किञ्च। **सात्वतां पतिः**। सत्वैकनिष्ठाः **सात्वन्तः** देवा मुक्ता वा। तत्परित्यज्य मनुष्येषु संसारिषु कथमाविर्भावः। पतित्वात्तेषां परित्यागोऽनुचितः। किञ्च। देवा मुक्ताः सनकादयो वा। तेऽपि ब्रह्मणो देहान्मनसो वा उत्पद्यन्ते, न स्त्रियाम्। तत्रापि कस्यचित्कन्यायां **देवक्यामिति**। देवकस्य कन्या देवकी। तथाच अप्सु नारायणावतारवन्न भवति। तत्रापि विशेषः—**वसुदेवस्येति**। वसुदेवस्य भार्या पराधीना। भगवदवतारे न भार्यादिविशेषसम्बन्धः। किन्तु सम्बन्धमात्रमिति षष्ठीमात्रप्रयोगः। अतस्तादृशस्य तादृशावतारे किं कार्यम्। तर्हि तथा न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह। **जातः**। कंसादिवधस्त्वन्यस्मादपि भवतीत्यभिप्रायः। अतो थस्य चिकीर्षया जातस्तन्नः कथयेति सम्बन्धः। अनेन प्रासङ्गिकं प्रयोजनं निवारितं, कालादिसाध्यता च ॥

सुबोधिनीअर्थः--'यह बात मानों अत्यंत गूढ़ होने के कारण, किसे पता कोई जानता है या नहीं'–इस प्रकार के संदेह से, शौनकादि ऋषि, सूत पौराणिक से पूछते हैं कि क्या आप जानते हैं ? 'सूत ! जानासि'-- आपकी प्रसन्न मुख-मुद्रा को देख कर हम समझ गये, कि आप इसे जानते हैं।

यह सब समझ कर मुनिगण, सूत को, हर्ष से आशीर्वाद देते हैं– 'भद्रंते'– आपका कल्याण हो– 'अस्त्वित्यर्थात्'– आपसे इस महान् ज्ञानोपदेश के लिये हमारी ओर से यही दक्षिणा है। हमने सुना है, देवकी से भगवान् श्रीकृष्ण ने जन्म लिया है। हमें यहां सन्देह है। षड् ऐश्वर्य से युक्त भगवान् को केवल ब्रह्मा के कार्य को सिद्ध करने के लिये देह से सम्बन्ध की कोई आवश्यकता– 'अपेक्षा' नहीं। जीव के धर्म अविद्या 'काम क्रोध' आदि भगवान में हैं ही नहीं-- और यहां भगवान् के प्रादुर्भाव का प्रकार तो नितांता जीव के समान है। इसलिये यह सन्देह हो रहा है– भगवान् तो जीवन्मुक्त सत्वैकनिष्ठ नारद सनकादि जैसों के-सात्वतों के-पति हैं। उनको छोडकर, संसारी मनुष्यों के यहाँ साक्षात् परब्रह्म का आविर्भाव कैसे हुआ ? पति होने के कारण भगवान् द्वारा उनका परित्याग अनुचित है। इसलिये, उनको नारद सनकादि से ही आविर्भूत होना था। तदुपरांत, देवता तथा मुक्त नारद सनकादि भी ब्रह्मा की देह से अथवा मन से उत्पन्न होते हैं– न कि स्त्री से। फिर, भगवान् किसी अप्रसिद्ध देवक की कन्या देवकी-गर्भ से कैसे प्रकट हुये ? अर्थात्, जल में से नारायण, भगवान् की तरह उत्पन्न नहीं हुये। और विशेष बात तो यह है जिसमें से आप प्रकट हुए वह देवकी वसुदेव की भार्या होने से पराधीन है। श्लोक में 'वसुदेवस्य' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है, इसलिये, वसुदेव का भगवान् के अवतार में देवकी के साथ भार्यादि रूप से विशेष सम्बन्ध हुआ यह बात नहीं है, किन्तु, वसुदेव का उससे सम्बन्ध मात्र सामान्य सम्बन्ध था। अतः, षड्ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् का पराधीन देवकी में अवतार लेने में क्या प्रयोजन हो सकता है। अब यदि यह कहो कि भगवान् प्रकट ही नहीं हुए– तो वह उचित नहीं– क्योंकि, 'जातः'– यह कहा गया है। अतः प्रकट तो जरूर हुए हैं।

प्रश्न का तात्पर्य यह कि कंसादि वध तो, भगवान् के अन्य अंश अथवा कला अवतार भी कर सकते थे। पूर्ण पुरुषोत्तम का अवतार जिस कार्य के लिये, इस प्रकार हुआ, वही हमें बताइये। भगवान् के अवतार लेने में मुख्य प्रयोजन ही कहें– प्रासंगिक प्रयोजन नहीं। जिस कार्य के लिए भगवान् प्रकट हुए हैं, वह कार्य, काल आदि से भी साध्य नहीं है– इसलिये जिस मुख्य कार्य के लिये वे प्रकट हुये हैं– वह कहिये ।।१२।।

नन्वस्त्येव प्रयोजनं, कारणदर्शनात्। योगेन च तज्जानन्तीत्याशङ्क्याऽऽहः (?)—

कितने ही कारणों से भगवान् के अवतार में कोई प्रयोजन तो अवश्य है, इस प्रयोजन को योगबल से जाना जा सकता है। तो फिर पूछने की आवश्यकता ही क्या है ? तो कहते हैं कि—

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गाऽनुवर्णितुम्।
यस्याऽवतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ।।१३।।

अनुवादः– यहां हम सभी लोग भगवद्-तत्व के श्रवण करने की इच्छा रखते हैं, हे वत्स सूत ! आप हमारे स्वकीय ही हो– हमारी इस श्रवणेच्छा को आप अवश्य पूर्ण करें। तथा भगवान् के अवतरण में जो असाधारण प्रयोजन है, उसे कहें। भगवान् के अवतार का साधारण प्रयोजन तो हम जानते हैं– उनका अवतार, स्थावर-जंगमादि सर्व प्राणिमात्र को ऐहिक सर्व-सुख देने के लिये, उनके सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिए, उनको मोक्ष देने के लिए तथा उनकी अविद्या को दूर करने के लिए है।

तन्नः शुश्रूषमाणानामिति। बहूनामस्माकं श्रवणेच्छापूरणाय कथनीयम्। न हि श्रवणेच्छा योगेन निवर्तते। न वा योगः सर्वैः कर्तुं शक्यते। न वा योगेन भगवदीयः पदार्थो ज्ञातुं शक्यते भगवद्वाक्यव्यतिरेकेण। अत एव साक्षात्परम्परया वा भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखाच्छ्रुतं **अनु पश्चाद्वर्णयितुमर्हसि**।पठितस्य हि अनुवचनमावश्यकं मन्त्रादावपि। परमधिकारिविशेषे। तच्छुश्रूषमाणानां वक्तव्यमेव। **अङ्गेति** कोमलसम्बोधनमङ्गत्वेन स्वाधीनत्वाय। असाधारणं तु प्रयोजनं पृच्छ्यते, साधारणं तु ज्ञायत इत्याहुः (?)—**यस्याऽवतार** इत्यादिसार्धैस्त्रिभिः। तत्र प्रथममवतारद्वारा रूपप्रयोजनमाह—**यस्येति**। **यस्य** सामान्यतोऽप्य**वतरणं** देवतिर्यङ्नरादिष्वलौकिकतेजसः सङ्क्रमणं, **भूतानां** जातमात्राणां स्थावरजङ्गमानां **क्षेमाय** ऐहिकसर्वसुखाय। **चकारा**त्सर्वदुःखनिवृत्तये। **भवाय** मोक्षाय। चकारादविद्यानिवृत्तये। **भू सत्तायामिति** सन्मात्रत्वायेत्यर्थः। "**चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादि**" ति चैतन्येऽनुप्रवेशो वा चकारार्थः ॥१३॥

सुबोधिनी अर्थः– हम सभी की श्रवणेच्छा को पूर्ण करने के लिये आपको वह प्रयोजन कहना चाहिये। यह प्रयोजन, योग बल से जाना जा सकता है, किन्तु, उससे श्रवणेच्छा की पूर्ति नहीं होती– और न योग-साधन सभी लोग कर सकते हैं। भगवद्-वाक्यों के विना, केवल योग द्वारा भगवदीय पदार्थ जाना भी नहीं जा सकता। इसीलिये, साक्षात् अथवा परम्परा से, भगवन्मुख से कहे गये तथा गुरु-मुख से सुने गये इस प्रयोजन का, तदनन्तर वर्णन आप ही कर सकते हैं। जो कुछ भी पढ़ा गया हो, उसका दूसरे के समक्ष अनुकथन आवश्यक है– मन्त्रादिक में भी यही प्रक्रिया है। फिर जो इसके अधिकारी विशेष हैं, और जो यहां सुनने की इच्छा से ही आये हैं, उनके लिये तो अवश्य कहना चाहिए। श्लोकोक्त कोमल सम्बोधन 'अंग !' से यह सूचित किया गया है कि आप हमारे अंग हैं- अतः हमारे अधीन हैं। हमारे पूछने पर आपको कहना ही चाहिये। यहां हम प्रभु के अवतरण का– असाधारण प्रयोजन पूछते हैं। साधारण प्रयोजन तो 'यस्यावतारः' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकों में जो कहा गया है, उसे हम जानते ही हैं। यहां पहिले अवतार द्वारा रूप धारण करने का प्रयोजन कहते हैं। यस्य-भगवान्

का साधारण अवतरण भी– अर्थात् देव, पक्षी तथा मनुष्य आदि में अलौकिक तेज का संक्रमण भी– उत्पन्न हुये स्थावरजंगम आदि प्राणीमात्र को ऐहिक सर्व सुख देने के लिये, तथा उनके सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये और मोक्ष के लिये है। यहां 'च' से 'अविद्या-निवृत्ति के लिये' यह अधिक ग्रहण होता हैं। यह सब कुछ भगवान् के साधारण अवतरण से सिद्ध हो जाता है। यद्यपि, यहां भवाय– 'भव' शब्द का अर्थ 'संसार' हैं, किन्तु, अन्य टीकाकारों ने उसका 'संपत्ति' अर्थ किया है, तथापि, यहां प्रकरण के अनुरोध से 'भव'– भवाय– शब्द का अर्थ 'मोक्ष' लिया है। इसमें प्रमाण-युक्ति यह है कि 'भव' शब्द 'भू' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'सत्ता' होता है– अतः 'सत्– मात्र के लिये'– 'मोक्ष के लिये' ऐसा अर्थ– जो किया गया, वह उचित है।

यदि यह कहो कि मोक्ष होने पर अविद्या– निवृत्ति स्वतः हो जाती है– अतः श्लोकोक्त द्वितीय 'च' पद व्यर्थ हो जायेगा– इस आशंका से, 'च' पद से रहीत दूसरा पक्ष कहते हैं कि 'जिसके अवतरण से, चैतन्य में अनुप्रवेश रूप परम मोक्ष प्राप्त होता है'– यहां यह 'च' का द्वितीय अर्थ है– 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात्'– ब्र. सू. ४. ४. ६. अर्थात्, भगवान् के साथ सम्बन्ध होने पर– भगवदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है– जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने से– यह ब्रह्मरूप से सर्व कामों का उपभोग करता है– शरीर धारण करके नहीं। ॥१३॥

एवं सर्वेषामभ्युदयनिःश्रेयसार्थं भगवदवतार इत्युक्तम्। उत्पत्स्यमानानां तु नाम्ना पुरुषार्थसिद्धिरिति तन्माहात्म्यमाह—

इस तरह, सर्व के अभ्युदयार्थ निःश्रेयसार्थ, भगवान् अवतार लेते हैं– अन्य का रूप धारण करते हैं– यह कहा जा चुका है। किन्तु, जब भगवद्-रूप स्वधाम पधार जाते हैं तब अर्थात्, अनवतार दशा में उत्पन्न होने वालों को तो भगवद्-नाम से ही पुरुषार्थ प्राप्त होगा अतः यहः नाम का माहात्म्य कहते हैं।

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥ १४ ॥

अनुवादः—सर्पादि योनि को प्राप्त अथवा महाव्याधि से ग्रस्त कोई भी प्राणी परवश में हो अथवा काल के वश में हो– भगवन्नाम का उच्चारण करते ही शीघ्र इस संसार योनि में से विशेष-रूप से मुक्त हो जाता है– विमुच्येत– क्योंकि, भगवन्नाम के माहात्म्य का प्रभाव ही

ऐसा है कि स्वयं भय भी भयभीत हो जाता है– अर्थात् भगवन्नामोच्चारण से वक्ता तथा श्रोता दोनों ही भय-मुक्त हो जाते हैं । ।।१४।।

आपन्न इति । घोरां संसृतिं सर्पादियोनिभूतां, महाव्याध्यादिरूपां वा । **आपन्नः । अस्य** अवतारस्य **नाम विवशः** परवशः, **वेः** कालस्य **वशो** वा, **गृणन्नुच्चरन्नेव, ततः** संसृतेः सद्यो विमुच्यते । तत्र हि अन्तकाले कालस्याऽधिकारी भयनामा कश्चिन्मृत्युपाशेन सर्वानेव गृह्णाति । यश्चतुर्थस्कन्धे वक्ष्यते—"**सैनिका भयनाम्न**" इत्यत्र । सद्यस्तस्य पाशान्मुच्यत इत्यर्थः । ननु कथं स नामकथनमात्रेण पाशान्मुञ्चति ? तत्राऽऽह । **यद्बिभेति** यस्मान्नाम्नो भयं स्वयं बिभेति । स्वरूपनाशेन बिभेति । न तु बहिःपदार्थनाशेन । एवं हि भगवन्नाममाहात्म्यं यच्छ्रोत्त्हन् मुक्तान् करोति । ततो भयमपि मुच्येतेत्यर्थः । अथवा स्वरूपभूतं भयमपि मुच्यत इत्यर्थः । द्वैतदृष्टिर्गच्छति । "**द्वितीयाद्वै भयं भवती**"**ति** श्रुतेः । अतोऽग्रे उत्पत्स्यमानानां नाम्ना मुक्तिः ।।१४।।

सुबोधिनीअर्थः—'घोरां संसृत्ति'– सर्पादि योनि को प्राप्त अथवा महाव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति परवश होकर अथवा 'वेः' काल के अधीन होकर भी– जिस अवतार का नामोच्चारण मात्र करने से– तत्क्षण सर्पादि योनि से तथा महाव्याधि आदि संसार से मुक्त हो जाता है । यहां अन्तकाल में 'भय' नाम वाला 'काल' का अधिकारी सभी को मृत्यु- पाश से जकड लेता है– चतुर्थ स्कंध में 'सैनिकाः भयनाम्नो ये' आदि पंक्ति द्वारा यही कहा गया है । नामोच्चारण करने वाला उस मृत्यु-पाश से तत्क्षण ही मुक्त हो जाता है– 'ततः सद्यो विमुच्येत' ।

यहां प्रश्न होता है– नामोच्चारण मात्र से ही यम क्योंकर पाशों को छोड़ देता हैं ? उसका उत्तर है कि 'यद्बिमेति'– अर्थात् भगवन्नाम से कहीं मेरा स्वरूप ही नष्ट न हो जाये, इस भय से स्वयं भय भी भयभीत रहता है– बाहर की वस्तु के नाश से यह भय नहीं खाता । भगवन्नाम का यही माहात्म्य है कि वह नाम का श्रवण करने वालों को मुक्त कर देता है– तब भय भी नहीं रहता है, अथवा स्वरूपभूत भय भी चला जाता है– अर्थात् द्वैत-दृष्टि ही नहीं रहती । 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' जब द्वैत-दृष्टि नहीं रहती है तब भय भी नहीं रहता– क्योंकि भय दूसरे से होता है ।

इसलिये भगवान् के स्वधाम पधार जाने पर उनके नाम का उच्चारण करने मात्र से ही जीव मुक्त हो जाता है । अतः अब इससे अग्रिम अवतार काल में उत्पन्न होने वालों की मुक्ति नाम से होगी । ।।१४।।

आभासः—ननु नामोच्चारणसामर्थ्यरहितानां वृक्षपश्वादीनां का गतिरिति चेत् ? तत्राऽऽह—

यह तो उचित है, परन्तु, यहां प्रश्न होता है कि जिनमें नामोच्चारण का सामर्थ्य ही न हो, ऐसे वृक्ष-पशु आदि कैसे मुक्त हो सकेंगे– इसके उत्तर में कथन है कि—

श्लोक— यत्पादसंश्रयाः सूत ऋषयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वधुर्न्यापोऽनुसेवया ।। १५ ।।

अनुवाद श्लोक - जिस प्रकार गंगाजल अपने स्पर्श से भगवत्सेवकों को पवित्र कर देता है, उसी तरह भगवान् के चरणारविंदों का आश्रय लेने वाले तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्ति से युक्ति भक्त-जन अपने स्पर्श से सभी को तत्क्षण पवित्र कर देते हैं। १५

सुबोधिनी : यत्पादसंश्रया इति । भक्तस्पर्शेन तेऽपि मुच्यन्त इत्यर्थः । **यस्य भगवतः** पादौ संश्रयभूतौ येषाम् । भगवतः समाश्रयणं ज्ञानमार्गेऽपि भवति । यथा च ज्ञानिनां देहाध्यासाभात्तत्पर्शेन न मुक्तिः किन्तु तदुपदेशेनेति, तद्व्यावृत्यर्थं **पाद**पदप्रयोगः । पादसंश्रयणं **भक्तिमार्ग** एव । गुरुत्वप्रकारध्व्यावृत्यर्थं **समुपसर्गः** । सूतेति सम्बोधनं पावित्र्यानुभवज्ञापनार्थम् । यथा सूतोऽपि सन् महापुरुषकृपया ब्राह्मणैर्यज्ञादिष्वपि संव्यवहारं संभजते । **ऋषयो** मन्त्रद्रष्टारः । **प्रशमायना** ज्ञानिनः प्रकृष्टः शमः अयनं येषामिति । त उभयेऽपि यत्पादसंश्रयाः पुनन्तीति योजना । **अथवा** । पादसंश्रया ऋषयः प्रशमायनाश्च भूत्वा ज्ञानकर्मणी प्राप्य त्रितयसम्पन्नाः सर्वेषां पावित्र्यहेतवो भवन्ति । स्वयं हि शुद्धाः सन्तः परान् पुनन्ति । अतः स्वशुद्धयर्थं ज्ञानकर्मणी युक्ते । न तु साक्षात्पावनसम्बन्धस्तयोः । **उपस्पृष्टाः** समीपे देहसम्बन्धमात्रेण पुनन्तीत्यर्थः । कालव्यवधानेन हि सर्वत्र पावनं दृष्टं— "**त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत त्रिरात्रं वा सावित्रीं संवत्सरादेवाऽऽत्मानं पुनीत**" इत्यादिभिः । **मुनय** इति पाठेऽपि मननं, कर्मयोगो वा । क्रौर्यादिना स्पर्शव्यावृत्यर्थम्—**उपेति** । अग्रेण वा सम्बन्धः । तेषां तु दृष्टयादिनाऽपि पावनं सम्भवति । **स्वधुर्न्यापो** गङ्गाजलान्य**नुसेवया पुनन्ति** भगवत्सेवकानेव पुनन्तीत्यर्थः "**प्रायश्चित्तानि चीर्णानी**" ति वाक्यात् । "**सद्यः पुनाति गाङ्गे** "मित्यपि । नारायणसंमुखीकरणद्वारा पुनन्ति । अथवा । उपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापः सद्यः पुनन्तीति दृष्टान्तः । **नु** इति वितर्के । भगवद्भक्ता गङ्गा च पुनन्तोऽपि, भगवत्सेवया पुनन्ति, नाऽन्यथेति वितर्कः । आपाततः पावनं नाऽत्र विवक्षितम् परमपावनं तु मायास्पर्शाभावः ॥१५॥

सुबोधिनी अर्थः– भगवन्नामोच्चारण में असमर्थ वृक्ष-पशु आदि भी, भक्त के स्पर्श से ही मुक्त हो जाते हैं– उन भक्तों के स्पर्श से जिनको भगवान् के चरणों का आश्रय है। यद्यपि ज्ञानमार्ग में भी भगवान् का समाश्रयण होता है, किंतु, ज्ञानियों देहाध्यास का अभाव होने से

उनके स्पर्श से नहीं, अपितु उनके उपदेश से मुक्ति मिलती है। किंतु, उसका यहां निरूपण नहीं किया गया है– क्योंकि, श्लोक में 'पाद' शब्द दिया है– और, पाद-संश्रयण तो भक्ति-मार्ग में ही है।

यहां 'संश्रयाः' में सम्-उपसर्ग से, गुरु का जो आश्रय लिया जाता है, उस प्रकार के आश्रय से यहां अभिप्राय नहीं है– अपितु भगवद्-चरणों में सर्वतोभावेन लिये जाने वाले आश्रय का यहां उल्लेख किया गया है, क्योंकि गुरु का आश्रय विद्याध्ययन अथवा उपदेश-ग्रहण तक ही सीमित है– सर्वदा नहीं। 'हे सूत !' इस संबोधन से यह अभिप्राय है कि भक्ति-मार्ग में पावन कर देने का जो अचिन्त्य प्रभाव है, उसका आपको भी–सूत को भी– अनुभव है– अर्थात् शूद्र होते हुये भी आप अपने में भगवद् नाम से पवित्रता का अनुभव करते हैं। सूत होते हुये भी, महापुरुष की कृपा से, आप ब्राह्मणों के साथ उनके यज्ञ आदि में भी अच्छे प्रकार से व्यवहार में सम्मिलित हैं। मंत्र-दृष्टा ऋषिगण तथा एकांत शांति का समाश्रय करने वाले ज्ञानी जन भी भगवद्चरणारविदों का ही एकमात्र आश्रय लेकर पवित्र करते हैं– यहां प्रशमायनाः का अर्थ है– उत्तम प्रकार का 'शम' ही है स्थान जिनका ऐसे ज्ञानीजन। अथवा, भगवान् के चरणों का ही आश्रय करने वाले ऋषिगण, ज्ञान से युक्त होकर, तथा इस तरह ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति को प्राप्त करके, सभी को पवित्र करने में हेतु बनते हैं– अर्थात् स्वयं शुद्ध होकर, दूसरों को पवित्र करते हैं। यहां ज्ञान तथा कर्म- अपनी स्वशुद्धि के लिये उपयुक्त है– किंतु, दूसरों को पवित्र करने में ज्ञान और कर्म साक्षात् कारण नहीं हैं। इसलिये, दूसरों को पवित्र करने में भक्ति ही अपेक्षित है। ऐसे भक्त, समीप में, देह के केवल स्पर्श मात्र से सम्बन्ध मात्र से पवित्र कर देते हैं।

'तीन बार वेद का अध्ययन करे अथवा तीन रात्रि सावित्री का अध्ययन करे, तो एक वर्ष में ही व्यक्ति अपने आपको पवित्र कर लेता है'– इस तरह करने से मनुष्य कालान्तर में– विलंब से पवित्र होता है– किंतु भक्तों का सम्बन्ध तत्क्षण ही पवित्र कर देता है।

'ऋषयः' की जगह 'मुनयः' ऐसा पाठ होने पर भी 'मनन' करने वाले अथवा कर्मयोगी ऐसा अर्थ होगा। 'उपस्पृष्टाः' में 'उप' उपसर्ग का तात्पर्य है क्रूरता आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिये। अथवा, उपस्पृष्टा का सम्बन्ध गंगा जल के साथ है। अर्थात् गंगा के जल का स्पर्श पवित्र कर देता है। भक्त तो दृष्टि आदि से भी पवित्र कर देता है– अर्थात् भगवत् समाश्रित भक्त लोग तो शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं। किंतु, उपस्पृष्ट– अर्थात् 'स्पर्श किया गया गंगा-जल भगवत्सेवकों को ही पवित्र करता है– भगवद्-विमुखों को नहीं– क्योंकि 'जैसे गंगादि तीर्थों का

जल मदिरा के घट को पवित्र नहीं कर सकता, उसी तरह, भगवान् से विमुख को-अनेक विध प्रायश्चित भी मुक्त नहीं कर सकते'- प्रायश्चित्तानिचीर्णानि...। 'गंगाजल शीघ्र ही पवित्र करता हैं'- (सद्यः पुनाति गांगेयम्)- इसका तात्पर्य यह है कि नारायण के सन्मुख करके, गंगाजल पवित्र बनाता हैं। अथवा भगवत्-सन्निधि में स्पर्श किया गया गंगा जल शीघ्र ही पवित्र करता है- ऐसा भी उदाहरण (१) है। श्लोक में 'आपोनुसेवया' में 'अनुसेवया'- ऐसा पदच्छेद करने से यह अर्थ होता है कि गंगा-जल भगवत्सेवकों को ही पवित्र करता हैं- अब यदि 'आपः नु सेवया'- इस तरह पदच्छेद करते हैं तो 'नु' यहां वितर्क के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- अर्थात् भगवद् भक्त और गंगा पावन करते हुये भी, भगवत्सेवा के द्वारा ही पवित्र कर सकते हैं- अन्यथा नहीं (२)। अन्य किसी भी कारण से नहीं। यहां ऊपर ऊपर से पवित्र किया जाना अभिप्रेत नहीं है- यहां पवित्रता से, ऊपर ऊपर की सामान्य पवित्रता नहीं समझनी चाहिये- अपितु, यथार्थ पवित्रता से ही यहां अभिप्राय हैं- और, वह तभी सम्भव है, जब माया के स्पर्श का सर्वथा अभाव हो- परम पावनता तभी सम्भव है। भगवद् भक्तों के सम्बन्ध से जब माया सर्वशः निवृत्त हो जाती है तब परम पावनता आती हैं ॥१५॥

आभासः- एवं सार्द्धाभ्यां भगवद्रूपनामसम्बन्धिनां माहात्म्य उक्ते, शङ्का भवति—कथमिदमवगतं भगवच्छास्त्रव्यतिरेकेणेति। अवगते तु पुनः शास्त्रे प्रश्नोऽनुपपन्नः ? इत्यत आह—

आभासअर्थः—इस तरह ढाई श्लोक से भगवद्-रूप का तथा भगवद्-नाम का तथा उनके चरणों में आश्रय का सम्बन्ध का माहात्म्य कहा गया। यहां शङ्का होती है कि भगवत्-शास्त्र के ज्ञान के विना ही यह सब कुछ कैसे जान लिया गया- क्योंकि, यदि यह सब कुछ भगवत्-शास्त्र से ज्ञात था, तो फिर यह सब पूछने की आवश्यक्ता ही क्या थी ? इसके समाधान में कहते हैं—

श्लोक- को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥ १३ ॥

श्लोक अनुवादः—शुद्धि की कामना वाला जगत् में ऐसा कौन है, जो, पुण्यशाली- कीर्ति वाले- व्यक्तियों से संस्तुत्य भगवान् के कलिमलनाशक यश को न सुने। ॥१६॥

---

(१) यहां 'अथवा' से पक्षान्तर में यह अर्थ है- आचमन करने से गंगाजल जिस तरह सद्यः पवित्र कर देता है वैसे ही भक्त भी पवित्र कर देते हैं।

(२) यहां सेवा में, गंगा की अपेक्षा विशेष फल हैं।

सुबोधिनी—को वा भगवत इति । भगवद्यशःश्रवणेनाऽस्माकं हृदये स्वतः स्फुरितम् । अतः सामान्यतो ज्ञानविशेषार्थं प्रश्नः । यद्यपि **भक्त्यभावात्स्वतः** पुरुषार्थत्वेन भगद्यशःश्रवणं न भवति, तथापि सन्मार्गवर्तिनां शुद्धिरपेक्ष्यत इति तदर्थं श्रवणम् । विशेषतः कलौ । देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मणां षण्णामप्यशुद्धकरणात् । **स्वतन्त्रव्यावृत्त्यर्थं—क इति** । वेत्यनादरे । अश्रोतारो दैत्यांशा न गण्यन्त एवेति । जोवानां स्वत उत्कृष्टाद्ब्रह्मण एव शुद्धिः (?) **भगवत** इत्युक्तम् । **तस्ये**त्यवतीर्णस्य सुलभत्वाय । लौकिकप्रभुस्तोत्रवदन्नादकर्तृकव्याबृत्त्यर्थमाह—**पुण्यश्लोकेड्यकर्मण इति** । **पुण्या श्लोका** कीर्तिर्येषाम् । कीर्तनकर्तृणामपि कीर्तिर्यत्र सर्वान् पुनाति, तत्र किं वक्तव्यं कीर्तनस्य सर्वपावकत्वम् । तानपि पुनातीति वा । तेषां पावित्र्यापेक्षा नास्तीति वा । जनेन कीर्तिः पवित्रेस्वेव प्रतिष्ठितेति बोधितम् कर्मसामान्यग्रहणादुत्कर्षाऽऽधायककर्मव्यतिरिक्तान्यपि कर्माणि पावनानीत्युक्तम् । पुण्यश्लोकवचनादेवं ज्ञायते—कीर्तिमद्भिः सह सम्बन्धः प्रायेण सर्वेषां भवति, ते च भगवन्तमेव कीर्तयन्ते, अतो भगवत्कीर्तिश्रवणं सुलभमिति । यत्राऽऽपाततोऽपि शुद्धिः श्रवणेन, तत्र शुद्धिकामः कथं न शृणुयात् । आधारोत्कर्षाऽऽधायकसर्वलोकाऽऽह्लादकविसर्पि गुणः कीर्तिर्यशः । कलौ सर्वेषामपहतपाप्मत्वाभावान्न तैः कलिदोषनिवृत्तिः । भगवतस्तु कालात्परत्वात्तत्कीर्तेरपि तत्परत्वम् । अतः कलिदोषनिवर्तकमिति ॥ १६ ॥

सुबोधिनी अर्थः– हमें यह सब कुछ जो स्फुरित हुआ है, वह भगवान् के यश का श्रवण करते-करते ही हुआ है, शास्त्रों के द्वारा नहीं । किंतु, शास्त्र का सामान्य ज्ञान जरूर है, अतः विशेष ज्ञान के लिये यह प्रश्न किया गया है । यद्यपि, भक्ति के अभाव में भगवद् यश का स्वतः पुरुषार्थ रूप में श्रवण नहीं होता है, तथापि, सन्मार्ग पर चलने वाले को शुद्धि की अपेक्षा होती है, और, इसीलिये वह श्रवण करता है । विशेषतया इस कलि में इस श्रवण की विशेष आवश्यकता है– क्योंकि, कलि ने देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मंत्र और कर्म इन छहों को अशुद्ध कर दिया है । 'कोवा भगवतस्तस्य'– 'क' पद से यह तात्पर्य है कि जिनकी श्रवण में स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, उनको यहां नहीं लिया गया है । किंतु, जिनका स्वभाव तो श्रवण करने का है, फिर भी श्रवण नहीं करते– ऐसे लोगों के लिये यहां 'क' पद दिया गया है । 'वा'– यहां अनादर के अर्थ में है–जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नहीं है– वे अनादरणीय हैं– उनके विषय में कुछ भी कहना उपयुक्त नही है । अर्थात् जिनकी भगवान् के यश को सुनने में प्रवृत्ति नहीं है वे दैत्यांश हैं– अतः उनकी गणना ही नहीं करनी चाहिये । ब्रह्म जो स्वतः उत्कृष्ट है, उससे ही जीवों की शुद्धि है, और इसीलिये यहां 'भगवतः' इस पद का प्रयोग किया गया है । 'तस्य'– का तात्पर्य है जो अवतीर्ण हुये हैं, उनका ही यश सुलभ– अर्थात् अवतार-दशा में सुलभ है, अनवतारदशा में नहीं ।

पुण्यश्लोकेड्य कर्मणः—जिस तरह अपने लौकिक स्वामी की कोई स्तुति करता है, उसी प्रकार सामान्य जन आपकी स्तुति नहीं करते हैं, किन्तु पुण्य-कीर्ति वाले भक्त ही आपकी लीलाओं की स्तुति करते हैं– अतः जहां भगवत्-कीर्तन करने वाले की कीर्त्ति ही जब सभी को पवित्र कर देती है, तो फिर, स्वयं 'भगवत्कीर्तन' सर्व को पावन करता हो उसमें कहना ही क्या ? अथवा, पुण्यश्लोक होने से उन भक्तों को यद्यपि पवित्रता की अपेक्षा नहीं है, तथापि वे भगवत्कीर्तन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुण्य-श्लोक पवित्र हैं उनमें ही भगवत् कीर्त्ति रहती है, अर्थात् वे ही भगवान् की कीर्त्ति का गान कर सकते पुर्वोक्त पक्ति में 'कर्मणः' कर्म पद ही दिया गया है जिस से 'सामान्य कर्म' का ही ग्रहण होता है– जिससे यह निर्देश किया गया है– कि जो भगवत्कर्म– उत्कर्ष का आधायक नहीं है– अर्थात् जिन भगवत्कर्मों से भगवान् के उत्कर्ष का ज्ञान नहीं होता, वे कर्म भी पवित्र करने वाले हैं– भगवान् के ऐसे कर्म को श्रवण करने वाला भी पवित्र हो जाता है। श्लोकस्थ 'पुण्यश्लोक'– पद से ऐसा निर्देश किया गया है, उत्तम यशस्वी महानुभावों का सभी से सम्बन्ध होता है– वे भगवान् का ही कीर्तन करते हैं– अतः उनके यहां भगवत्कीर्तन का श्रवण सुलभ है। जहां भगवद्-यश के आपाततः श्रवण से शुद्धि होती हो, तो फिर, यथार्थ शुद्धि की इच्छा वाला उसे क्यों न सुने ?

जिससे व्यक्ति के उत्कर्ष में अभिवृद्धि हो– जो सर्व प्राणियों को आनन्द देने वाला हो, ऐसे सर्वत्र विस्तीर्ण गुण को कीर्ति कहते हैं– और इसी का नाम 'यश' है। कलियुग में सर्व प्राणी पाप रहित नहीं हैं– इसलिये, यह कलि-सुलभ दोष को दूर करने में असमर्थ है– किन्तु, भगवान् काल से भी अतीत हैं और इसी तरह इनकी कीर्त्ति भी है– अतः वह कलियुग के दोष को निवृत्त कर देती है ॥१६॥

आभासः–एवं प्रयोजनप्रश्नमुक्त्वा कर्मप्रश्नमाह—

आभासार्थः—इस तरह भगवान् के प्राकट्य का प्रयोजन कह कर, अब, उनके लीला-कर्म से सम्बन्धित – लीला – चरित्र के विषय में– प्रश्न करते हैं।

श्लोक– तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।
ब्रूहि नः श्रद्धानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥

श्लोक अनुवादः—जो भगवान अपनी लीलाओं के द्वारा प्रतिक्षण नूतन कलायें धारण करते हैं, उन भगवान् के नारदादि सूरियों से संकीर्त्तित उदार चरित्रों को श्रद्धोपंत हमकों कहें ॥१७॥

सुबोधिनी— तस्य कर्माणीति । तादृशप्रयोजनस्य श्रुतस्य हृदये समागमनार्थं कर्माण्येव पृच्छन्ति (?)— **तस्य कर्माणीति** । कर्मश्रवणेन यत्फलं तद्भगवता देयमित्यपि नास्ति । अन्यानि च फलानि कर्मैव पात्रापात्रविवेचनव्यतिरेकेणैवाऽल्पेभ्योऽपि बहु प्रयच्छतीत्याह—**उदाराणीति** । उदारादिविशेषणानि न व्यावर्तकानि । किन्तु कर्मोद्देशेनोदारत्वादि विधीयते । प्रथमत एवं विशेष्यनिर्देशात् । अवान्तर-फलप्राप्त्यर्थमुदारत्वनिर्देशः । मुख्यं फलं भगवत एव । तेषामज्ञानाभावमाह— **परिगीतानि सूरिभिरिति । परितो गीतानीति** सर्वतो दूराच्छ्रवणसम्भवः । **सूरिभिरि**त्यन्यथाकथनव्यावृत्तिः । तर्हि शौनकादीनामपि सुलभत्वादकथनमित्याशङ्क्याऽऽह—**श्रद्दधानानामिति** । श्रद्धया हि पुनः पुनः श्रवणेच्छा निरूपिता । कदाचिदपि रुच्यभावो नास्तीत्यभिप्रायेणाऽऽहुः (?)—**लीलया दधतः कला इति** अनायासेन हर्षात्क्रियमाणा चेष्टा लीला । तया नूतना एव कलाः प्रतिक्षणं ध्रियन्ते । भगवता यथा तथा तत्कर्मणामपि चन्द्रस्येव नूतनकलासम्बन्धात्कदाचिदपि नाऽरुचिः । इदं हि विशेषणं पूर्वोक्तनिर्वाहकम् ॥१७॥

सुबोधिनी अर्थ : भगवान् जिस प्रयोजन को लेकर प्रकट होते हैं, उसको हृदय में उतारने के लिये, उनके चरित्रों को ही पूछते हैं। चरित्र के श्रवण से जो फल होता है, उसे ही भगवान् देते हैं– ऐसा भी नहीं है। भगवत् कृत वे कर्म ही अन्य फलों को भी पात्रापात्र का विचार किये विना ही सामान्य जीव को भी अधिकाधिक मात्रा में प्रदान करते हैं। इसी का निर्देश 'कर्मण्युदाराणि' पंक्ति में किया गया है। जिस तरह उदार व्यक्ति पात्रापात्र का विचार किये विना ही– योग्यता से भी अधिक दान दे देता है, उसी तरह भगवान् के कर्म भी उदार हैं– वे भी पात्रापात्र का विचार किये विना ही प्रचुर मात्रा में दान कर देते हैं।

श्लोकोक्त 'उदाराणि' आदि कर्म के विशेषण हैं– ये विशेषण कर्म के स्वरूप को बताने वाले नहीं हैं, कर्म के उद्देश्य से ही उदारता आदि कहे गये हैं– उसका विधान करते हैं– अर्थात् भगवान् के कर्म उदार हैं, क्योंकि 'कर्माणि'– इस विशेष्य-पद का प्रथम निर्देश किया गया है– और उदाराणि विशेषण का तदनन्तर निर्देश है।

मुख्य फल तो भगवान् से ही मिलता है– किंतु वे कर्म उदार हैं, इसलिये अवान्तर फल (शुद्धि आदि) देते हैं। वे कर्म अज्ञात भी नहीं हैं, क्योंकि महानुभाव सूरियों ने, नारदादि भगवद् भक्तों ने उनका चारों ओर से संकीर्तन किया है। चारों ओर से गाये जाने के कारण– उनका चारों ओर से संकीर्तन किया है। चारों ओर से गाये जाने के कारण– उनका श्रवण सर्वत्र,

दूर से भी सम्भव है। इन चरित्रों का गान सूरियों ने किया है– अतः वे अन्यथा नहीं हैं– अपने यथार्थ स्वरूप में हैं।

यहां यह प्रश्न होता है कि चारों ओर से संकीर्तित भगवत्-चरित्रों का श्रवण-शौनक आदि ऋषियों को भी सुलभ है– तो फिर उनका यहां क्यों कथन किया जाये– इसके उत्तर में कहते हैं। 'श्रद्दधानानाम्'– अर्थात् हमारी उन कर्मों में श्रद्धा है, जिनमें श्रद्धा होती है उनको सुनने की बारम्बार इच्छा होती है– उनको इन कर्मों से कभी अरुचि नहीं होती– क्योंकि, लीलयादधतः कलाः – अनायास, हर्ष पूर्वक की जा रही चेष्टा को लीला कहते हैं। जिस तरह भगवान् इन लीखाओं से प्रतिक्षण नयी नयी कलायें धारण करते हैं, उसी प्रकार भगवत्कर्म भी चन्द्रमा की तरह, नवीन-नवीन कलाओं से सम्बन्ध करते हैं– इसलिये भगवत्-चरित्र के श्रवण से अरुचि होती ही नहीं। लीलयादधतः कलाः - यह विशेषण पूर्वोक्त चरित्र-कथन को सिद्ध करने वाला है।

एवमेकोपक्रमेण प्रयोजनकर्मणी पृष्टे। अथ भिन्नोपक्रमेणाऽऽवतारकथां पृच्छति—

इस तरह एक उपक्रम-प्रारम्भ से भगवान् के प्रकट होने का प्रयोजन तथा चरित्र पूछा गया है– अब, भिन्न पृथक्-क्रम से अवतार की कथा पूछी जाती है।

अथाऽऽख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्याऽऽत्ममायया ।।१८।।

अनुवादः– जो भगवान् अपनी सामर्थ्य रूप माया से स्वच्छन्द-लीला करते हैं, सर्वदुःख–निवारक उस भगवान् की शुभ अवतार–कथाओं को कहिये।१८।

सुबोधिनी : अथाऽऽख्याहीति। यद्यपि केचन अवतारास्तत्तदुपाख्याने श्रुतास्तथाप्येकोपक्रमेण सर्वेऽवताराः सविशेषा ज्ञातव्याः। अत औत्सुक्यात्पृथक्प्रश्नः। **अथेति** भिन्नोपक्रमे। **हरेरित्त** सामान्यतोऽवतारे परदुःखदूरीकरणं निमित्तमित्युक्तम्। अवतारस्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वान्न सर्वजनीनं तज्ज्ञान-मिति विशेषसम्बोधनम्—**धीमन्निति**। अवताराणां कथाः—कथमवतारः? कस्याऽवतारः? कुत्राऽवतारः? किमर्थमवतारः? इति। चतुर्धा कथा वक्तृश्रोतृप्रवर्तकानां शुभफलप्रदाः। वस्तुतोऽपि शुभाः। लोके पुत्रजन्मकथावत्। तत्रापि येष्ववतारेषु स्वेच्छया लीला विहारास्ते वक्तव्या इत्याऽऽह— **लीला विदधत इति**। **स्वैरमिति**। मर्यादातिक्रमेणाऽपि। तत्र हेतुः- **ईश्वरस्येति**। सर्वभवनसामर्थ्यं **माया**, अन्यथाकरणनिर्वाहे दोषाभावे च हेतुत्वेन निर्दिष्टा। **आत्मेति** नाऽन्यैर्ज्ञातुमुल्लङ्घितुं वा शक्या ।।१८।।

सुबोधिनी अर्थः– उन उन अवतारों के उपाख्यानों में, यद्यपि कतिपय अवतारों के चरित्र सुने गये हैं– तथापि, एक ही उपक्रम से, सभी अवतारों को उनकी विशेषता सहित जानना है– इसलिये शौनक ने उत्सुकता से पृथक् रूप से प्रश्न किया है। यहां 'अथ'–शब्द, पूर्वोक्त बातों से भिन्न बात कहने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । दूसरों के दुःख दूर करने के लिये भगवान् हरिः– अवतार लेते हैं, और उनके अवतार का यही सामान्य प्रयोजन यहां कहा है।

अवतार-स्वरूप दुर्ज्ञेय है उसका ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं हो सकता- इसीलिये सूत को यहां विशेष रूप से 'धीमन्' पद से सम्बोधित किया है। अवतार-कथा के विषय में चार रूप से प्रश्न हो सकते– १. अवतार कैसे हुआ ? २. किसका हुआ ? ३. कहां हुआ ? और, ४. किसलिये हुआ ? इस तरह अवतार सम्बन्धी चार प्रकार की कथायें, वक्ता, श्रोता तथा उनके प्रवर्तक को शुभ फल देने वाली होती हैं। वास्तव में भी कथा शुभ है– जैसे लोक में पुत्र-जन्म की बात शुभ होती है।

'इन अवतारों में भी, भगवान् ने जिन अवतारों में अपनी इच्छा से लीला-विहार की है उन्हें कहें' – इसी का निर्देश यहां 'लीला विदधतः' से किया गया है। 'स्वैरं'- इसका भाव यह है कि जो स्वच्छंदता से– अर्थात् भगवान् ने मर्यादा का अतिक्रमण करके जो लीला की हैं'- उन्हें कहें। मर्यादा के अतिक्रमण पूर्वक लीला करने का कारण यह है कि वह 'ईश्वर' है-- 'ईश्वरस्य'। सर्वभवनसामर्थ्य को माया कहते हैं। यह अन्यथा करके भी काम चला सकती है– तथा दोष न हो इसमें कारण मानी गयी है।

आत्ममायया– आत्मा से यह तात्पर्य है कि वह भगवान् की अपनी माया है– इसलिये यह दूसरों से नहीं जानी जासकती और उसका उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता ।।१८।।

आभास—नन्वेवं विशेषेण सर्वार्थपरिज्ञानवतां किं पुनः श्रवणेनेत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार विशेषरूप से सभी विषयों का परिज्ञान रखने वालों को फिर श्रवण से क्या लाभ ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक–वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।१९।।

श्लोक अनुवाद—भगवान के चरित्र को सुनते हुये हम तो तृप्त नहीं होते– क्योंकि, सुनने वाले रसज्ञों को इसके पद पद में अधिकाधिक रसास्वाद प्राप्त होता है।

वयं त्विति। ये पुनर्भगवत्कथास्वरूपानभिज्ञास्ते कियत्कालं श्रुत्वा निवर्तन्ते। न ह्यत्र रसज्ञो निवर्तते। तस्माद्ये निवर्तन्ते, तृप्ताः सन्तस्ते निवर्तन्ताम्। वयं तु पुनर्न वितृप्याम एव, कुतो निवृत्ता भविष्यामः। निवृत्तिस्त्रेधा सम्भवति। इतोऽप्युत्कृष्टे रसान्तरे सम्भवति, अस्याऽप्यभावे वा, रसाऽज्ञानाद्वा। तत्राऽऽद्ये निराकरोति—**उत्तमश्लोकविक्रम इति**। उत्तमैर्मुक्तैर्ब्रह्मानन्दानुभवयुक्त रपि श्लोक्यते भगवान्। तद्यथा तथा "इत्थंभूतगुणो हरि" रित्यत्र वक्ष्यते। तस्मान्न भगवत्कथा-रसादधिको रसः कश्चिदस्ति। प्रह्मानन्दरसोऽपि न्यून इति। अनेनैव दुर्लभताऽपि निवारिता। तस्य च विशेषेण क्रमः पादविक्षेपो यत्र स पराक्रमो विशेषेण क्रियाशक्त्याविर्भावः। स च पूर्णः सर्वत्र। तस्मान्न दुर्लभता। तृतीयं निराकरोति—**यच्छृण्वतामिति**। रसज्ञानं च श्रवणादेव भवति। यथा हि लोके सूपकारविद्यासु नेच्छानिवृत्तिः। किन्तु मूर्तत्वादुदरपूरणेन निवृत्तिस्तथा श्रवणेऽपि। विशेषोऽप्युक्तः। श्रवणेन गृहीतस्याऽमूर्तत्वात्। किञ्च रसाभिज्ञाः सर्वथाततो न निर्वन्ते। रसस्याऽनिवर्तकत्वात्। अस्य च रसस्य परात्परत्वात्। किञ्च। **स्वादु स्वादु पदे पद इति**। यथाऽधिकारमत्र हि रसाविर्भावः। यथा यथा ह्यज्ञानं निवर्तते, तथा तथा भगवद्रसास्वादो भवति। यथा ज्वरविमोकेऽन्नस्य। प्रथमप्रयोगे ह्यविद्यायाः पूर्णत्वादल्परसास्वादः। ततः प्रथम-श्रवणे काचिदविद्या निवृत्ता चेत्तदा द्वितीयेऽधिको रसः। एवमुत्तरत्राऽपि। परमो रसः सर्वथा मुक्तानाम्। किञ्च। प्रथमं वाक्यसमुदाये भगवान्प्रतीतः पुनः प्रत्येकं वाक्येषु। ततः पदेऽपि। पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं, प्रकृतिः प्रत्ययश्च। तेन अक्षरार्थत्वेन ज्ञातो भगवानतिरसप्रद इत्यर्थः ॥१६॥

सुबोधिनी अर्थः—भगवत्कथा के स्वरूप को जो नहीं जानते, वे कुछ समय तक कथा सुनकर फिर नहीं सुनते किन्तु जो रसज्ञ हैं वे कथा सुनने से निवृत्त ही नहीं होते– अतः जो तृप्त होकर निवृत्त हो गये हैं, उन्हें भले ही निवृत्त होने दीजिये– हम तो तृप्त होते ही नहीं– अतः हमारे लिये विवृत्त होने का अवसर ही कहां ?

भगवत्कथा से निवृत्ति तीन प्रकार से ही सम्भव है– १. यदि किसी में इससे भी अधिक उत्कृष्ट रस हो, २. अथवा ऐसी कथा सुनने को ही न मिले, ३. रस का ज्ञान ही न हो।

इनमें से प्रथम दो संभावनाओं का निराकरण करते हैं– उत्तम श्लोक भगवत्-चरित्र के श्रवण से हम कभी निवृत्त नहीं होते– क्योंकि ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले मुक्त भीव भी भगवत्-चरित्र का गान करते हैं– इस प्रसंग का निरूपण सविस्तर 'इत्थंभूलगुणो हरिः'– इत्यादि से हम अग्रिम स्थल में करेंगे। इसलिये भगवत्-कथा-रस से अधिक दूसरा कोई रस अन्यत्र नहीं है– ब्रह्मानन्द का रस भी इससे न्यून है। 'विक्रमः' इस पद से इस कथा की दुर्लभता

का भी निवारण हो जाता है। भगवान् का–विक्रम– अर्थात् पाद-विक्षेप जिसमें होता है उसको भगवत्-पराक्रम कहते हैं– इस पराक्रम (विक्रम) में विशेषरूप से, भगवान् की क्रिया-शक्ति आविर्भूत रहती है– इस प्रकार का भगवत्-पराक्रम सर्वत्र पूर्ण है– (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने पद-विक्षेप से भगवान् ने पूर्ण कर दिया था– ऐसी क्रिया-शक्ति उस समय प्रकट की गयी थी)। इस प्रकार के पराक्रम वाली भगवत्-कथा का रस सर्वत्र पूर्ण होने से दुर्लभ नहीं कहा जा सकता यह रस सर्वत्र सुलभ है। वह सुनते को न मिले, ऐसी बात नहीं है। अब, रस की अनभिज्ञता से होने वाली निवृत्ति का निराकरण करते हैं। रस का ज्ञान सुनने से ही होता है– यच्छृण्वताम्– जिस तरह लोक में रसोई–निर्माण करने के ज्ञानोपार्जन में इच्छा की निवृत्ति नहीं होती– भोजन बनाने की विद्या से, भोजनेच्छा की निवृत्ति नहीं होती– क्योंकि भोजन मूर्त पदार्थ है– उससे तो जब पेट भर जायगा तभी निवृत्ति होगी । इसी तरह श्रवणेच्छा की निवृत्ति तो श्रवण से ही होती है। भोज्य पक्ष तथा कथा रस में यह भेद है कि भोज्य–पदार्थ मूर्त है– कथा-रस अमूर्त। इस कथा में एक विशेषता यह भी है कि रस के जानने वाले इससे कभी निवृत्त नहीं होते– रस का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निवृत्त नहीं होने देता। फिर यह रस तो परात्पर है। एक बात यह भी है कि उस रस का आविर्भाव अधिकारी में उसके अधिकारानुसार होता है। जैसे जैसे अज्ञान निवृत्त होता जाता है वैसे वैसे भगवद्-रस का आस्वाद होने लगता है– जैसे जैसे ज्वर उतरता जाता है वैसे वैसे अन्न-स्वादु लगने लगता है।

प्रथम ही प्रथम जब भगवत्कथा रस प्राप्त होता है, तब, अविद्या से व्याप्त होने के कारण जीव को रसास्वाद अल्प प्रमाण में होता है– तदनन्तर, इस तरह प्रथम श्रवण से – अमुक अंश में अविद्या की निवृत्ति होने पर– द्वितीय बार सुनने से पूर्वापेक्षया अधिक रसास्वाद होता है– इस तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक रसास्वाद होता है। जो जीव सर्वतः मुक्त है उसको रस का सर्वोत्तम अनुभव आस्वाद होता है।

भगवत्कथा श्रवण करने वाले को पहिले वाक्य समुदाय में भगवान् की प्रतीति होती है, फिर, प्रत्येक वाक्य में, तदनन्तर, प्रत्येक पद में भी भगवत्प्रतीति होने लगती है। 'पद' शब्द का अर्थ है– 'पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति– पदम् प्रकृति प्रत्ययश्च' – जिससे अर्थ जाना जाय, उसे पद कहते हैं। इसलिये प्रकृति तथा प्रत्यय से भी अर्थ-ज्ञान होता है। अर्थात् प्रकृति तथा प्रत्यय एक अक्षर रूप भी होते हैं– इसलिये, प्रकृति तथा प्रत्यय सहित प्रत्येक अक्षर भगवान् का ही वर्णन करते हैं। प्रत्येक अक्षर की अर्थरूपता ही भगवद्रूपता है– अर्थात् प्रत्येक अक्षर की अर्थरूपता द्वारा भगवान् का ही ज्ञान जब होने लगेगा, तब भगवान 'अतिरस प्रद' हो जायेंगे ।।१९।।

आभासः— किञ्च । विशेषाऽऽकारेण कृष्णावतारकथा श्रोतव्येत्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थः—हमें विशेषरूप से कृष्णावतार की कथा सुनना है– इस अभिप्राय से कहते हैं कि–

श्लोक– कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्यानि भगवान्गूढः कपटमानुषः ।। २० ।।

श्लोक अनुवादः—गूढ़ कपट से मनुष्य-रूप धारण करने वाले, भगवान् श्रीकृष्ण-केशव–ने बलराम सहित जो यथार्थतः अलौकिक पराक्रम किये हैं– जिनको मनुष्य नहीं कर सकता–उनका आप हमें श्रवण कराइये ।।२०।।

सुबोधिनीः—**कृतवानिति । किलेति** प्रसिद्धे । आश्चर्येणाऽत्र प्रसिद्धिरुक्ता । अवस्थासाधन विरहेऽपि वीर्यकरणात् । अतः कृष्णावतारवीर्याणि किल अलौकिकानि । किञ्च । एकत्रैकदा आवेशेनाऽवतारेण च वीर्याणि न क्रियन्ते । अत्र तु रामेण सहेत्युभयरूपेण करणमुक्तम् । किञ्च । सर्वेष्ववतारेषु ब्रह्मेशयोर्न सुखदानम् । तयोरपि गुणाधिष्ठातृत्वेन स्पर्धादिसम्भवात् । तयोरर्थे हिताकरणात्तद्भक्तवधाच्च । तदत्र किमपि नास्तीत्याह—**केशव इति** । कश्च ईशश्च केशौ । केशयोर्वममृतं यस्मादिति । तयोरप्यानन्ददायी । वीर्याणामुत्कर्षमाह—**अतिमर्त्यानीति** । अतिक्रान्तं मर्त्यमेभ्य इति । वीर्यश्रवणे हि पुनर्न मर्त्यशरीरसम्बन्ध इत्यर्थः । अथवा । मर्त्यमतिक्रान्तानि । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वात् । तत्र हेतुः—**भगवानिति** । न भगवदवतार इत्यर्थः । तर्हि कथं शरीरप्रतीतिस्तत्राऽऽह—**गूढः कपटमानुष इति** । अयं लोके हि गुप्तः स्वसच्चिदानन्दरूपतां न प्रकाशयति । तत्र हेतुभूतं विशेषणम्—**कपटमानुष इति** । कपटेन लोकानां बुद्धिमोहनप्रकारेण मानुषः । तदेव रूप मानुषरूपवत्प्रतिभासयतीत्यर्थः । तस्मात्त्वया वक्तव्यमिति सिद्धम् । २०।।

सुबोधिनी अर्थः—भगवान् के पराक्रम प्रसिद्ध हैं– इसलिये 'किल' शब्द का प्रयोग किया गया है । अवस्था तथा साधनादि के अभाव में भी, पूतना-हनन आदि पराक्रम करने के कारण, उनकी यहां आश्चर्य-पूर्वक प्रसिद्धि का कथन किया गया है । इसलिये, कृष्णावतार के पराक्रम वस्तुतः अलौकिक हैं । विशेष बात यह है कि एक ही स्थान में एक ही समय में, आवेश तथा अवतार रूप में– एक साथ ही– भगवान् अपने पराक्रम नहीं दिखाते हैं– यहां तो 'रामेण सह'– आवेश तथा अवतार दोनों स्वरूपों में पराक्रम करना कहा है । और, भगवान् ने अपने सभी अवतारों में ब्रह्मा तथा शिव को सुख नहीं दिया है– क्योंकि, ये दोनों ही गुणों के अधिष्ठाता हैं,

इसलिये, उनमें स्पर्धा आदि दोष होना सम्भव है। अन्य अवतारों ने उनके भक्त रावण, हिरण्यकशिपु आदि को मारा है तथा उनका हित नहीं किया है।

इस कृष्णावतार में वैसा नहीं है– इसका निर्देश करने के लिये यहां 'केशव' पद का प्रयोग किया है– अर्थात् जिससे ब्रह्मा तथा शिव को नित्य सुख मिलता हो, उसे केशव कहते हैं– अर्थात् इन दोनों को आनन्द देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं। अब, भगवान् के पराक्रम की उत्कर्षता कहते हैं– अतिमर्त्यानि– भगवान् के इन पराक्रमों को सुनने से मर्त्य शरीर से पुनः सम्बन्ध नहीं होता है। अथवा, भगवान् के ये पराक्रम मर्त्य का अतिक्रमण करने वाले हैं– क्योंकि, भगवान् आनन्द मात्र कर, पाद, मुख और उद्दर वाले हैं– और इसीलिये साक्षात् भगवान् हैं, भगवद्-अवतार नहीं हैं। यदि ऐसा है– अर्थात् यदि भगवान हैं तो फिर, उनमें यह शरीर की प्रतीति क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि–गूढः- वे लोक में गुप्त हैं अर्थात् अपने सच्चिदानन्द रूप को प्रकाशित नहीं करते–इसमें कारण यह है कि–'कपट मानुषः'–कपट से अर्थात् लोगों की बुद्धि को मोहित करने के लिये–मनुष्य-शरीर को ग्रहण किया–और अपने स्वरूप की, मनुष्य रूप के समान प्रतीति कराते हैं। इसलिये, यह सिद्ध होता है कि आप, ऐसे भगवान् के पराक्रमों को कहें।

श्रवणे स्वाऽधिकारमाहुर्द्वाभ्याम्—

इस प्रकार की भगवद्-लीलाओं को श्रवण करने का हमें अधिकार है– यह दो श्लोकों से कहते हैं–

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन्वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥२१॥

अनुवाद : कलियुग को आया हुआ जानकर हम इस वैष्णव क्षेत्र में दीर्घ सत्रानुष्ठान पूर्वक यहां बैठे हुये हैं, इसलिये हरि भगवान् की कथा श्रवण करने के लिये हमें अवकाश है।

सुबोधिनी— कलिमागतमिति। कलौ तु सर्वधर्माणां निवृत्तिरिति सूतके सावकाश इव कलौ सावकाशाः। धर्माधिकारे हि सति धर्मत्यागभयाद्वैयग्र्यं कर्मकरणं वा सम्भवति। मर्यादातिक्रमे पुनः पापबाहुल्याद्भगवत्कथारुचिरेव निवृत्ता भवति। तस्मात्सर्वदोषनिवर्तकः कलिरिति, तस्मिन्नागते कथायां **सक्षणाः**। **वैष्णव इति**। यत्र क्वचित्कथाश्रवणे दैत्यैर्बुद्धिनाशः सम्भवति। तदा सर्वं नश्येत्। तन्निवृत्त्यर्थं क्षेत्रेऽस्मिन्नित्युक्तम्। किञ्च। सत्रवेदिरप्येषा। ततोऽपि न

दैत्यसम्बन्ध इत्यस्मिन्निति देशनिर्देशः । कलिकालादेः स्मार्तत्वात्कथं वैदिकविचारेणाऽनधिकार इत्याङ्क्याऽऽह— **आसीना दीर्घसत्रेणेति** । तथाच दीक्षितानामन्यकर्मनिवृत्तिः श्रौती । तत्समाप्तौ पुनः कर्मसम्बन्धाद्दीर्घसत्राऽऽरम्भः । तस्मात्सर्वथा सावकाशा इत्याह—**कथायां सक्षणा इति** । यदि कथा समारभ्यते तदा सहस्रसंवत्सरमितः कालः क्षणायत इति क्षणपदप्रयोगः । **न सर्वत्र** सक्षणाः किन्तु हरेः कथायामेव ॥२१॥

सुबोधिनीअर्थः— कलि में सभी धर्मों की निवृत्ति हो जाती है। **अतः** दूसरा कोई कार्य न होने से, सूतक में जिस तरह अवकाश रहता है, उसी तरह कलि में भी अन्य धर्मों के अभाव में नित्य अवकाश ही रहता है। जहां तक धर्म करने का अधिकार होता है- वहां तक धर्म-त्याग हो जाने के भय से व्यग्रता रहती है और वेदोक्त कर्म करना संभव है । यदि धर्म मर्यादा का अतिक्रमण होता है तो पाप अधिक होने से, भगवत्कथा में रुचि ही निवृत्त हो जाती है। इसलिये यह कलि, विहित कर्मादि रूप जो प्रतिबन्धक है, उन सबका निवर्तक है, कलि में धर्माधिकार नहीं है, इसलिये विहित कर्म नही किये जा सकते । इसलिये इस कलि के आगमन से हम भगवत्कथा में सावकाश हैं।

अब, अन्य किसी स्थान में, या जहां कहीं यदि यह कथा सुनी जाती तो दैत्यों द्वारा बुद्धिनाश की संभावना भी रहती और तब, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' – के अनुसार बुद्धिनाश होने पर सभी नष्ट हो जाता है। यहां ऐसा नहीं है– यह स्थान क्षेत्र विष्णु सम्बन्धी है । इसीलिये यहां 'क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे' पद का प्रयोग किया गया है। यह स्थान 'सत्रवेदि' भी है– अतः यहां दैत्य-सम्बन्ध भी नहीं है– इसी का निर्देश यहां 'अस्मिन्' पद से किया है । कलिकाल में तो स्मार्त धर्म करने का अधिकार है, तो फिर वैदिक कर्म में अधिकार नहीं है यह कहने की क्या आवश्यकता है ? तो कहते हैं कि हम दीर्घसत्र कर ही रहे हैं। वैदिक-प्रक्रिया यह है कि दीक्षितों को अन्य कर्म नहीं करना चाहिये– उसके समाप्त होने पर ही दूसरा कर्म करना चाहिये– इसलिये हमने दीर्घसत्र का प्रारम्भ किया है– तदनुसार, हम अन्य कर्मों से सर्वथा सावकाश हैं यदि भगवत्कथा प्रारम्भ की जाती है तो– यह हजार वर्ष वाला काल भी क्षण भर-सा ज्ञात होने लगेगा– इसी का संकेत 'कथायां सक्षणाः' से तथा 'सक्षणाः' इस क्षण-पद से किया गया है। हम यहां अन्य किसी कार्य के लिये सावकाश नहीं है किंतु, हरिकथा के लिये ही साव-काश हैं ॥२१॥

अत्र ह्येका सामग्री न्यूना । सा भगवता सम्पादितेत्याह—

यहां वक्ता के अभाव में जो न्यूनता थी– वह भी भगवान् ने पूर्ण करदी- यही कहते हैं-

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवाऽर्णवम् ।।२२।।

श्लोकाऽनुवाद - विवेक, धैर्य एवं ज्ञान को नष्ट करने वाले इस दुस्तर कलि को संपूर्ण रूप से पार करने की इच्छा वाले हमको, निःशेष-समुद्र-संतीर्ण करने वाले को जिस तरह कर्णधार मिल जाता है, उसी तरह भगवान् ने आपकी प्राप्ति करा दी है ।।

सुबोधिनीः— त्वं नः सन्दर्शित इति। धात्रा सर्वकर्त्रा भगवता ब्रह्मणा वा कथारसाभिज्ञेन । त्वं च नः अस्मदीयः स्वाधीनश्च । कथाऽभावे दुस्तरः कलिः । दुःखेन तरस्तरणं यस्येति । ननु कथारहिता अपि कलिं तरिष्यन्ति ऋषयः । को भवत्सु विशेष ? इत्यत आहुः— **सत्त्वहरमिति** । विवेकधैर्यज्ञानहरम् । सत्त्वगुणे गते रजस्तमोभ्यां लयविक्षेपावेव । अतस्तेषां सर्वस्वनाशेन कलेस्तरणं भविष्यतीति भावः । अभीष्टकाले अभीष्टदेशसम्बन्धाभावः । कर्णधाररहिते समुद्रे । तथा कथावक्त्रभावे कलौ ।।२२।।

सुबोधिनीः अर्थ— कथारस को जाननेवाले सर्वकर्ता भगवान् ने अथवा ब्रह्मा ने हमारे और हमारे अधीन– ऐसे आपको प्राप्त कराया है । कथा के अभाव में यह कलि दुस्तर है । यदि यह कहो कि कथा रहित भी ऋषिगण तो कलि को तीर्ण करने में समर्थ हैं। इसके अभाव में फिर, आप लोगों की विशेषता ही क्या ? इसके उत्तर में कथन है यह कलियुग– 'सत्वहरम्'– विवेक, धैर्य और ज्ञान को हर लेने वाला है। सत्व के नष्ट हो जाने पर, शेष बचे हुये रजोगुण और तमोगुण से लय और विक्षेप ही होते हैं। इसलिये ऋषियों का जो सर्वस्व विवेकादि है उसका नाश होने पर कलियुग को पार करना दुष्कर है– उसे कोई पार नहीं कर सकेगा। इच्छित समय में, इच्छित देश का सम्बन्ध नहीं होता, जैसे कि समुद्र पार कराने मं नाविक यदि न मिले– वैसे, कलियुग में भगवत्कथा कहने वाला नहीं हो, तब कलियुग कभी तीर्ण नहीं किया जा सकता ।२२।

किञ्च । धर्मेण सह पूर्वं वयं त्वत्र समागताः कथायां नियुक्ताः । धर्मस्य का वार्तेति षष्ठं प्रश्नमाहुः (?)—

एक बात यह कि पहिले हम धर्म करते हुये रहते थे-- अब, यहां आकर हम कथा में लग गये– हमें यह समझाइये कि संप्रति धर्म की क्या स्थिति है ? इस तरह यह छठा प्रश्न करते हैं–

श्लोक– ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ।।२३।।

श्लोकाऽनुवाद—योगेश्वर, ब्राह्मणों के रक्षक और धर्म के कवच रूप भगवान् श्रीकृष्ण वैकुंठ पधार गये तब, संप्रति धर्म किसकी शरण में गया ?

सुबोधिनी—ब्रूहि योगेश्वर इति । एतच्च ब्रूहि धर्मस्य हि ग्लानौ तद्रक्षार्थं स भगवानवतरति । "**यदा यदा हि धर्मस्ये**"ति वाक्यात् । योगोऽपि धर्मरक्षकः । "**अयं हि परमो धर्म**" इति वाक्यात् । तस्याऽपीश्वरे कृष्णे । ब्राह्मणा अपि धर्मं प्रतिपालयन्ति । तद्योगावतारब्रह्मण्यरूपे भगवति कृष्णे स्वां काष्ठां वैकुण्ठं गते, धर्मस्य सम्भावितशरणाऽभावाद्भगवद्विषयकबुद्धेर्धर्मकार्यरूपाया विद्यमानत्वाद्धर्मोऽस्तीति प्रतीतेर्धर्मः कं शरणं गत **इति** प्रश्नः ।।२३।।

सुबोधिनी अर्थः– जब जब धर्म का ह्रास होता है तब तब धर्म की रक्षा करने **भगवान्** अवतार लेते हैं– भगवद्गीता में भी यही कहा गया है– 'यदायदा हि धर्मस्य' । तदुपरांत 'योग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना ही उत्तमोत्तम लाभ है'– इस वाक्य से योग भी धर्म का रक्षक कहा गया है– 'अयं हि परमो धर्मो पद् योगेनात्मदर्शनम्' । इस योग के ईश्वर भी श्रीकृष्ण हैं । ब्राह्मण भी धर्म के रक्षक हैं– ब्रह्मण्य-रूप भी श्रीकृष्ण ही हैं । इसलिये योग के अवतार तथा ब्रह्मण्य-रूप श्रीकृष्ण के वैकुंठ-गमन करने पर धर्म के संभावित-शरण जो भगवान् हैं–उनके अभाव में, धर्म का कोई संभावित स्थान ही नहीं रहा– इसी तरह, धर्म के विना भगवद्-विषयकबुद्धि होती ही नहीं, किंतु हमारे में भगवद्-विषयक यह बुद्धि है । इससे ज्ञात होता है कि धर्म है– ऐसी प्रतीति अवश्य होती है, तो फिर वह धर्म किसकी शरण में गया ? ऐसा प्रश्न होता है ।।२३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
प्रथमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

इस प्रकार श्रीमद्लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्रीवल्लभ दीक्षित विरचित श्रीमद्भागवत सुबोधिनी प्रथमस्कंध का प्रथम अध्याय संपूर्ण हुवा ।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्-भागवत-संहिता

प्रथम–स्कन्ध

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-चरण विरचित श्रीसुबोधिनी व्याख्या

द्वितीय अध्याय

भागवत कथा एवं भगवद्-भक्ति के माहात्म्य का अनुवादात्मक विवेचन

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में, दो कारिकाओं द्वारा संगति का तथा अध्याय का निरूपण किया गया है—

कारिका– कथाश्रवणभावेन मनोरथमहार्णवे ।
निमग्नान्सूतदानेन ह्युज्जहार ऋषीन्हरिः ॥१॥
फलसाधनरूपाणां निर्णयः कर्मणामपि ।
त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये द्वितीयेऽन्यत्र शेषिणाम् ॥२॥

कारिकाऽर्थ—भगवत्कथा-श्रवण में प्रेम भाव के कारण कथा श्रवण रूप अपने मनोरथ के महासमुन्द्र में डूबे हुये शौनकादि ऋषियों को सूत पौराणिक का वक्ता के रूप में उनको दान देकर भगवान् श्रीहरि ने उद्धार किया– इसका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय में, फल और साधन के प्रकारों का तथा कर्म का भी– इन तीनों का निर्णय किया जायगा। तत्पश्चात् बाकी बचे हुये रामादि अवतारों का उनके प्रयोजन का तथा अवतारी श्रीकृष्ण का निरूपण तीसरे अध्याय में किया जायेगा।

प्रथममुत्तराणि वक्तुं देवतागुरुनमस्कारं मङ्गलमभिनन्दनञ्च सूतः करोतीति व्यास आह—

शौनकादि द्वारा इससे पूर्व में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के पहिले सूत, यहां देवता श्रौर गुरु का नमस्कारात्मक मङ्गला-चरण करते हैं- श्रौर यही बात श्री व्यास निम्न श्लोक से कहते है-

व्यास उवाच—

श्लोक- इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः स विप्रै रौमहर्षरिणः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ।।१।।

श्लोकाऽर्थः—इस प्रकार शौनकादि ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मविषयक प्रश्नों के पूछे जाने पर सूतने, उनके वचनों की प्रशंसा करके कहना प्रारम्भ किया ।

सुबोधिनी—इति सम्प्रश्नेति । एवं पुरुषार्थपर्यवसायिभिः सम्प्रश्नैः सम्यग्ब्रह्मविषयकैः प्रश्नैः सम्यगादरपूर्वकं पृष्टः । **विप्रैरिति** । प्रा पूरणे । विशेषेण वक्तारमात्मानं वा भक्त्या पूरयन्तीति विप्राः । श्रवश्यं तेषां वचने उत्तरं देयमिति **रौमहर्षरिणः** । रोमहर्षणस्याऽपत्यं रौमहर्षरिण रोमसु सर्वदा हर्षणं यस्य तस्य सर्वदा भक्त्युद्रेकः । तथैवाऽयमिति ज्ञापयति । **प्रतिपूजनमभिनन्दनम्** । सामान्यतस्तद्ग्रन्थाद्बहिरिति ज्ञातव्यम् । क्रमानुरोधात् । श्रग्रे त्वभिनन्दनं सामान्योत्तरत्वेन ज्ञातव्यम् । **प्रवक्तुमिति** । स्वबुद्धया निर्द्धारितार्थं भागवतं च वक्तुमुपचक्रमे ।।१।।

सुबोधिनी श्रर्थ—इस तरह विप्रों ने, सूत से, पुरूषार्थ से सम्बन्धित ब्रह्म विषयक प्रश्नों को पूछा । विप्रैः में प्रा धातु का भी श्रर्थ है पूर्ण करना- वि उपसर्ग है श्रर्थात् विशेष करके जो वक्ता को तथा स्वयं को भी भक्ति से परिपूर्ण करता हो उसे विप्र कहते हैं । तदनुसार विप्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर श्रवश्य देना ही चाहिये । रौमहर्षरिणः—भक्ति के निरंतर उद्रेक से जिसके रोम रोम मे हर्ष व्याप्त रहता हो । उसको 'रोमहर्ष' कहते हैं- रोम हर्ष के पुत्र सूत पौराणिक उग्रश्रवाभी निरंतर भक्तिउद्रेक वाले है- यही निर्देश करने के लिये इनको यहां रोमहर्ष के पुत्र रौम हर्षरिण- ऐसा कहा गया है ऐसे रौमहर्षरिण ने शौनकादिकों के वचनों का श्रभिनंदन किया- श्रर्थात् उनके वचनों की सामान्यतया प्रशंसा की, श्रौर यह प्रशंसा, प्रस्तुत क्रम के श्रनुरोध से ग्रंथ के बाहर ही कि गयी है, क्योंकि श्रग्रिम प्रसंग में जो प्रशंसा करेंगे, वह सामान्य रूप से उत्तर देने के उपरांत ही करेंगे- ऐसा समझना चाहिये । प्रवक्तु- श्रर्थात् श्रपनी बुद्धि से निर्धारित किये गये श्रर्थ को तथा भागवत को कहना प्रारम्भ किया ।।१।।

श्राभास : देवतागुरुनमस्कारं च कृतवान् । तत्राऽऽदौ गुरुनमस्कारमाह द्वाभ्यां वैराग्यज्ञा-

नाभ्याम् । तत्र प्रथमं वैराग्यमाह—

आभासार्थ : भागवत-कथानारम्भ से पहिले–देवता तथा गुरु को नमस्कार किया गया है- तदनुसार प्रथम गुरु को, उनके ज्ञान और वैराग्य के निरूपक दो श्लाकों द्वारा-नमस्कार करते हैं- यहां प्रथम उनके वैराग्य का कथन किया जाता है

श्लोक- यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।।२।।

श्लोकार्थं : उपनयन संस्कार को प्राप्त किये विना ही जिसके कर्म-मात्र निवृत्त हो गये हैं और इसीलिये दुःसंग के भय से वेग पूर्वक दूर दूर चले जाते हुये श्री शुक को विरह से कातर उनके पिता श्री व्यास ने हे पुत्र ! इस तरह पुकारते हुये जब बुलाया तब स्वयं ब्रह्मरूप होने के कारण ब्रह्म मे अपनी तन्मयता के कारण-श्रीशुक ने उनको उत्तर नहीं दिया । किन्तु श्री शुक की ओर से शुक में अपनी तन्मयता के कारण वृक्षों ने ही श्री व्यास को उत्तर दिया !!! ऐसे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय को प्रेरणा देने वाले ब्रह्म-चिंतन परायण श्री व्यास पुत्र श्री शुकदेव मुनि को मैं सर्वप्तः प्रणाम करता हूं ।।२।।

सुबोधिनी–यं प्रव्रजन्तमिति । अत्र हि यथा यथा विरक्तस्तथा तथाऽधिकारी । तत्र शुकस्य पूर्वजन्मन्येव ज्ञानसहितत्वाद्योग्यदेहार्थं विष्णोर्व्यासस्य सकाशाद्देहं प्राप्य उभयसम्पत्तौ सङ्गेन ज्ञाननाशभयात्पूर्वसंस्कारस्य दृढत्वादिदानीमनुपनीत एव प्रव्रजति । व्यासस्याऽधिकारित्वाद्देहादिधर्माः प्रवर्तन्ते । इदं प्रव्रजनं नाऽऽश्रमः । किन्तु सङ्गभयाद्गमनमात्रम् । तदनुचितमिव मत्वा निवर्तनाय व्यासस्य गमनम् । भगवद्धर्मेषु हृदयं प्रविष्टेषु हि भयं निवर्त्तते । बलिष्ठस्य हि भयाभावः । बलं भगवत एवेति कोपादिना गमनं वारयति-**प्रेति** । निवारणे हेतुः-**अनुपेतमिति** । गमने हेतुः—**अपेतकृत्यमिति** । कार्ये विद्यमाने ह्युपनयनम् । विष्णोः सकाशाज्जातस्य देहस्य पुनः संस्कारो नाऽपेक्ष्यते । मोहे हेतुः—**द्वैपायन इति** द्विर्गता आपो यत्र तद्वीपमयनं जन्मस्थानं यस्य । यमुनान्तर्जले तथोत्पन्नत्वात् । पराशरध्यातभगवदवतारात्सर्वं सुस्थम् । नारदोपदेशात्पूर्वं विस्मृतात्मत्वाद्विरहकातरः । विरहेण-कातरो दीनः पुत्रेत्याह्वानं कृतवान् । प्रेम्णा सन्नकण्ठत्वात्प्लुताऽभावः ततः सन्धिः । **"स सर्वमभवदि"** ति ब्रह्मणे ज्ञानस्योत्पत्तेः सर्वभावः स्फुरति । योगेन प्रवेशोऽपि सम्भवति । कर्तुः प्राधान्येऽपि **यच्छब्देन** कर्मसम्बन्धात्तच्छब्देन कर्मैवोच्यते इति । तन्मयतया शुकमयतया । विष्णोः सकाशादुत्पन्नास्तरवः शुकोऽपि । **"वैष्णवा वै वनस्पतय"** इति श्रुतेरेकोपादानकत्वात्तन्मयत्वम् । अभिनन्दनं प्रतिध्वनिरूपम् । अथवा । **"वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमद्यज्ञायाऽऽतिष्ठमाना । सा वनस्पतीन्याविशत्सैषा वाग्वनस्पतिषु वदती"** ति श्रुतेर्वृक्षेभ्य एव शब्दोत्पत्तिः । तेषां कथने हेतुं वदन्

शुकस्य ब्रह्मभावमाह—**सर्वभूतहृदयमिति** । सर्वभूतानां हृत् अतते प्रेरयति, प्रेरणार्थं गच्छतीति वा । सर्वभूतेषु हृदयं यस्येति प्रेरणसामर्थ्यं वा । गतस्य तूष्णीम्भावं निवारयति—**मुनिमिति** । ब्रह्मात्मभावं विचारयन्तम् । आ सर्वतो नतोऽस्मि । सर्वत्र तस्य विद्यमानत्वात् ।।२।।

सुबोधिनी अनुवाद:—जिसमें जितना जितना विराग उसको भागवत में उतना उतना ही अधिकार वहां श्री शुक तो पूर्व जन्म से हि ज्ञानी थे । अतः उन्होंने योग्य देह के लिये विष्णु रूप व्यास से देह प्राप्त की । और इस तरह, ज्ञान तथा योग्य देह से– दोनों से– सम्पन्न होकर उन्हें यह विचार हुआ कि कहीं संग से ज्ञान नष्ट हो जाय-इस भय से, और क्योंकि उनमे पूर्व जन्म के संस्कार भी दृढ़ थे, इसिलिये वह यज्ञोपवीत– संस्कार प्राप्त किये विना हि सबकुछ छोड़कर चले जा रहे हैं । और क्योंकि व्यास ज्ञान देने के अधिकारी हैं इसलिये वह देहादिधर्मों से युक्त हैं– उन्हें देहादि का अध्यास है अतः उन्होंने सोचा कि शुक का इस तरह चले जाना सन्यासाश्रम के अनुरूप नहीं है– किन्तु, संग भय से गमन मात्र है तो वह भी अनुचित सा है– और यही मानकर व्यासजी शुक को पीछे लिवालाने के लिये उनके पीछे-पीछे जाने लगे– (अर्थात् संग भय से शुक जो चले जा रहे हैं वह उचित तहीं क्योंकि)– हृदय में भगवद् धर्मों के प्रविष्ट होते ही भय निवृत्त हो जाता है । बलिष्ठ को भय नहीं होता । और बल भगवान् का ही है । श्री शुक के हृदय में, भगवद् धर्मों के प्रवेश होने से, संगादि भय को स्थान ही कहां ? यदि यह कहो कि शुक क्रोधादि के वश होकर चले जा रहे हैं-- तो यह कथन भी सुसंगत नहीं । श्लोक के 'प्रव्रजन्तम्'– पद में जो 'प्र' उपसर्ग है, उससे यह सूचित किया गया है कि शुक का यह 'गमन' वैराग्य से है– क्रोधादि से नहीं (क्योंकि 'प्रव्रजन' वैराग्य होने पर ही किया जाता है– यदहरेवविरजेत् तदहरेव-प्रव्रजेत्-प्रव्रज्या को वैराग्य कहते हैं ।)

व्यासजी श्रीशुक को जो पीछे लिवालाना चाहते हैं, उसका कारण यह है कि वह अभी यज्ञोपवीत- संस्कार से संस्कृत ही नहीं हुये । श्री शुक के प्रव्रजन में कारण यह है कि वह सभी कार्यों से मुक्त है । कोई कर्तव्य शेष रहा हो तो उसके संपादन के लिये यज्ञोपवीत संस्कार की आवश्यकता होती है । जिसके देह की उत्पत्ति विष्णु रूप व्यास से हुयी है– ऐसे शुकको पुनः संस्कार की अपेक्षा नहीं है । और इसीलिये– वह यज्ञोपवीत संस्कार लिये विना ही चल दिये ।

व्यास को मोह होने का कारण है उनका 'द्वैपायन' होना । व्यास का जन्मस्थान द्वीप है– । जिसके दोनों और जल हो उसको द्वीप कहते है । यमुना के मध्य में अर्थात् द्वीप में जन्म होने के कारण व्यास द्वैपायन कहलाते हैं । यदि यह कहो कि व्यास यमुना के मध्य में कैसे उत्पन्न हुये ? तो कहते हैं कि पराशर ने जब भगवान् का ध्यान किया, तब हो भगवान् ही व्यास रूप से

अवतीर्ण हुये । अतः भगवत् अवतार होने के कारण उनकी उत्पत्ति यमुना जल के मध्य में हो सकती है । ऐसे व्यासजी को, नारद का उपदेश प्राप्त होने के पूर्व, अपने स्वरूप की विस्मृति थी– और इसीलिये वह विरह से दीन हो गये थे । अपनी इसी दीनावस्था मे, शुक को, "हे पुत्र ! हे पुत्र !" इस तरह से पुकारने लगे । श्री व्यास का कंठ पुत्र स्नेह से रुद्ध हो गया था– इसीलिये 'हे पुत्र ! इस संबोधन के अंतमे प्लुत का उच्चारण नहीं कर सके–यदि प्लुत का उच्चारण करते तो व्याकरण के नियमानुसार यहां "पुत्र" तथा "इति" में 'पुत्रेति' ऐसी संधि नहीं होती ("दूराद्धूतेच' इस सूत्रानुसार दूरसे बुलाने में 'हे पुत्र' इस तरह यहां प्लुत होता है-और 'प्लुत प्रगृह्याअचिनित्यम्' इस सूत्र से प्लुत के करण 'पुत्र इति' मे प्रकृतिभाव रहेगा– 'पुत्रेति' इस तरह संधि नहीं की जा सकती) तदनुसार यहां 'प्लुत' के अभाव में 'पुत्रेति' ऐसी संधि की गई है । श्रीधर स्वामी ने अपने 'भागवत व्याख्यान' मे इस'पुत्रेति'संधि को 'आर्षत्वात् शुद्धः' आर्ष प्रयोग के कारण शुद्ध कहा है किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि 'विरहकातर' इस पद के तात्पर्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया ।

यदि यह शंका की जाय कि 'तरवोऽभिनेदुः' वृक्षों ने प्रतिध्वनि रूप से शुक की और से श्री व्यास को उत्तर दिया– वह सुसंगत नहीं क्योंकि वृक्षों से युक्त प्रदेश में 'प्रतिध्वनि' नहीं होती इसका समाधान यह है कि– 'स सर्वमभवत्'– 'वह सब कुछ हो गया'– इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर उसके फल स्वरूप सर्वभाव की स्फूर्ति होने लगती है श्री शुक ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न थे अतः यदि वे वृक्ष रूप बन गये (वृक्ष भाव को प्राप्त हो गये) तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं । तदुपरांत, योग से तो वृक्षो में भी प्रवेश संभव है– अतः वृक्षों से भी उत्तरदान रूप प्रतिध्वनि युक्ति युक्त है ।

यहां संदेह होता है– कि ब्रह्मज्ञान तथा योग ये दोनों जैसे शुक में है वैसे ही व्यास में भी विद्यमान हैं तो फिर वृक्षों ने शुकमय होकर प्रत्युत्तर दिया या व्यासमय होकर । इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'आजुहाव' में यद्यपि कर्त्ता की अर्थात् व्यास की प्रधानता है तथापि 'यत्' शब्द के कर्म प्रधान होने से 'तत्' शब्द से कर्म का ही अर्थात् शुक का ही ग्रहण किया जायगा तदनुसार तन्मयतया- (तत्–मयतया) का अर्थ है- 'शुकमयतया' अर्थात् वृक्षों के शुकमय होने के कारण । तदुपरांत, विष्णु से शुक तथा 'वृक्षों' की उत्पत्ति मानो गयी है । श्रुतिभी शुक और वृक्ष इन दोनों के एक ही उपादान कारण का विष्णु का समर्थन करती है 'वैष्णवा वै वनस्पतयः वनस्पतियां विष्णु से उत्पन्न हुयी । इस तरह शुक और वृक्षों का उपादान कारण एक ही होने से 'तन्मय' का अर्थ यहां शुकमय होगा । व्यासमय नहीं । इससे यही सिद्ध होता है कि शुक की और से वृक्षों द्वारा किया गया अभिनन्दन प्रतिध्वनि रूप था ।

अथवा, 'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमत्-यज्ञायाऽतिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति'– इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि वाणी–शब्द ने वनस्पतियों में प्रवेश किया– वही यह वाणी (शब्द) वनस्पतियों में मुखरित होती है– अर्थात् शब्द की उत्पत्ति वनस्पतियों से हुयी है। वृक्षों द्वारा की गई इस प्रकार की प्रतिध्वनि में, शुक का ब्रह्मभाव ही, कारण है। श्रीशुक, सर्व-प्राणियों के हृदय रूप 'प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है'। सर्व-प्राणियों के हृदय में उनको प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करते है– जाते हैं। हृदय = हृत्+अय– अर्थात् जो प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करता है, हृदय में गमन करता है– (अर्थात्)– अथवा– भगवान् ही सर्व प्राणियों का हृदय रूप अर्थात् प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है।

यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि श्रीशुक चुपचाप- मौन-धारण किये हुये– चले जारहे थे– श्रीशुक मुनि हैं, ब्रह्मात्म-भाव का मनन- विचार करते हुये चले जा रहे हैं– और इसीलिये श्रीव्यास को उत्तर नहीं दिया ऐसे श्रीशुक को, और क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान हैं– इसलिये- सभी ओर से सर्वतः, नमस्कार करता हूं – नतोऽस्मि ॥२॥

आभास—एवं प्रथमं ज्ञानवैराग्ये उक्ते। पश्चाद्भक्त्या भगवज्ज्ञाने जाते विशेषमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्म भाव होने से ज्ञान का तथा स्थान को त्याग कर चले जाने से वैराग्य का इन दोनों का निरूपण किया गया। तदनन्तर, श्री शुक को भक्ति द्वारा जो भगवद्ज्ञान हुआ तथा उससे उनमें गुरुत्व रूप जो विशेषता आई उसका कथन करते हैं।

श्लोक– यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतान्तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥३॥

श्लोकार्थ : मैं, उस व्यास-पुत्र श्री शुक की शरण में जाता हूं जो मुनियों के गुरु है, अपने चिन्तकों को असाधारण प्रभाव से संपन्न करते हैं, श्रुतियों के सार रूप हैं, घोर अंधकार को तीर्ण करने की इच्छा-वालों के लिये ज्ञान के प्रदीप हैं तथा जिसने पुराणों में निगूढ रूपसे निहित श्री भागवत् को– संसारी जीवों पर दया-पूर्वक प्रकट किया है ॥३॥

सुबोधिनी : यः स्वानुभावमिति। सङ्गभयं तु निवृत्तम्। चिरकालमननेन भगवदावेशे सति व्याससमीपाऽऽगमनं, भागवतपाठश्चाऽर्थाल्लक्ष्यते। तदनु भागवतरसाभिनिविष्टः सर्वत्र मुनिभ्य उपदिशति। तदाह—**गुरुं मुनीनामिति**। भागवतस्य स्वरूपोत्कर्षाय चत्वारि विशेषणानि प्रमेयरूपतां प्रमाणरूपतामसाधारण्यं साधनोत्तमरूपतां प्रतिपादयन्ति क्रमेण। तत्र **स्वानुभावं**,

भागवतस्य भगवद्रूपत्वाद्यथा भगवतः स्वः असाधारणोऽनुभावः सर्वभक्तेषु तथा भागवतस्याऽपि तच्चिन्तकेषु । किञ्च । **अखिलश्रुतिसारम्** । कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि प्रतिपादितस्य भक्तिशेषत्वकथनात्सर्वश्रुतितात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च सर्वश्रुतिसारम् । अखिलपदेन च देवदैत्यादिषु प्रवृत्तायाः श्रुतेस्तत्तदभिप्रायेणाऽर्थकथने खिलत्वमापद्यते तन्निवार्यते । आकरस्थितानां सर्ववेदानामर्थरसभूतमित्यर्थः । **एकमित्यसाधारणम्** । अन्यथा एतस्याऽपि रसान्तरसम्भावना स्यात् । बहूनां तादृशानां निर्द्धारणात् । **अध्यात्मदीपमिति** । बहिः सन्ति दीपा बोधकाः पुरुषाश्च । आत्मनि पुनर्विरला वाचा बोधयन्त्येव । न हि तादृशो भागवतादन्योऽस्ति गुरूपदेशतपःसाधनविचारव्यतिरेकेण येन सर्वेषामात्मसाक्षात्कारो भवेत् । यथा गृहे दीपे स्थापिते घटादीनां न गुर्वाद्यपेक्षा, तथा भागवते सति न काऽप्यपेक्षेत्यर्थः । अन्धन्तमः अतितर्तुमिच्छतामध्यात्मदीपमिति योजना । आत्मानमधीत्यात्मसम्बन्धिसर्वपदार्थानाम् । न केवलं मुनिभ्य एवाऽऽह । संसारिणामपि करुणया । परीक्षित्सभादिष्वपीत्यर्थः । यथा मलाऽपाकरणे वस्त्रादौ मलनिवृत्तिः शुद्धिश्च भवति । शुभ्राणां तु कर्मयोग्यतैव । तथा संसारिणां मुनीनां च विशेष इति भावः । मायाशुकव्यावृत्त्यर्थं—**व्याससूनुमिति** । **उपयामि** शरणं गच्छामि । इदानीमेव समीपे गत्वा तद्वाक्यं श्रुत्वा कथयिष्यामीत्युपशब्दार्थः ।।३।।

सुबोधिनी अनुवाद—श्री शुकका, भगवद्धर्मों के हृदय में प्रविष्ट होने से, संग-भय तो निवृत्त हो गया था । तदुपरांत, चिरकाल तक मनन करने से, भगवद्-आवेश होने पर, श्रीशुक, व्यासजी के पास आये, और, उस समय उनसे यथावत् भागवत् का अध्ययन किया– यह सहज समझा जा सकता है । तदनन्तर, भागवत- रस-में निमग्न श्रीशुक सर्वत्र मुनि महानुभावों को भागवत का उपदेश देने लगे । इसीलिये श्रीशुक मुनियों के गुरु कहे गये है– 'गुरुं-मुनीनाम्'– उपदेष्टा ही गुरु होता है ।

इस श्लोक में, भागवत का स्वरूपतः उत्कर्ष बताने के लिये, यथाक्रम चार विशेषणों द्वारा उसकी प्रमेय रूपता, प्रमाण रूपता, असाधारणता तथा उत्तम साधन रूपता का प्रतिपादन किया गया है । [इन चारों विशेषणों का निरूपण इस तरह किया गया है ।]

(१) स्वानुभावम्– भागवत, भगवद्-स्वरूप है– इसलिये, जिसतरह, भगवान् का, भक्तों पर उनकी अविद्या निवृत्ति के रूप में– असाधारण-प्रभाव होता है, उसी तरह भागवत का, मनन करने वालों को भी यही असाधारण-प्रभाव प्राप्त होता है– अर्थात् भागवत का भी, उसके चिन्तकों पर, अविद्यानिवृत्ति-रूप असाधारण प्रभाव होता है । 'स्वानुभावम्'– से यहां यही स्पष्ट

किया गया है– । और, भागवत की यही प्रमेय-रूपता है उसका यही स्वरूप-सामर्थ्य है ।

(२) अखिलश्रुतिसारम्– भागवत, सर्वश्रुतियों का साररूप है– कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड में जो कुछ भी कहा गया है वह सब भक्ति का अंग है– भक्ति प्राप्ति के साधन रूप है, तथा सभी श्रुतियों के तात्पर्य-विषय-रूप भगवान् का प्रतिपादन, इस भागवत मे है । देव दैत्य आदि मे प्रवृत्त हुयी श्रुतियों का, उस उस अभि प्राय को लेकर ही यदि अर्थ करेगें तो यह भागवत, सर्व-श्रुतियों का साररूप नहीं माना जायेगा– किन्तु, अवशेष श्रुतियों का ही सार कहा जायेगा इस संभावना को हटाने के लिये ही यहां 'अखिल' शब्द का प्रयोग किया गया है– अर्थात् यह भागवत संपूर्ण श्रुतियों का सार रूप है– अमुक श्रुतियों का ही सार इसमे है– ऐसा नहीं है । संपूर्ण-वेदों का जो विषय है, यह भागवत उसी का निचोड़ है– सर्व-वेदों का अर्थ-रस रूप है । इस विशेषण द्वारा भागवत की प्रमाण-रूपता का प्रतिपादन किया गया है ।

(३) एकम्– यह भागवत अद्वितीय- एक ही है यह भागवत-रस, असाधारण रस है इससे अधिक और कोई रस नहीं है । यदि यहां 'एक' पद का प्रयोग नहीं किया जाता, तो भागवत में भी रसान्तर की संभावना होती– तथा अन्य पुराणों के सदृशही यह भागवत भी माना जाता अन्य पुराणों मे तो रसान्तरों का उल्लेख है– यथा 'सूत ! त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं-वदस्व नः'– किन्तु, भागवत स्वयं सारका भी– वेदों के सार का भी– सार है । इसके द्वारा भागवत की असाधारणता का निरूपण किया गया है ।

(४) अध्यात्मदीपम्– भागवत, अध्यात्म-दीप है– बाहर के पदार्थों का बोध दीपक द्वारा अथवा पुरुषों द्वारा कराया जा सकता है– किन्तु, आत्मा के भीतर, वाणी से बोध कराने वाले विरत्ल ही होते हैं । भागवत के अतिरिक्त ऐसा और कोई भी उपाय नहीं है जो गुरु के उपदेश विना तथा तप रूप साधन के विचार के विना ही सभी को आत्मसाक्षात्कार करा सके । जिस तरह घर में दीपक रहने पर 'घट' आदि का ज्ञान सहज ही हो जाता है, वहां गुरु- एवं अन्य पुरुष-आदि की अपेक्षा नहीं होती– उसी तरह भागवत प्राप्त होने पर, आत्म-साक्षात्कार में किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती अहंता ममतारूप अविद्या के घोर अंधकार को तिरनें की इच्छा करने वाले के लिये यह भागवत, अध्यात्म-अंतरका-दीप है । आत्म ज्ञान होने पर, आत्मा से सम्बन्धित सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं– क्योंकि यह अध्यात्म-दीप (भागवत) आत्म सम्बन्धी सभी पदार्थों को बोध कराने वाला है । इस चतुर्थ विशेषण द्वारा भागवत की 'साधनोत्तमरूपता' का निरूपण किया गया है ।

भागवत का प्रवचन श्रीशुक ने मुनियों के लिये ही किया हो ऐसा नहीं है– उन्होंने इस

भागवत का उपदेश, दया पूर्वक परीक्षित की सभा में संसारी जीवों को भी दिया है। जैसे मल को दूर करने से, वस्त्र-पात्र आदि मल से निवृत्त होकर शुद्ध होते हैं– शुद्ध होने पर उनका कार्य में उपयोग होता है– किन्तु, जो वस्त्रादि प्रथम से ही शुद्ध हैं– उनकी तो प्रत्येक कर्मो मे योग्यता है ही। यहां संसारी जीव मलिन वस्त्र के समान हैं– इनकी, मल-निवृत्ति-पूर्वक शुद्धि होने के पीछे ही, कर्म में योग्यता प्राप्त होती है– किन्तु– शुद्ध-वस्त्र की तरह मुनियों को शुद्धि की आवश्यकता ही नहीं– भागवत के प्रवचन उपदेश की संसारी तथा मुनि मे यही विशेषता है।

यहां सूत पौराणिक, मायाशुक की शरण में जाने का निर्देश नहीं कररहे– किन्तु व्यास-पुत्र शुकदेव की शरण मे जाने का कह रहे हैं। यदि श्लोक मे केवल- शुक पद का प्रयोग किया जाता तो उससे 'मायाशुक' ग्रहण किया जा सकता था– वह यहां न लिया जाये इसीलिये यहां 'व्याससूनुम्'– इसपद का प्रयोग किया गया है। श्लोकोक्त 'उपयामि' पद में जो 'उप'– उपसर्ग है- उससे यह सूचित किया गया है कि शौनकादि ऋषियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिये- मैं- सूत पौराणिक अभी–भावना से व्यास पुत्र श्रीशुकदेव के समीप आकर उनके वाक्य को सुन कर भागवत कहूंगा ।।३।।

आभासः—असाधारणं मङ्गलमुक्त्वा सर्वैः कर्तव्यं साधारणं मङ्गलमाह—

आभासार्थः—इस तरह असाधारण मंगल करके, संप्रति, सर्व साधारण के करने योग्य, मंगलाचरण करते है—

श्लोक– नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।४।।

श्लोकार्थं : नारायण को, नर मे उत्तम ऐसे नरोत्तम को, सरस्वती देवी को तथा श्री व्यास को नमस्कार करके, भगवत्कथादिका- जयका- प्रारंभ करना चाहिये ।।४।।

नारायणमिति ।

इस श्लोक को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य आज्ञा करते हैं कि—

कारिका– जयो नाम पुराणादिः कृष्णद्वैपायनेरितः ।
अष्टादशपुराणानि भारतं तत्प्रकीर्तितम् ।।

नारायणो व्यास इति वाच्यवक्तृस्वरूपकः ।
एक एव परो ह्यात्मा आदावन्ते निवेशितः ॥
उपसाधको नरश्चोक्तश्चकाराद्गुरुताऽपि च ।
अवश्यमेवकारेण सूत्रात्मा च नरोत्तमः ॥
देवी भाग्यात्मिका नृणां वाक्यरूपा सरस्वती ।
सर्वे ते भगवद्रूपास्तस्मान्नम्या हि ते सदा ॥

कारिकार्थ— यहां व्यासजी द्वारा कहे गये अष्टादश 'पुराण' तथा महाभारत का नाम 'जय' है। यहां वाच्य नारायण ही वक्ता व्यास है– जो सबसे पर है– उसी एक आत्मा को परमात्म रूप नारायण व्यासको इस श्लोक के आदि में और अन्त में स्थापित किया गया है अर्थात् इस मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में नारायण का तथा अन्त में व्यास का निर्देश (स्थापन विस्तार)– है। नर इनका उपसाधक है– साधन करने वाला है– श्लोकस्थ 'चकार' से इसके गौरव-महिमा का निर्देश किया गया है। "सूत्र रूप 'नर' यही 'उत्तम' है—'नरोत्तम है' यहां 'चैव' में 'एव' कारका 'अवश्य'–'यही'–अर्थ किया गया है"। यहां सरस्वती से वाणी रूपा-वाक्यरूपा– सरस्वती का तथा 'देवी' पद से मनुष्यों की भाग्यात्मिका देवी का ग्रहण किया गया है। ये सभी भगवद्-रूप हैं– अतः प्रत्येक सर्वदा नमन करने योग्य है।

सुबोधिनी व्यासेन क्रियमाणे तु नमस्कारे न व्यासपदप्रयोगः। सरस्वतीसमीपे चकारस्तद्वक्तारं बोध- यति। तस्मात्पाठद्वयमपि लोके व्यवस्थया बोद्धव्यम् ॥४॥

सुबोधिनी अनुवाद–

'नारायणं नमस्कृत्य'– इस श्लोक से यदि स्वयं सूतजी प्रणाम करते हैं तब तो 'देवीं' सरस्वतीं 'व्यासं'– यह पाठ उचित है– और यदि व्यासजी प्रणाम करते हैं तब 'देवीं' सरस्वतीं 'चैव' अथवा 'वापि'– ऐसा पाठ उचित होगा ऐसी स्थिति मे यहां सरस्वती के निकट 'च' कार से इस श्लोक के वक्ता का ग्रहण किया जायेगा। दोनो प्रकार के ही पाठ मिलते हैं अतः लोक व्यवस्था के अनुसार यहां 'व्यासं' तथा 'चैव'– ये दोनों ही पाठ समुचित समझना चाहिये। अर्थात् यदि व्यासजी द्वारा नमस्कार किया जाता हो तो वहां 'व्यास' पद का प्रयोग नहीं हो सकता और यदि सूतजी वक्ता हों तो फिर इस पाठ से कोई आपत्ति नहीं।

आभास—अभिनन्दनं वदन्प्रश्नानां निर्द्धारितार्थमाह—

आभासार्थ– शौनकादिक से पूछ गये प्रश्नों का अभिनंदन करके, अब, सूतजी उन प्रश्नों के निर्धारित अर्थ को कहते हैं—

सूत उवाच—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।। ५ ।।

श्लोक अर्थः– सूतजी ने कहा हे मुनिओं ! आपने, मुझसे, लोक के लिये मंगलरूप बहुत अच्छा प्रश्न किया है– क्योंकि आपने तो आनंद रूप कृष्ण–विषयक वह प्रश्न किया है– जिससे आत्मा अत्यन्त प्रसन्न होती है ।५।

मुनय इति । फलं कृष्ण एव । सर्वप्राणिनामैहिकाऽऽमुष्मिकफलदाता च स एव । भक्तिमुक्ती च लीलाः । अवताराश्च । धर्मरक्षकश्च स एव । अतः षण्णां प्रश्नानां स एवाऽर्थः । द्वितीयप्रश्ने द्वितीयं फलमेभ्य एव भवति । हे मुनयः ! निर्द्धारितार्थाः । यद्यपि यदेव पृच्छ्यते तत्रैवोत्तरं देयं, तथापि पृष्टमेव साधु । इदमेव हि लोकानां मङ्गलं, यत्कृष्णः पृच्छ्यते । येन च आत्मा कृष्णः प्रसीदति । अन्तःकरणस्याऽपि भगवतस्तद्धर्माणां वा आवेशे प्रसादः । इदं हि सामान्योत्तरम् । शास्त्रान्तरे श्रवणानन्तरं मननिदिध्यासनाभ्यां कार्यसिद्धिः अत्र तु सा प्रश्नैरेवेति प्रश्न एव शास्त्रसमाप्तिः ।।५।।

सुबोधिनी अर्थ : कृष्णा ही फल है । सर्व प्राणियों को, इस लोक तथा परलोक का फल देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं । भक्ति, मुक्ति लीलायें उसीकी है– अवतार रूप तथा धर्म-रक्षक भी वही है अतः पूर्वोक्त छहों प्रश्नों का अर्थ श्रीकृष्ण ही है । दूसरे प्रश्न में, जो अंतःकरण प्रसाद रूप द्वितीय फल है वह मुनियों को ही प्राप्त होता है हे मुनियों ! आप लोगों ने मुनि होने के कारण मनन द्वारा संपूर्ण अर्थों का निधार कर लिया है । यद्यपि जिस विषय में पूछा जाताहै उसी विषय का उत्तर देना चाहिये, तथापि जो कुछ भी पूछा गया है वह सब श्रेष्ठ है– आप द्वारा कृष्ण-विषक प्रश्न पूछा गया है- यह ही लोकों के लिये मंगल रूप है, और इससे आत्मरूप कृष्ण प्रसन्न होते है। भगवान् तथा उनके धर्मों का आवेश होने पर, अंतःकरण मे भी प्रसन्नता होती है । यह आपके प्रश्नों का सामान्य उत्तर है । अन्य शास्त्रों के अनुसार तो श्रवण के अनन्तर मनन, निदिध्यासन करने पर कार्य-सिद्धि होती है, किंतु यहां भागवत में यह कार्य-सिद्धि तो प्रश्न मात्र से ही हो जाती है– अतः कृष्ण संबंधी प्रश्न में ही सब शास्त्रों की समाप्ति है अर्थात् अन्य शास्त्रों में कहे

गये जो साधन हैं– उनके अनुष्ठान से जो कार्य सिद्धि होती है– वह सब यहां भागवत में कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न के पूछने मात्र से सम्पन्न हो जाती हैं।५।

आभास : इदानीं फलसाधने एकीकृत्य स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थं निरूपयति सप्तदशभिः। भगवत्साक्षात्कारः फलम्। साधनपारम्पर्ये प्रथमतो धर्मः। अन्तिमो भगवत्प्रसादः। स च खण्डशः सर्वत्र साधनेषु वक्तव्यः। तथा सती परम्परान्ते महाप्रसादे सति, भगवानात्मानमाविःकरोति।तत्र भक्तिस्त्रिविधा। ज्ञानञ्च त्रिविधम्। रुचिः श्रवणादिः प्रेम चेति भक्तिस्त्रिविधा। आत्मज्ञानं तत्त्वज्ञानंभगवज्ज्ञानं चेति त्रिविधम्। धर्मो वैराग्यं च साधनम्। तत्परम्परायां यथायोग्यं निवेशनं निरूप्यते तत्र प्रथममेकां शृङ्खलामाह—

आभासार्थ : प्रथम श्लोक में जो कुछ सामान्य रूप से कहा गया है, उसी को विशेष रूप से अग्रिम सत्रह श्लोकों से कहते हैं। आत्म-प्रसन्नता रूप फल तथा धर्मरूप साधन इन दोनों को एक करके-अपने अधिकारानुसार सत्रह श्लोकों से शास्त्र के अर्थ का निरूपण करते हैं। यहां भगवान् का साक्षात्कार करना फल है। साधनों की परम्परा में प्रथम साधन "धर्म है-तथा अंतिम भगवान् का अनुग्रह है। यह अनुग्रह सभी साधनों में खंडशः कहा गया है प्रत्येक साधन में अल्प अल्प अंश मे कहागया है, अर्थात् प्रत्येक साधन में भगवद्-अनुग्रह की अमुक मात्रा अनिवार्य है। भगवद्- अनुग्रह से ही जीव की साधन में प्रवृत्ति होती है। इस तरह साधनों की परम्परा के अन्त में भगवान् का महान् अनुग्रह होने पर, भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं। इस साधन परम्परा में भक्ति तीन प्रकार की है तथा ज्ञान भी तीन प्रकार का है। रुचि, श्रवण कीर्तनादि तथा प्रेम-इस तरह भक्ति त्रिविध है– आत्म-ज्ञान, तत्वज्ञान तथा भगवद्-ज्ञान। इस तरह ज्ञान भी त्रिविध है– धर्म तथा वैराग्य साधन है। उस साधन परम्परा में धर्म और वैराग्य के, यथायोग्य प्रमाण मे, निवेशन का निरूपण किया गया है। यहां प्रथम, इसी साधन–परम्परा की एक शृंखला का दो श्लोकों से वर्णन करते हैं।

श्लोक– स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।।६।।

श्लोकार्थ––मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे अधोक्षज में (इन्द्रियजन्य ज्ञान से जो अतीत है उसमे) ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति उत्पन्न हो जिससे आत्मरूप भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होजायें।६।

सुबोधिनी—स वै पुंसामिति । धर्मः साधनम् । भक्तिः फलम् । तत्र विहितश्रवणादीनां धर्मरूपाणां दृष्टप्रकारेणैव भक्तिसाधकत्वम । स्नानादीनामदृष्टद्वारा । तत्र साधनान्तराऽनुप्रवेशे व्यभिचारोऽपि सम्भवति । अतः प्रथ.ं स्नानादिधर्मनिर्द्धारः क्रियते । प्रमाणस्य तुल्यत्वेऽपि फलबलाद्विशेषः । अतो वै निश्चयेन पुंसां परो धर्मः सः यतो भक्तिः श्रद्धालक्षणा भवति । स्वर्गादिसाधके तु धर्मत्वं सन्दिग्धं परत्वं वा । स चाऽग्रे विचारयिष्यते । धर्मे स्वातन्त्र्यञ्च सहायः कर्तृविशेषणत्वेनोक्तः—**पुंसांमिति** । परत्वं च विधीयते । व्यावर्तकमिति केचित् । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति । इन्द्रियाविषये । इन्द्रियविषये हि कामादिभिरेव रुचिरुत्पद्यते । किं धर्मेण । धर्मो हि पुरुषार्थो बलिष्ठः । स च प्रतिबन्धकानि दूरीकृत्याऽपेक्षितानि साधनानि च सङ्गृह्य पर्यवसायि फलं जनयति । तत्र रुचिश्चेद्भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम् । उपहता वा दुःसङ्गादिभिस्तदापि न धर्मत्वम् । तदाह—**अहैतुक्यप्रतिहतेति** । हेतुः फलाभिसन्धानम् । प्रतिघातो रोगादिभिः । तस्याऽपि फलमाह । आत्मा अन्तःकरणसाक्षी भगवान् प्रसीदति । स्वपर्यवसानात्सुष्ठु ।।६।।

सुबोधिनी अनुवाद : धर्म साधन है, भक्ति उसका फल है । शास्त्र विहित जो श्रवणादि धर्म है–वे साक्षात् भक्ति को उत्पन्न करते हैं, भक्ति के साधक हैं । स्नान आदि धर्म से प्रथम अदृष्ट उत्पन्न होता है और अदृष्ट से भक्तिरूप फल मिलता है । किन्तु, श्रवणादि धर्म से साक्षात् फल-सिद्धि तत्काल प्राप्त होती है और यहां बीच में अदृष्ट जैसी किसी वस्तु के उपस्थित होने की कोई सम्भावना भी नहीं रहती । यदि स्नानादि धर्म में कोई अन्य साधन का प्रवेश हो जाये तो फल में अनियमितता भी (अनिश्चितता) सम्भव है । इसलिये प्रथम स्नानादि धर्मों का निर्णय किया जाता है । श्रवणादि तथा स्नानादि धर्मों में प्रमाण की समानता होने पर भी श्रवण कीर्त्तनादि धर्मों में, फल की सुलभता के कारण अपेक्षाकृत विशेषता है । इसीलिये मनुष्यों का निश्चित रूप से उत्कृष्ट धर्म वही है जिससे भगवान् में श्रद्धारूप भक्ति उत्पन्न हो जाये । स्वर्गादि के साधक जो धर्म बताये गये हैं, उन यज्ञादि धर्मों की धर्मरूपता अथवा उत्तमरूपता संदिग्ध है । इसका विवेचन अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा । धर्म मे स्वतन्त्रता को सहायक माना गया है, इसीलिये धर्म की विशेषता यहां 'पंुसां' पद से स्पष्ट की गयी है । स्वतन्त्र पुरुष ही सहायक होते हैं क्योंकि धर्म का सुचारु संपादन स्वतन्त्र पुरुष ही कर सकता है । यहां 'पर-परत्व' का विधान श्रवणादि धर्म के लिये किया गया है, अर्थात् श्रवणादि धर्म ही सब धर्मों में मुख्य श्रेष्ठ हैं । किसी के मत में यहां 'परः' धर्म का विशेषण है । श्री आचार्यचरण ने 'परः' को विधेय माना है । 'परः' को विधेय मानने पर उसका अर्थ यह होगा– जिससे भगवान् में भक्ति हो वही धर्म 'परः' है ।

भगवान् को यहां अधोक्षज कहा है– क्योंकि भगवान् लौकिक-इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान, प्रभु से नीचे है– अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् इति। इसलिये इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकता। लौकिक इन्द्रियों से जिन विषयों का ज्ञान होता है उनमें तो काम आदि से ही रुचि उत्पन्न होती है। वहां धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। धर्म तो बलिष्ठ पुरुषार्थ है। वह सभी अड़चनों को प्रतिबन्धों को दूर करके अपेक्षित यथा आवश्यक साधनों को जुटा कर अन्तिम फल की प्राप्ति करा देता है। वहां यदि भगवान् में यह रुचि साधन रूप से अर्थात् फल की आकांक्षा से उत्पन्न हुई हो तो वह धर्मरूप नहीं है। अथवा, यदि यह रुचि रूप भक्ति दुःसंगादि से नष्ट हो जाती है तो भी वह धर्मरूप नहीं है। हेतु अर्थात् फलाकांक्षा से रहित अहैतुकी तथा रोगादि से नष्ट न होने वाली अप्रतिहत– ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति जिससे उत्पन्न होती है वही धर्म 'उत्तम' कहलाता है। ऐसी भक्ति का फल हैं-अंतःकरण के साक्षी भगवान् का प्रसन्न होना। भगवान् की अत्यन्त प्रसन्नता मे ही जीव के अन्तःकरण की प्रसन्नता है यहां इसी का निर्देश 'सुप्रसीदति के 'सु' उपसर्ग द्वारा किया गया है।

आभास : भक्तेर्विषयं प्रयोजनं चाऽऽह—

आभासार्थ : भगवान् के प्रसन्न होने पर जीव का भगवान् मे पर्यवसान होता है। अब भक्ति के विषय का और उसके प्रयोजन का विवेचन करते हैं:—

श्लोक : वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ।।७।।

श्लोकार्थ : वासुदेव भगवान् में निरन्तर किया गया भक्तियोग, शीघ्र ही वैराग्य एवं आत्मज्ञान उत्पन्न करता है और वह ज्ञान। अनुमानगम्य न होकर साक्षात्कार रूप होता है।

सुबोधिनी : वासुदेव इति। शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूतो वासुदेवः। "सत्वं-विशुद्धमि"ति वाक्यात्। स च ध्यानादिभेदेन देवतान्तरविषयेणाऽन्योऽपि भवति। तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**भगवतीति**। रुचिमात्रत्वनिराकरणाय परम्परासिद्धये—**योग इति**। भक्तिरेव योगः। प्रकर्षो हि दीर्घकालादरनैरन्तर्यम्। तस्य परमफलं भगवत्प्रसादः सर्वत्राऽनुवर्तते। अन्यदप्याह—**जनयतीति**। आशु शीघ्रं विषयेषु वैराग्यमात्मनि च ज्ञानं। तच्चाऽहैतुकं नाऽनुमानगम्यं, किन्तु साक्षात्काररूपम् ।।७।।

सुबोधिनी अनुवाद- शुद्ध-सत्व रूप अंतःकरण में जिसका आविर्भाव होता है वह वासुदेव है- 'सत्वं विशुद्ध' श्लोक में इसी बात का निर्देश किया गया है । देवतान्तर विषयक ध्यानादि के भेद से यह वासुदेव मूर्तिरूप अथवा अवताररूप अन्य देवता भी हो सकता है किन्तु उनका यहां ग्रहण न किया जायें, इसीलिये उनको 'भगवति' ऐसा कहा गया है । जिसका तात्पर्य यह है- कि यहां षडैश्वर्य से युक्त भगवान् ही 'भजन' के विषय हैं- अन्य अवताररूप अथवा मूर्तिरूप नहीं । षडैश्वर्य से युक्त भगवान् में ही भक्ति होनी चाहिये । श्लोक में भक्तियोग के 'योग' पद से यह कहा गया है कि 'केवल रुचि उत्पन्न हो जाना ही भक्ति नहीं है- किन्तु रुचि श्रवण तथा प्रेम इन तीनों के योग से 'भक्तियोग' बनता है । 'प्रयोजित' में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है- चिरकाल से निरन्त किया गया (योजित) । रुचि, श्रवणादि तथा प्रेम का उत्तम फल भगवत् प्रसाद कहा गया है । अर्थात् जहां जहां भक्तियोग वहां वहां भगवत्प्रसाद ।

इस प्रकार का भक्तियोग, विषयों के प्रति वैराग्य को तथा आत्म-ज्ञान को शीघ्र ही उत्पन्न करता है । यह आत्म-ज्ञान साक्षात्कार रूप होता है । अनुमानगम्य नहीं और इसी का निर्देश श्लोक के 'अहैतुक' पद से किया गया है । साक्षात्कार में 'हेतु' की अपेक्षा नहीं होती । ऐसे भक्तियोग से आनुमानिक ज्ञान से नहीं, स्वयं भगवान् से साक्षात्कार होता है ।।७।।

आभास : एवं धर्मादिज्ञानान्ता एका परम्परा निरूपिता । तस्या अपि निर्द्धारिकामन्यां परम्परां वक्तुं धर्मस्य तदजनने बाधकमाह—

आभासार्थ- इस तरह धर्म से प्रारम्भ करके ज्ञान पर्यन्त की एक परम्परा का निरूपण करके- सम्प्रति, इसी परम्परा का भी निर्णय करने वाली द्वितीय परम्परा का विवेचन करने के लिये यहां यह कहते हैं कि जो धर्म, भक्तियोग को उत्पन्न नहीं करता, वह धर्म बाधक है, अन्तराय रूप है ।

श्लोक : धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।८।।

श्लोकार्थ- जो धर्म भगवत्कथा में मनुष्यों की रति-प्रेम उत्पन्न नहीं करता, वह भलीभांति अनुष्ठित किया गया भी केवल श्रमरूप ही है ।८।

सुबोधिनी— धर्मः स्वनुष्ठित इति । धर्मः साधनम् । कथारुचिः साध्या । तत्र स्वरूपोप-

कारी धर्मोऽग्रे वक्तव्यः । अदृष्टद्वारोपकारिणां व्यभिचारसम्भावनाया विद्यमानत्वान्निन्दति । सम्यगनुष्ठितोऽपि स्नानादिधर्मः । विष्वक्परितः सेना आज्ञा वा यस्य । अनेन रत्यभावे सर्वमन्यथा भवेदित्यत्र हेतुरुक्तः । प्रासङ्गिकत्वाभावाय सप्तमी । बहुवचनं सामान्यत्वाय । वीर्यत्वाद्यभावाय-**कथेति** । य इति धर्मस्य पूर्वोक्तबलं सूचितम् । रतिं प्रीतिम् । तदा तस्य धर्मस्य स्वरूपमाह—**श्रम एव हि केवलमिति** । यथा मल्लानां गात्रचालनाद्यभ्यासस्तथा स्नानाद्यभ्यासोऽपि । अन्यव्यावृत्त्यर्थमेवकारः । तेन नाऽदृष्टमुत्पद्यत इत्यर्थः । हि युक्तोऽयमर्थः । फलव्यभिचारात् । ननु श्रमे बलवृद्धिर्मल्लादिषु दृष्टा तथाऽत्राऽपि लौकिकं किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह—**केवलमिति** । फलान्तरस्याऽदर्शनात् । प्रतिष्ठाऽपि न सद्भिर्निरूप्यते । स्वर्गादीनां तु फलत्वमग्रे निराकरिष्यते । एवं साधारणधर्मस्य वैयर्थ्यमुक्तम् । पुत्रादिकामनया क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति । फलस्याऽविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात् । किन्तु भित्त्यादिकृतिवन्नैमित्तिकमेव । तत्र यजत्यादेरनुवादः चित्तशुद्धयभावेनाऽधिकाराभावादन्यथा करणाद्देवताधिष्ठानाभावात्क्रियाया लौकिकत्वम् । फलं साधनं च सामान्यतः पूर्वमेव प्रतीतम् । तथाचौषधादिवत्तृतीयया करणत्वमात्रं बोध्यते । यजतिस्तु व्यर्थः । तस्मान्न धर्मत्वम् ।।८।।

सुबोधिनी अनुवाद : धर्म यहां साधन है और कथा मे रुचि साध्य है । स्वरूप में उपकार करने वाले धर्म का निरूपण आगे करेगें । अदृष्ट द्वारा उपकार करने वाले स्नान, यज्ञ आदि धर्मों का अच्छी तरह अनुष्ठान किया भी जाये तो भी उनके द्वारा कथा में रुचि उत्पन्न हो ही जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है । ऐसे धर्म की निन्दा ही की गयी है । अच्छी तरह आचरित स्नानादि धर्म भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न नहीं करते, अतः वे निन्द्य ही हैं ।

श्लोकोक्त- 'विष्वक् सेना' का अर्थ है- चारों ओर सेना अथवा आज्ञा है जिसकी ऐसे भगवान् । भगवान् की सेना अथवा आज्ञा सर्वत्र है । भगवान् की कथा में प्रेम उत्पन्न नहीं करने वाले धर्म, अन्यथा माने जाते हैं । कथासु में सप्तमी विभक्ति द्वारा यह सूचित किया गया है कि भगवत्कथा में प्रासंगिक प्रेम न होकर स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये । 'कथासु' में बहुवचन से यह तात्पर्य है कि भगवान् की कोई भी कथा हो, उसमें प्रेम होना चाहिये । भगवत्कथा में वीर्य आदि के अभाव का निर्देश 'कथा' पद से किया गया है । धर्म के रति-उत्पादक फल का संकेत- यः पद से किया गया है । रति का अर्थ है प्रीति । जिस धर्म से भगवत्कथा में प्रीति न हो वह धर्म नहीं किन्तु श्रम मात्र है । मल्लों को दण्ड बैठक आदि कसरत करने के अभ्यास की तरह स्नानादिक धर्म भी एक प्रकार का केवल अभ्यास है- इससे किसी अन्य प्रकार के फल की भी संभावना नहीं और यही निर्देश करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया है । इससे अदृष्ट फल भी

उत्पन्न नहीं होता और यहां यही अर्थ 'हि' युक्त है। क्योंकि इस प्रकार के धर्म में भगवत्कथा में प्रेमोंत्पत्ति रूप फल का अभाव है। यहां यह शंका होती है कि व्यायाम आदि श्रम करने से जैसे मल्लादि में बल की वृद्धि देखी जाती है, वैसे ही यहां भी भगवत्कथा में प्रीति उत्पन्न न करने वाले धर्म में भी कोई लौकिक फल तो अवश्य होगा ही– इस शंका के समाधान मे कहते हैं कि यहां तो 'केवल' श्रम ही होता है क्योंकि ऐसे धर्म का कोई अन्य फल नहीं देखा गया। तदुपरान्त, ऐसे धर्म करने वाले की प्रतिष्ठा होती है तो यह भी बात नहीं है। सत्पुरुष ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा का निरूपण भी नहीं करते। स्वर्गादि में तो फलरूपता है ही नहीं– इसका निरूपण अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा। इस तरह आवश्यक नित्य धर्म यदि भगवत्कथा में प्रीतिजनक न हो तो वह सब व्यर्थ है। पुत्रादिक की कामना से किया जाने वाला धर्म धर्म ही नहीं है। क्योंकि पुत्रादि रूप कोई फल नहीं है। पुत्रादि रूप यह फल अविद्या का कार्य है– अतः दुःखरूप है। किसी कामनासे किया गया धर्म रहने के लिये मकान की भींत आदि निर्माण करने की तरह नैमित्तिक ही है।

ऐसी स्थिति में, यजति-यज्ञ करता है, यजेत्–यज्ञ करना चाहिये। इनमें 'यजेत्' आदि विधि न होकर केवल 'अनुवाद' रूप है– (यज्ञ करने की जो विधि है उस तरह न करके केवल जो कुछ लिखा है– उसको पढ़ कर क्रिया करने जैसा है) चित्तशुद्धि के विना यज्ञादि धर्म में अधिकार न होने के कारण विपरीत कर्म करने से उस कर्म में देवता का आगमन नहीं होता। वह अनुपस्थित ही रहता है। ऐसी स्थिति में वह क्रिया और उसका फल एवं उसके साधन सब लौकिक ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य-शुद्धि की तरह आन्तर-शुद्धि भी आवश्यक है और ऐसे नैमित्तिक स्नानादिक कर्मों से अंतःशुद्धि न होने के कारण वेदोक्त कर्म का अधिकार नहीं रहता। तदुपरान्त-- वेदोक्त क्रिया में वाक्य के तात्पर्य ज्ञान की भी आवश्यकता है। इन सब के अभाव में विहित कर्म अन्यथा होंगे और देवता का अधिष्ठान भी नहीं होगा। सब क्रिया लौकिक हो जायेगी– अतः वहां विधि का सम्बन्ध जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होगा। अग्निष्टोमेन यजेत में जो तृतीया है, वह औषध की तरह कारणत्व मात्र की बोधिका है अर्थात् लौकिक फलानुसन्धान पूर्वक जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें 'यजेत्' यज्ञ करने का विधि तो निरर्थक ही है। अतः जो कर्म लौकिक फल देता है तथा भगवत्कथाओं में रति उत्पन्न नहीं करता हो वह 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। ८।

आभासः—ननु कामितं फलं पुरुषार्थः। तत्साधकस्य कथं न धर्मत्वम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थः—यहां, यह शंका होती है कि पुत्रादिक इच्छित फल भी पुरुषार्थ रूप है तो

इस फल की सिद्धि कराने वाले यज्ञादि धर्म, धर्म क्यों नहो कहे जा सकते ? इसके समाधान में कथन है कि—

श्लोक— धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।९।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ—मोक्ष पर्यन्त फल की प्राप्ति कराने वाले धर्म का फल 'अर्थ' नहीं है, किन्तु मोक्ष है । धर्माचरण रूप फल की सिद्धि देने वाले 'अर्थ' से कामोपभोग लाभ नहीं होता– अर्थ का फल धर्म है, काम नहीं । काम का लाभ इन्द्रियों की प्रीति नहीं हैं– किन्तु जितने 'काम' द्वारा जीवन निर्वाह हो सके उतने काम की प्राप्ति करना ही काम का लाभ फल है । इसी तरह जीवन का लाभ भी कर्मों द्वारा अन्य पुरुषार्थो को सिद्ध करने के लिये नहीं है किन्तु तत्वजिज्ञासा है (तत्व जानने की इच्छा को बनाये रखने का है) ।।९–१०।।

सुबोधिनी—धर्मस्येति । "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वि" ति कोशादर्थशब्दस्य पञ्चाऽर्थाः । तत्र शब्दप्रकरणान्नाऽभिधेयत्वम् । उपपदस्याऽभावान्न निवृत्तित्वम् । ततो रैवस्तुप्रयोजनान्यवशिष्यन्ते । तत्र धनपशुपुत्रादयो रैरूपाः । ते धर्मकार्या न भवन्ति । धर्मो हि चोदनालक्षणः । तत्र लौकिकत्वेन विधिस्पर्शाभावान्न धर्मत्वम् । अन्यथा भेषजपानादेरपि धर्मत्वं स्यात् । तथा प्रतिग्रहस्य । अपूर्वांशस्तु नास्त्येव । किञ्च । एते हि वस्तुतोऽनर्थाः । आत्मनाशकत्वात् । तथाच यथा श्येनादयो न धर्मास्तथा धनार्थादिसाधका न धर्माः । ये पुनर्धर्मास्ते न धनादिसाधका इत्यर्थः । तथा न परमार्थरूपाः । न वा प्रयोजनरूपाः । किञ्च । धर्मविशेषः स भवतु नाम । निवृत्तार्थपुरुषार्थस्य मुमुक्षोर्धर्मकर्तुर्धर्मः कथमर्थाय स्यादित्याह—**आपवर्ग्यस्येति** । अपवर्गसम्बन्धिनः अपवर्गपर्यन्तं वा क्रियामाणस्य । ननु धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पदार्थाः पूर्वपूर्वसाधनरूपाः । तथाच धर्मः कथं नाऽर्थाय ? तत्राऽऽह—**नाऽर्थस्येति** । अदृष्टात् दृष्टं हि बलवत् । अर्थेन हि धर्मो दृश्यते नहि धर्मेणाऽर्थः । धर्म एव एकः अन्तः पर्यवसितं कार्यं यस्येति । तथाच येन केनाऽप्युपायेन अर्थं सम्पाद्य धर्मः कर्तव्यः । न तु धर्मेणाऽर्थसम्पादनम् । ननु तर्ह्यर्थः सर्वसाधकोऽस्तु । कामस्याऽपि तत्कार्यत्वेन दर्शनात् । तत्राऽऽह—**कामो लाभायेति** । कामो विषयसुखम् । इन्द्रियविषयाधीनं हि तत् । तत्र विषयांशेनाऽत्यर्थोपयोगः । रूपादीनामेव विषयत्वात् । न च रूपादिसम्पादकः । सिद्धानि रूपाण्यन्यस्य भवन्तीति चेद्विपरीतमायातम् । अर्थे प्राप्ते रूपादि गच्छति गते चाऽर्थे रूपादिप्राप्तिरिति ।

परावृत्तावपि साध्यसाधनता चेत्तत्राऽपि वैपरीत्यमुक्तम् । तथाच वस्तुव्यत्यासवदर्थेनाऽर्थ इव न कामः । न च विषया एवाऽर्थरूपाः कामसाधका इति वाच्यम् । लोकप्रसिद्धयभावात् । अर्थसाधकस्याऽपि धर्मत्वापत्तेश्च । लोके साहचर्यमात्रेण साधनत्वप्रतीतिः । कदर्यस्याऽर्थवतोऽपि कामाभावाच्च । पश्वादीनामर्थाभाववतामपि कामदर्शनाच्च । तथा मस्करिणः । तथा चाऽऽत्मविदः । **"आत्मकामाऽऽप्तकाम"**—इति श्रुतेः । तथाच क्वचित्साहचर्यदर्शनेन साध्यसाधनभाव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन अर्थेन कामः साध्यताम् । स कियान् कामः कीदृशश्च ? जीवनमात्रपर्यवसितश्चेत् ? स च आ ब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं स्वतः सिद्धो नाऽर्थसाध्यः । अर्थेन्द्रियप्रीतिरूपः ? अनलत्वात्तस्य न पूर्त्तिरस्ति । **"न जातु कामः कामानामि"** ति वचनात् । अनुभवाच्च । प्रवृत्तिस्तु भ्रान्त्या । तथाच कामो विषयभोग इन्द्रियप्रीतिहेतुर्न भवति । लाभपदं देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । तस्मात्क्रमः साधनपरम्परारूपः । कामेन जीवनमर्थरूपं जीवने धर्मः ज्ञानञ्च । तेन च मोक्ष इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासेति** । जीवस्य जीवनस्य । तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वविचार इच्छापूरकज्ञानसाधकः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा लाभ इति पूर्वेण सम्बन्धः । कर्मभिः साध्यो यः कामो वा अर्थो वा । धर्मस्तु न केवलं कर्मसाध्यः । किन्तु श्रुतिबोधितकर्मसाध्यः । तत्राऽपि इह कर्मभिः साध्यो न पुरुषार्थः संसारविषयकः । यो वा दैवगत्या प्राप्तः सोऽपि न भवतीति चकारार्थः ।। ९ ।। १० ।।

सुबोधिनी अनुवाद— कोश में 'अर्थ' शब्द के पांच अर्थ हैं– वाच्य (अभिधेय)-धन, पुत्र पशु, पुत्र आदि (रैः), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति । यहां श्लोक में शब्द का प्रकरण होने से, अभिधेय अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ नहीं लिया जा सकता । 'मशकार्थोधूमः' की भांति अर्थ शब्द के पूर्व उप पद नहीं होने से 'निवृत्ति' अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । अब, धन, पुत्र, पशु आदि (रैः) तथा प्रयोजन ये दो अर्थ शेष रहते हैं– इनमें (रैः)-धन, पुत्र, पशु आदि धर्म के फल नहीं हो सकते क्योंकि जो विधि-विहित हो उसको ही धर्म कहते हैं । धन, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति के लिये किया गया धर्म लौकिक है वह विधि से सम्बन्धित नहीं है, अतः धनादि, धर्म का कार्य नहीं है । यदि लौकिक में भी विधि का स्पर्श माना जाये तो 'औषध का सेवन करना चाहिये भेषजं पिबेत्–दान लेना चाहिये–प्रतिग्रहं गृह्णीयात् आदि क्रियायें भी धर्म कहलायेंगी । यदि यह कहो कि इस प्रकार कि क्रियाओं में अपूर्व उत्पन्न होता है तो फिर उनमें धर्मत्व क्यों न माना जाये । इसका उत्तर यह है कि भेषजपान से आरोग्य, प्रतिग्रह आदि से धनादि रूप प्रत्यक्ष-दृष्ट फल मिलता है, अतः यहां अदृष्ट अपूर्व की कल्पना करना ही व्यर्थ है । यदि यह कहा जाये कि यज्ञादि से कुछ काल के अनन्तर धन, पशु, पुत्रादि रूप फल मिलते हैं अतः वहां मध्य में–

(जब तक धनादि रूप फल नहीं मिलता तब तक) 'अपूर्व' अदृष्ट ही चाहिये तो फिर, धन पुत्रादि देने वाली क्रियाओं को धर्म परक न मानने में क्या आपत्ति है?

यहां इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि ये धन पुत्रादि अर्थ नहीं, वस्तुतः अनर्थ है क्योंकि इनमें आसक्त पुरुष अपना स्वयं का विनाश कर देता है । धर्म, अर्थ का कारण कहा गया है अनर्थ का नहीं–अतः धन पुत्रादि प्राप्त कराने वाली क्रियाओं में धर्मरूपता नहीं है और जिस प्रकार अन्य के मारणार्थ किये गये श्येनादि यज्ञ धर्मरूप नहीं हैं, उसी प्रकार धनादि अर्थ के साधक कर्म, धर्म नहीं हैं और इसी तरह जो धर्म है वह धनादि के साधक नहीं हैं।

अब यदि 'अर्थ' शब्द का 'वस्तु' अर्थ लें तो वह भी उचित नहीं । धर्म, परमार्थ रूप, परम वस्तु रूप है, केवल वस्तु रूप नहीं। इसीलिये धन, पुत्र, पशु आदि वस्तुयें कभी परमार्थ रूप नहीं हैं। अर्थ शब्द का 'प्रयोजन' अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता 'धर्म' का प्रयोजन भगवान् से सम्बन्ध कराने का है जिससे भगवान् का सम्बन्ध हो– वही प्रयोजन कहलाता है। प्रकर्षेण-नयुज्यते अनेन– यहां तो धनादि लौकिक प्रयोजन है, धर्म का प्रयोजन लौकिक उपलब्धि नहीं है।

यहां शंका होती है कि यदि यह सब कुछ ऐसा ही मान लिया जाये तो 'काम्येष्टि' पशुकांड भी धर्म–परक नहीं माना जायगा। सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' इस कथन से विरोध आयेगा । इसका समाधान यह है कि कहीं कहीं कर्म को धर्मरूप कहा है-किन्तु यह गौण धर्म रूप ही है। लौकिक फल की आसक्ति से किये गये काम्य–कर्म, श्येनादि यज्ञ की तरह अनर्थ रूप होने से धर्म रूप नहीं हो सकते– यही यागादि यदि बहिर्मुख को वैदिक क्रियाओं के सम्मुख करने के लिये किये जाते हों तो गौण धर्म रूप कहलाते हैं। धनादि के लिये आचरित क्रियाएं लोक–संग्रह रूप होने के कारण गौण धर्म रूप भी नहीं है। अतः धनादि लौकिक फल, धर्म की उपलब्धि नहीं। धर्म, अर्थ का साधक नहीं है। यदि धर्म द्रव्यादि के लिये होता तो द्रव्यादि रूप पुरुषार्थ से निवृत्त तथा धर्म परायण मुमुक्षु पुरुष का धर्म भी अर्थ के लिये ही होना चाहिये– लेकिन ऐसा नहीं है। क्योंकि धनादि में उनकी आसक्ति ही नहीं। मोक्ष सम्बन्धी अथवा मोक्ष पर्यन्त किये जाने वाले धर्म का फल अर्थ क्योंकर हो सकता है?

यहां यह शंका होती है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में पूर्व का पुरुषार्थ, उसके पीछे वाले पुरुषार्थ का साधन रूप है– तदनुसार धर्म से अर्थ सिद्ध होता है–अर्थ से काम, और काम से मोक्ष सिद्ध होता है। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते तथा कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः इत्यादि उद्धरणों से भी यही प्रतिपादित किया गया है । काम, मोक्ष क

साधन है यथा प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थः। तो फिर, धर्म को अर्थ का साधन मानने में क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि 'नार्थस्य'– अदृष्ट से दृष्ट बलवान है–द्रव्यादि अर्थ द्वारा, होम दानादि रूप धर्म होते हैं और वह दिखाई देते हैं प्रत्यक्ष हैं, किन्तु धर्म से जो अर्थ प्राप्ति होती है वह दिखाई नहीं देती, अदृष्ट है। धर्मसे धनादि की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी। इसलिये अर्थ का एकमात्र अन्तिम कार्य धर्म ही माना गया है। अर्थ से ही धर्म सिद्ध होता है तदनुसार किसी भी उपाय से अर्थ की प्राप्ति करके धर्म करना चाहिये किन्तु धर्म से अर्थ का सम्पादन नहीं करना चाहिये। एष उ एव साधुकर्म कारयति इस श्रुति के अनुसार भगवान जिसे उन्नत करना चाहते हैं उससे ही अच्छे धर्म रूप कर्म कराते हैं। इससे इतना सिद्ध है, भगवान् ही सब कार्यों में प्रवृत्ति कराते हैं। अपूर्व द्वारा धर्म, अर्थ का साधक है– इस कथन का दृष्ट से विरोध होने के कारण जैसे मीमांसक धर्म को अर्थ का हेतु नहीं मानते, वैसे मुमुक्षुओं के लिये भी यह पक्ष अनादरणीय है, अर्थात् धर्म से अर्थ का सम्पादन मुमुक्षुओं को अभीष्ट नहीं है।

यदि अर्थ से ही धर्म संपादन होता है तो फिर यही क्यों न कहा जाये कि अर्थ से ही काम और मोक्ष भी सिद्ध होते हैं? यह कथन उचित नहीं है। अर्थ से काम सिद्ध नहीं किया जा सकता– 'कामो लाभाय'– विषय सुख का नाम काम है– यह विषय सुख, इन्द्रियों और विषय के अधीन है। विषय सुख तभी मिल सकता है जब इन्द्रियां सशक्त हों और विषय उपस्थित हो। केवल अर्थ से विषय सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः यह कथन कि अर्थ से ही काम की सिद्धि मिलती है, प्रत्यक्ष से विरुद्ध है।

इस कथन मे यह शंका होती है कि यद्यपि विषयसुख, इन्द्रियों के और विषय के अधीन अवश्य है तथापि यहां, इन्द्रियांश में भले ही अर्थ का द्रव्यादि का उपयोग न हो किन्तु पुष्प-माला तथा चंदनादि रूप विषयांश में तो अर्था का उपयोग होगा ही।

इसका उत्तर यह है कि विषय से यहां रूपादि का ग्रहण होता है, माला, चन्दनादि का नहीं। शंका– यह कथन उचित है, भले ही अर्थ को, काम का साक्षात् कारण न माना जाये। किन्तु माला-चन्दन-वसनादि से रूप आदि के उत्कर्ष का संपादन तो होता है अतः रूप के उत्कर्ष का संपादक होने से अर्था को, काम में परम्परा रूप कारण क्यों न माना जाये?

समाधान– इसका उत्तर यह है कि रूपादि का संपादन करने वाला अर्थ नहीं है क्योंकि रूपादि तो स्वतः सिद्ध हैं। यहां यह विचार होता हैं कि अर्थ मनुष्य में (अपने में) रहे हुए रूपादि के संपादन से काम-जनक है अथवा माला, चन्दनादि में रहे हुए जो रूपादि हैं उनके सम्पादन से

काम-जनक है ? माला चन्दनादि में अथवा अपने मे रहे हुए रूपादि के सम्पादन से यदि अर्थ को कामजनक मानेगें तो प्रत्यक्ष से विरोध आयेगा– क्योंकि पुष्प, चन्दन, वनितादि में रहा हुआ जो गुण है, उसका उत्कर्ष-साधक अर्थ नहीं देखा गया । यदि अन्य में रहे हुए रूपादि के सम्पादन से अर्थ को कामजनक मानते हैं तो वहां यह विचार करना होगा कि क्या भोक्ता में रहने वाले रूपादि का वह सम्पादक है अथवा भोग्य में रहने वाले रूपादि का ? यदि अर्थ को, भोक्ता के रूपादि का सम्पादन माने तो वह उचित नहीं, क्योंकि अर्थ के प्राप्त होने पर भी रूपादि नहीं रहते । अर्थ प्राप्ति होते हुए युद्ध आदि में बाण आदि के लगने से रूपादि चले जाते हैं । प्रतिग्रह लेने से अर्थ प्राप्ति होने पर भी रूपादि नष्ट हो जाते हैं । यहां अर्थप्राप्ति, रूपादि विषय की बिनाशिका होने के कारण, काम का नाश करने वाली मानी जायेगी । यदि यह माने कि भोग्यनिष्ठ रूपादि सम्पादन में अर्थ की आवश्यक्ता है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अपना अर्थ भोग्य के अधीन होने से रूपादि की प्राप्ति होती है । इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-नाश के द्वारा विषय ही कामजनक होता है । अर्थ के नाश होने पर काम मिलता है । वहां अर्थ विषय में उत्कर्ष उत्पन्न करके कामजनक नहीं होता । इसलिये वैपरीत्य हुआ अर्थात् कभी एक जगह कामनाश है, कभी एक जगह अर्थनाश है ।

यहां शंका होती है कि अपने अर्थ के भोग्याधीन होने पर भी अर्थ के द्वारा भोग्य स्त्री आदि रूप जो अर्थ हैं उसको स्वाधीन करने से स्त्री आदि से उत्कृष्ट विषय सुख की सिद्धि मिलती है । अतः अर्थ, कामजनक होता ही है । अर्थात् स्त्री रूप अर्थ में कामजनकता है, इससे अर्थ, काम जनक ही कहा जायेगा ।

इसके समाधान में कथन है कि यदि स्त्री आदि रूप अर्थ का साधक होने से, धन को कामजनक माना जाये तो स्त्री को पुत्र रूप अर्थ प्राप्त होने पर स्त्री रूप का नाश होते देखा गया है । इसलिये वहां विषय नाश होने से काम का नाश भी हो जाता है । ऐसी स्थिति में वहाँ अर्थ से, धन से कामसिद्धि न होकर काम का नाश ही समझा जायेगा । इस तरह अर्थ, काम का नाशक है, उसका साधन नहीं । इस वस्तु व्यत्यास से, अर्थ से अर्थ की ही प्राप्ति हुई, काम की नहीं ।

यहां शंका होती है कि जिसकी इच्छा की जाती है वह विषय ही अर्थ रूप है 'अर्थयते अभीप्स्यते' इति अर्थः– अर्थात् स्त्री आदि विषय ही यहां अर्थ रूप हैं और वह काम के साधक हैं । इसका उत्तर यह है कि अर्थ का यह यौगिक अर्थ है रूढ़ार्थ नहीं । योग मे रूढ़ी

बलवती है। इसलिये अर्थ शब्द स्त्री आदि विषय में प्रसिद्ध नहीं है। द्रव्य को ही अर्थ कहते हैं।

यदि अर्थ को अर्थात् द्रव्य को 'परंपरया काम-जनक' मानेगें तो फिर इसे धर्मजनक भी मानना होगा। ऐसीस्थिति में अर्थ के साधक कर, दण्ड, चोरी आदि सब धर्मजनक कहे जाने लगेगें। तात्पर्य यह है कि परम्परा से जिस तरह अर्थ, काम का साधक है, उसी तरह परम्परा से कर, दण्ड, चोरी आदि भी अर्थ सम्पादक होने के कारण धर्म के साधक माने जायेगें। यह सब कथन असंगत है। लोक में कहीं कहीं अर्थ और काममे साहचर्य देखा गया है इसलिये अर्थ में काम-साधनता है। ऐसी प्रतीति होती है वस्तुतः अर्थ, कदापि काम का साधक नहीं है। यदि अर्थ ही काम का साधक होता तो अर्थ वाले अतिकृपण में भी काम की प्राप्ति मानी जायेगी किन्तु अर्थ होते हुए भी कृपण उससे वंचित ही रहता है और जिनके पास अर्थ नहीं है ऐसे पशु आदि में काम प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। अतः यह कथन कि अर्थ काम का साधन है असंगत है। सन्यासी को, आत्मज्ञानी को, आत्मकाम, आप्तकाम कहा गया है, इसलिये भी यह मानना अनुचित है कि जहां अर्थ है वहां काम है। कृपण के पास अर्थ है किन्तु कामोपलब्धि नहीं है। आत्मज्ञानी के पास अर्थ नहीं है फिर भी आप्तकाम है। कृपण में अन्वय-व्यभिचार है, ज्ञानी में व्यतिरेक व्यभिचार है।

कहीं कहीं अर्थ और काम का साहचर्य देखा गया है। तदनुसार इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव की प्रतीति होती है। इसका संकेत श्लोक के 'हि' पद से किया गया है।

अब यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे, अर्थ को काम का साधन मान भी लिया तो भी यह विचार कर लेना चाहिये कि वह काम कितना और कैसा है? यदि काम पद से जीवन-निर्वाह ही ग्रहण किया जाये तो ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त वह स्वतः सिद्ध है। वहां अर्थ की कोई आवश्यकता नहीं। यदि काम को इन्द्रियप्रीति रूप मानें तो अग्नि रूप होने के कारण– 'नजातु कामः कामानाम्' इस वचन के अनुसार, जैसे घृत से अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी तरह काम से इन्द्रियों की तृप्ति कदापि सम्भव नहीं, अनुभव से भी यही सिद्ध है। काम की शान्ति के लिये काम में प्रवृत्त होने वाले भ्रांत हैं। यदि विषयों को, इन्द्रियप्रीति का कारण मानते हैं तो उसकी पूर्ति कभी नहीं होगी। विषय-भोग (काम) इन्द्रिय-प्रीति का हेतु नहीं होता।

यहां जो लाभ पद है वह देहली दीपक न्याय से श्लोक के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों से अन्वित है। इसलिये चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने का क्रम - यहां साधन परम्परा के अनुसार इस तरह है अर्थात् काम रूप विषयों से (अन्नादि पदार्थों के सेवन से) अर्थ रूप जीवन सिद्ध होता है। जीवन रहने पर धर्म और ज्ञान होते हैं और इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, तदनुसार काम, अथ,

धर्म और मोक्ष– इस तरह पुरुषार्थ का क्रम जानना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'जीवस्यतत्वजिज्ञासा' यह कहा गया है। जीव से यहां जीवन समझना चाहिये। 'जीवनं जीवः' । अर्थात् जीवनतत्व जिज्ञासा का साधन है, जीवन का लाभ है 'तत्व विचार' । जीवस्य तत्वजिज्ञासा लाभः लाभ पद तत्व जिज्ञासा से अन्वित है। लौकिक कर्मो से साध्य जो काम और अर्थ है वह जीवन का लाभ नहीं है । धर्म केवल कर्म से साध्य नहीं है, किन्तु श्रुति-बोधिक कर्म से साध्य है । अथवा दैवगति से प्राप्त किया गया अर्थ भी जीवन के लाभ के लिये नहीं है। इसका निर्देश यहां 'च' कार से किया गया है ।।९–१०।।

आभासः—तत्त्वजिज्ञासेत्यत्र सन्देहः—तत्त्वानां जिज्ञासा तत्त्वस्य वेति ? तत्त्वपदेऽपि सन्देहः—तस्य भावस्तत्त्वमनारोपितं रूपं वा ? तस्य भाव इति पक्षे पूर्वोक्तस्याऽभावान्न किञ्चित्तत्त्वं स्यात् । समुदायपक्षेऽभ्रान्तज्ञानविषयत्वेन सर्वमेव तत्त्वं स्यात् । तत्त्वानां जिज्ञासेति तु साङ्ख्यपरिकल्पितानां मध्ये एकस्याऽपि जिज्ञासा कठिना । तत्वस्य जिज्ञासेति तु न सर्वेषामेकतत्तवमस्ति । शास्त्राणामन्योन्यविरोधात् । तस्मात्कथं तत्त्वजिज्ञासेत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थः—यहां संदेह होता है कि तत्त्व-जिज्ञासा इसमें तत्व से बहुत से तत्वों की जिज्ञासा समझना चाहिये अथवा केवल एक तत्व की जिज्ञासा समझना चाहिये ? तत्व पद में भी 'तस्यभावस्तत्वं' उसका भाव यह अर्थ लेना चाहिये । अथवा अनारोपितरूप । यहां यह संदेह है। यदि यहां उसका भाव, यह अर्थ लेते हैं तो उसका भाव जैसी कोई वस्तु नहीं है । इस प्रकार का कोई तत्व नहीं है । यदि 'तेषांभावः' अनेकों का स्वरूप-भूततत्व ऐसा समुदाय पक्ष माने तो वह सभी अभ्रान्त पुरुषों के ज्ञान का विषय हो जाने के कारण 'समग्र वस्तुए ही तत्व' कहीजाने लगेंगी । अब यदि तत्व-जिज्ञासा में तत्वानां जिज्ञासा इस विग्रह के अनुसार सांख्य-शास्त्र द्वारा परिकल्पित तत्वों का ग्रहण करें तो फिर उनमें से एक तत्व की जिज्ञासा का भी विचार करना कठिन है । फिर अन्य तत्वों की जिज्ञासा का तो प्रश्न ही कहां ? तत्वस्य जिज्ञासा- यदि ऐहा अर्थ करें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि सभी शास्त्रों का एक ही समान तत्व नहीं है। शास्त्रों का उसमें परस्पर विरोध है । इसलिये यहां 'तत्व जिज्ञासा' से क्या समझना चाहिये ? इस संदेह का उत्तर देते हैं ।

श्लोक– वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।११।।

श्लोकार्थ—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्– इस तरह शब्द के भेद से, पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत जो एक ही ज्ञान है– उसीको तत्व को जानने वाले तत्व कहते हैं ।११।

सुबोधिनी— वदन्ति तत्तत्त्वविद इति । यद्यपि सर्वे स्वस्वशास्त्रे तत्त्वविद इति प्रसिद्धास्तथापि प्रमाणबलविचारेण वेदानां सर्वोपजीवकत्वाद्वेदार्थविदस्तत्त्वविद इति मन्तव्यम् ननु सर्वेऽपि वेदार्थविदः । ऋषित्वात् । सत्यम् । तथाप्यन्योन्यविरोधात्केचनैव तत्त्वविद इति वक्तव्यम् । तत्र येष्वक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधस्ते तत्त्वविद इति मन्तव्यम् । न च ते न सन्त्येवेति मन्तव्यम् । वेदस्य प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । ते किं वदन्तीत्यत आह । यत्त्वद्वितीयं ज्ञानमिति द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वमित्यर्थः । तत्त्वज्ञानं मोक्ष इति सर्वजनीनत्वात् श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेद इत्याऽऽह क्रमेण—**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत इति** । शब्दमात्रं भिद्यते नत्वर्थभेदोऽस्तीत्यर्थः ॥११॥

सुबधिनी अनुवाद—यद्यपि सभी अपने शास्त्र में 'तत्ववेत्ता' नाम से प्रसिद्ध हैं तथापि प्रमाण-बल के विचार से सभी के लिये एक मात्र योग्य आश्रय 'वेद' ही है– तदनुसार वेद के अर्थ को जानने वाले ही तत्व के ज्ञाता हैं, यही स्वीकार करना चाहिये । तदनुसार यह कथन कि जो ऋषि लोग हैं उनमें से प्रत्येक ऋषि होने के कारण वेदार्थ का ज्ञाता माना जायेगा, यद्यपि यह सत्य है, तथापि परस्पर विरोध होने के कारण इनमें से कतिपय ऋषि लोग ही वेदार्थ के ज्ञाता हैं, सभी नहीं । इन ऋषिओं में से वही तत्व के ज्ञाता कहे जायेंगे जो वेद की श्रुतियों का आदि से अंत तक ऐसा अर्थ करें कि उनसे अविरुद्ध हो । यहां यह नहीं मान लेना चाहिये कि इस प्रकार से अर्थ को जानने वाला है ही नहीं, क्योंकि वेद रूप प्रमाण के विद्यमान होने से उसके जानकार भी होने ही चाहिये, और वे हैं ऋषि । उनका यह कथन है कि द्वैत– निवर्तक जो ज्ञान है वही तत्व है और तत्व-ज्ञान ही मोक्ष है– यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । वेदोक्त इसी अद्वैत-तत्व को श्रुति-स्मृति तथा पुराणों में क्रमशः ब्रह्म, परमातमा तथा भगवान् शब्द से कहा है । ये शब्द भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही हैं ॥११॥

आभास : तदेवं तत्त्वपर्यन्तं पदार्थानां स्वरूपं क्रमं चोक्त्वा फलितमाह—

आभासार्थ : इस प्रकार तत्व पर्यन्त पदार्थों का स्वरूप एवं क्रम बता कर संप्रति उससे क्या सिद्ध हुआ ? वह कहते हैं ।

श्लोक– तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चाऽऽत्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ॥१२॥

श्लोकार्थ– उस ब्रह्म-तत्व में श्रद्धा वाले मुनिगण, ज्ञान-वैराग्य युक्त श्रवण से उत्पन्न होने वाली भक्ति द्वारा अपनी आतमा में भगवान् से साक्षात्कार करते हैं ।१२।

सुबोधिनी— तच्छ्रद्दधाना इति। तत्तस्माद्धेतोः। तद्ब्रह्म वा । तत्रैवं क्रमः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा फलमुक्तम्। तच्च साक्षात्कार इति पर्यवसितम् । तत्र विचारसहितप्रमाणेन यद्यपि निर्विचिकित्सं शाब्दज्ञानं भवति तथाप्यन्तःकरणदोषान्न साक्षात्कारः सिद्धयति । तदर्थं प्रथमं धर्मः। ततोऽन्तःकरणशुद्धौ वेदादिसत्प्रमाणे श्रद्धा। ततस्तदर्थस्य मननम् । ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कार इव ज्ञानम्। ततो विषयेषु वैराग्यम्। ततः श्रवणादिसाधनभक्तिः। ततः परमभक्तिः। ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपीत्यर्थः। आत्मानं तं भगवन्तमात्मरूपम् । तत्र यावत्साधनं साध्यस्थितिः। तत्र ज्ञानवैराग्ययोः सहभावनिरूपणाद्भक्तिर्मुख्या। तस्याः स्थितिहेतुमाह- **श्रुतिगृहीतयेति**। श्रुत्या हि गृहीता भवति। यथा यथा श्रवणं तथा तथा भक्तिस्थितिः । ततः सर्वमिति ॥ १२ ॥

सुबोधिनी अनुवाद : 'तच्छ्रद्दधाना' में 'तत्' का अर्थ– उस कारण से– अथवा ब्रह्म लिया गया है। वहां इस तरह के क्रम का निर्देश किया गया है कि जीवन का फल तत्व-जिज्ञासा है। उस फल का पर्यवसान भगवत् साक्षात्कार में होता है, अर्थात् जीवन का भगवत्साक्षात्कार अन्तिम फल है। यद्यपि विचारपूर्वक प्रमाण से शब्द के अर्थ का निःसंदिग्ध ज्ञान हो जता है तथापि अन्तःकरण के दोष से भगवत्साक्षात्कार सिद्ध नहीं होता । इसके लिये प्रथम धर्माचरण करना चाहिये। इससे अन्तःकरण के शुद्ध होने पर सत्प्रमाण-रूप वेदादि में श्रद्धा होती है । तदनन्तर वेद के अर्थ का मनन करना चाहिये, तत्पश्चात् निदिध्यासन द्वारा (हृदय में मनन को स्थिर रखने से) साक्षात्कार जैसा ज्ञान होता है। फिर विषयों में वैराग्य होता है, तदनन्तर श्रवणादि साधन-रूप भक्ति होती है। इसके पश्चात् परम भक्ति का उदय होता है । तत्पश्चात् हृदय में तथा बाहर भी सर्वत्र भगवत्साक्षात्कार होता है । यहां 'आत्मानम्' पद से 'आत्मरूप भगवान् समझना चाहिये। यहां उपर्युक्त क्रमानुसार जब तक साधन रहते हैं तब तक प्रभु का साक्षात्कार होता है। श्लोक के 'ज्ञान' वैराग्ययुक्तया' में ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति कही गई है। अतः यहां ज्ञान वैराग्य अप्रधान है और भक्ति मुख्य है। भक्ति की स्थिति में हेतु का निर्देश करते हैं कि श्रुतिगृहीतया जैसे जैसे भगवद् गुण का श्रवण किया जायेगा वैसे वैसे भक्ति का उदय होता जायेगा। तदनन्तर सब कुछ सम्पन्न हो जाता है।१२।

आभास : एवं द्वितीयप्रकारेण ज्ञानमुक्तम्। तत्र द्वितीये धर्मस्य सम्बन्धमाह—

आभासार्थ : इस तरह दूसरे प्रकार से ज्ञान कहा । यहां इस ज्ञान से, धर्म का जो सम्बन्ध है, उसका निरूपण करते हैं—

श्लोक– अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिह्यातिमतोषणम् ॥१३॥

श्लोकार्थं—इसलिये हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ शौनकादि ! वर्णाश्रम विभाग के अनुसार मनुष्यों द्वारा अच्छी तरह आचरित जो धर्म है उसकी उत्तम सिद्धि है– भगवान् का प्रसन्न होना ।

सुबोधिनी—प्रतः पुम्भिरिति । धर्मसामान्यस्य प्रथमे साधनता उक्ता । विशेषस्य तु द्वितीये । यतो भगवत्प्रसादव्यतिरेकेण नाऽन्तःकरणशुद्धिर्न वा रुचिरतो धर्मस्य मुख्यं फलं भगवत्प्रसादः । बीजसंस्कारसंस्कृताः कुर्वन्ति । धर्मपोषकभगवदिच्छया वा । "ममैव कामो भूतानामि" ति वाक्यात् । **पुम्भिरिति** कर्मणि प्रयोगेणैतज्ज्ञापितम्—अनुष्ठाने कर्मैवाऽपक्षीणं न कर्तेति । तदैव हि भगवत्प्रसादः । अन्यथा कर्मणैव फलमिति । **द्विजश्रेष्ठा इति** । द्विजेभ्यः श्रेष्ठास्त्रिजन्मानः । अनेन भवद्भिः क्रियमाणेन कर्मणा भगवांस्तुष्यतीति सूचितम् । वर्णधर्माः शमादयः कालद्रव्ययज्ञादिभेदा वा । गुरुशुश्रूषादय आश्रमधर्माः । शस्प्रत्ययेन च परधर्माः निवारितः तेन च"**विधर्मः परधर्मश्चे**" ति दोषो निवारितः । सम्यगनुष्ठानं कालादिभिः षड्भिः शुद्धैर्ज्ञात्वाऽनुष्ठानम् । स एव वा धर्मः । "**अधर्मो ह्यन्यथा भवेदि**" ति वाक्यात् । सम्यक्सिद्धिः फलम् । यद्यपि "**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठे**" त्यादिश्रुत्या बहूनि धर्मस्य फलानि सन्ति तथापि भगवांश्चेत्तेन परितुष्यति तदा सफलो नो चेद्धर्मो व्यर्थः इत्यर्थः । आत्मार्थं हि सर्वम् । सर्वेषामात्मा च भगवान् । "**येषां न तुष्टो भगवानि**" ति वाक्यार्थो हिशब्देन सूचितः ॥१३॥

सुबोधिनी अनुवाद—प्रथम प्रकार के ज्ञान में सामान्य धर्म की साधनता का निरूपण किया गया । अब दूसरे– प्रकार के ज्ञान में विशेष धर्म की साधनता का विवेचन करते हैं । क्योंकि भगवत् कृपा के विना न तो अन्तः करण शुद्ध होता है और न रुचि ही उत्पन्न होती है । इसलिये धर्म का मुख्य फल है– 'भगवत्प्रसाद' । इस प्रकार का धर्माचरण वही कर सकते है जिनका शरीर उपनिषदोक्त पञ्चाग्नि-विद्या के संस्कार से सुसंस्कृत हो गया है अथना भगवान् जब धर्म-पोषण की इच्छा करते हैं, तब भी ऐसा धर्माचरण होता है क्योंकि भगवद्-इच्छा ही प्राणियों को प्रेरित करती है-'ममैव कामो भूतानाम्' इस वाक्य से भी यही कहा गया है । श्लोक में 'पुम्भिः' मनुष्यों द्वारा अनुष्ठित धर्म– इस कर्मणि प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि अनुष्ठान में कर्म ही विकृत होता है, कर्ता नहीं । जैसे– 'देवदत्तेन ओदनं पच्यते'– यहां कर्मणि प्रयोग में तंदुल कर्म को ही क्रिया का, पच्यते का, खिन्नता रूप फल प्राप्त होता है– कर्ता रूप देवदत्त को नहीं । इसी तरह यहां उत्तम रूप से अनुष्ठित किये गये धर्म में ही उत्तम-रूपता का फल होता है । धर्म ही उत्तम बनता

है कर्ता उसकी प्रतिष्ठा का फल नहीं चाहता । इस तरह जब धर्म उत्तमतया अनुष्ठित होने पर उत्तमरूपता से सम्पन्न होता है तब भगवत्कृपा प्रसाद होता है । यदि इस प्रकार से धर्म का अनुष्ठान नहीं करके किसी कामना से धर्म किया जाये तो वहां भगवत्प्रसाद न होकर, जो कर्ता चाहता है वही फल मिलता है । अर्थात् कामना रहित धर्मानुष्ठान से धर्म ही अच्छा उत्तम बनता है । वहां कर्ता को लौकिक फल नहीं मिलता । इस तरह धर्मा-चरण से कर्ता को भगवत्प्रसाद रूप फल अवश्य प्राप्त होता है । यदि इस प्रकार से कामना रहित धर्माचरण न किया जाये तो कर्म से ही काम्य फल मिलता है भगवत्प्रसाद नहीं ।

द्विजश्रेष्ठाः– यहां श्रेष्ठ पद से यह सूचित किया गया है कि आप द्विजों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपके तीन जन्म हुए हैं, प्रथम ब्राह्मण से, फिर यज्ञोपवित संस्कार से और फिर ज्ञान सहित भक्ति से । इस तरह त्रिप्रकार से संस्कृत होने के कारण आप त्रिजन्मा हैं । इसलिये आप द्वारा समाचरित कर्म से भगवान् प्रसन्न रहेंगे ।

शम, दम, तप, शौच आदि वर्ण धर्म हैं अथवा कालयज्ञ (अग्निहोत्रादि), द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, आदि गीता में कहे गये भी वर्ण धर्म हैं । गुरु सेवा आदि आश्रम धर्म हैं । यहां श्लोकोक्त 'वर्णाश्रमविभागशः' में जो 'शस्' प्रत्यय है उसका 'मंगल' अर्थ है । इसके द्वारा अन्य धर्म का परधर्म का निवारण किया गया है– सप्तमस्कंधोक्त विधर्म परधर्म आभास, उपमा तथा छल– अधर्म की इन पांच शाखाओं के दोष का निवारण किया गया है । अर्थात् स्वधर्म का पालन करें, परधर्म का नहीं । क्योंकि स्वधर्म ही 'मंगलकारक' है– परधर्मो भयावहः विधर्मः परधर्मश्च- परधर्म विधर्म है, अमंगलकर है अतः उसका पालन नहीं करना चाहिये ।

स्वनुष्ठितस्य– काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, देश तथा कर्म– इन छहों की परिशुद्धिपूर्वक समझकर अनुष्ठान करना चाहिये तभी यह सम्यक् अनुष्ठान कहलायेगा । इस तरह से अनुष्ठित ही धर्म कहलाता है अन्यथा अधर्म होता है । ऐसे धर्म की संसिद्धि-- सम्यक्फल– भगवद् परितोष है । 'धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'– धर्म से ही सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है । इस श्रुति के अनुसार यद्यपि धर्म के बहुत से फल हैं तथापि यदि भगवान् उससे परितुष्ट होते हो तभी वह धर्म फल कहा जायेगा–नहीं तो वह धर्म व्यर्थ है । क्योंकि धर्म आदि का सब फलआत्मा के लिये है और सब की आत्मा भगवान् है । तदनुसार 'येषांन तुष्टो भगवान्' जिससे भगवान् प्रसन्न नहीं हुए उसका सब व्यर्थ है । अर्थात् जो आत्मरूप भगवान् को प्रसन्न करने के लिये धर्माचरण नहीं करता वह कृतघ्न है और कृतघ्न द्वारा आचरित धर्म का फल कुछ नहीं होता । यहां 'ह्यात्मतोषण'--में 'हि' अव्यय इसी आशय का निर्देश करता है ।।१३।।

आभास : तत्रैवं सन्देहः—बहवो वर्णाश्रमविभागेन धर्मान्कुर्वन्ति । न च तेषु भगवच्छास्त्रानुसारिणी भक्तिरुपलभ्यते अतो ज्ञायते, भगवान्न परितुष्ट इति । तथाच कर्मकरणदशायां व्यभिचारदर्शनात्कथं निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः ? अतो येषु धर्मेषु न व्यभिचारस्ते विशेषेण कर्तव्या इत्याह—

आभासार्थ : यहां यह संदेह होता है कि बहुत से लोग वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्माचरण करते हैं परन्तु उनमें गीता, भागवत आदि भगवद्-शास्त्रोक्त भक्ति नहीं देखी जाती। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए । यदि भगवान् प्रसन्न होते तो भक्ति भी अवश्य होती । अतः धर्माचरण करते हुए भी जब भक्ति रूप फल नहीं दिखाई देता तो फिर उनकी वर्णाश्रम धर्म में निःसंदिग्ध प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है ? इस संदेह के निराकरणार्थ यहां जिन धर्मों के करने से भक्ति अवश्य होती है उन धर्मों को विशेष रूप से करना चाहिये, इसी के विवेचनार्थ कहते हैं :—

श्लोक– तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।१४।।

श्लोकार्थ— इसलिये एकाग्र मन से व्यग्रतारहित मन से, भक्तों के पति भगवान् का नित्य श्रवण, कीर्तन, ध्यान तथा पूजन करना चाहिये ।।१४।।

सुबोधिनी—तस्मादिति । यस्मादन्यत्र व्यभिचारोऽपि सम्भवत्यतः श्रवणादिकमेव कर्तव्यम् । श्रवणादिकमपि धर्मः । "**शृणुयाच्छ्रावयेदि**" ति विधिस्पर्शात् । **एकेन मनसेति** । वैयग्र्याभावयुक्तेन । श्रवणस्य यथा न व्यभिचारस्तथाऽग्रे वक्ष्यति । अन्यधर्मपरित्यागो वा सूच्यते—**एकेनेति** ।**भगवानिति** । श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद्ब्रह्मणः । तथापि वैष्णवशास्त्रानुसारेणैतदेव सूचयति—**सात्वतां पतिरिति** । शुद्धे सत्वे आविर्भूतः सात्वो भगवान् । स वर्तते येषां ते सात्वन्तः तत्र "**बहुलं छन्दसी**" ति वकारलोपस्तेषामलौकिकत्वाय । तेषां पतिः सर्वनिर्वाहकः । स्वस्याऽपि तथात्वे न काचिच्चिन्तेति भावः । **श्रवणादीनां** सुलभत्वाय वा । यतः स्वपतिः सर्वैरेव श्रूयते कीर्त्यते च । इदं च श्रवणादिकं धर्मरूपम् । प्रकरणात् । द्वितीयस्कन्धे तु भक्तिरूपो वक्ष्यते । भगवद्वाचकैः पदैर्वाक्यैश्च भगवति शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः **श्रवणम्** । शक्तितात्पर्यनिर्धारबोधनं कीर्तनम् । तथा ज्ञातानां वा स्वत एवोच्चारणम् । उभयं सङ्गृहीतं चकारेण । अन्योन्यनिर्वाहकत्वं च । तदग्रे वक्ष्यते । इदं द्वयं बाह्येन्द्रियसाध्यम् । आन्तरमाह—**ध्येयः पूज्यश्चेति** । **ध्यानं** भगवति चित्तस्थिरीकरणम् । भगवन्मूर्तेरनुसन्धानं वा । पूजा बाह्यान्तरभेदेन द्विधा चका-

रेण सङ्गृहीता । व्यासङ्गान्तराभावाय—**नित्यदेति** । तस्मादयमेव मुख्यो धर्मस्सर्वथा कर्तव्य इति ॥१४॥

सुबोधिनी अनुवाद—वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्म करने पर भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिये जिनसे भगवत् प्रसाद तथा भगवद् भक्ति निःसंदेह प्राप्त होती है, ऐसे श्रवण, कीर्तनादि धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। यदि यह कहा जाये कि विधि-विहित नहीं होने से श्रवणादि धर्म नहीं हैं तो यह उचित नहीं है। क्योंकि शृणुयात्-श्रावयेत् इत्यादि वाक्यों से श्रवण-कीर्तन आदि भी विधि-बोधित होने के कारण धर्म हैं।

ऐकेनमनसा– व्यग्रता रहित मन से यदि श्रवणादि किये जायें तो भक्ति अवश्य उत्पन्न होती है। वहां फल का कभी व्यभिचार नहीं होता। यही बात अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। अथवा एकेन द्वारा श्रवणादि के अतिरिक्त अन्य धर्म के परित्याग का निर्देश किया गया है। यहां श्रवण, जीव का नहीं, अपितु साक्षात् ब्रह्म का करना चाहिये, इसलिये भगवान् शब्द का यहां प्रयोग किया गया है। वैष्णवशास्त्र के अनुसार भी यही सूचित होता है और इसीलिये श्लोक में 'सात्वतांपतिः' का प्रयोग किया गया है। सात्वतांपतिः– शुद्ध सत्व में आविर्भूत होने वाले भगवान् को सात्व कहते हैं। ऐसे भगवान् जिसमें स्थित हों उसको– उस भक्त को सात्वत् कहते हैं। यद्यपि यहां व्याकरण के नियमानुसार 'मतुप्' प्रत्यय से शुद्ध प्रयोग सात्ववत् बनता है तथा इसकी षष्ठी सात्ववतः बहुवचन में सात्ववतो–होती है परन्तु बहुलंछंदसि–के अनुसार यहां वका लोप, भक्तों की अलोकिकता के निर्देशार्थ किया गया है। जिस प्रकार यह छांदस् प्रयोग व्याकरण के नियमों से ऊपर हैं उसी प्रकार भक्तगण भी लौकिक से अतीत अलौकिक हैं। वस्तुतः यहां सात्वतां का अर्थ वही है जो सात्ववतां का है। दोनों पदों का अर्थ एक ही है। भक्तों के पति। जो सर्वस्व देकर भी स्वकीय की रक्षा उसका निर्वाह करता है वही पति है। पति परम आनन्द का प्रदाता है। इसी अर्थ में भगवान् भक्तों के पति हैं। और यदि वे हमारे भी पति बन जायें तब किसी भी प्रकार की चिन्ता को अवकाश ही कहां? अथवा अपने पति के गुणों का श्रवण अत्यन्त सुलभ होने के कारण यहां पति शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि अपने पति से सम्बन्धित बातें सभी सुनते हैं और सुनाते भी हैं। यहां धर्म का प्रकरण चल रहा है अतः यह श्रवण-कीर्तन-ध्यान तथा सेवा आदि धर्म रूप हैं तथा द्वितीय स्कन्ध में 'तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्' आदि से कहे गये श्रवण कीर्तनादि भक्ति रूप हैं।

भगवद् वाचक पदों और वाक्यों द्वारा भगवान् में शक्ति– तात्पर्य के निर्णय को श्रवण कहते हैं। शक्ति तात्पर्य के निर्णय को कहना कीर्तन कहलाता है। अथवा जाने हुए भगवद्गुणों

का स्वतः उच्चारण करते रहना कीर्तन है। कीर्तितव्यश्च– यहां चकार से श्रवण तथा कीर्तन दोनों का ग्रहण किया गया है दोनों ही करते रहना चाहिये। विना श्रवण के कीर्तन तथा विना कीर्तन के श्रवण नहीं हो सकता– क्योंकि दोनों एक दूसरे के निर्वाहक पूरक हैं और इस विषय में अग्रिम प्रसंग पर हम कहेंगे। श्रवण तथा कीर्तन बाह्य इन्द्रियों से किये जाते हैं– ध्यान तथा पूजन आन्तर इन्द्रियों से साध्य हैं। भगवान् में चित को स्थिर करने का नाम ध्यान है अथवा भगवन्मूर्ति का अनुसंधान भी ध्यान है। 'पूज्यश्च' में चकार से बाह्य तथा आभ्यंतर मानसी भेद से दो प्रकार की पूजा ग्रहण की गई है। 'नित्यदा' ये यह बताया है कि अन्य कोई प्रकार की आसक्ति न रखकर अथवा अन्य किसी भी कार्य में संलग्न न रह कर सदा ध्यान तथा पूजन करते रहना चाहिये ॥१४॥

आभास : ननु तथापि रुच्यभावात्कथमेतत्सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ : ऐसा होते हुए भी यदि रुचि ही न हो तो फिर श्रवण कीर्तनादि कैसे होंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक– यदनुध्याऽसिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥१५॥

श्लोकार्थ– उस भगवान् की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा, जिसके ध्यान से, जिसके ध्यानरूपी असि से, खड्ग से सज्ञ निपुण पुरुष कर्म तथा कर्मग्रंथि के बन्धन को काट डालते हैं।१५।

सुबोधिनी—यदनुध्याऽसिनेति। सर्वत्राऽलौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद्रुचिरुत्पद्यते। तत्र भगवच्छास्त्रस्याऽप्रसिद्धावपि योगादीनां प्रसिद्धत्वाद्भगवद्धयानं प्रसिद्धम्। तस्याऽप्येवं माहात्म्यमङ्गभूतस्याऽपीत्यसिपदप्रयोगः। यस्याऽनुध्यानमेवाऽसिः। न चाऽपि तेन भगवत्प्रसादः। किन्तु तेनैव युक्ताः कर्म च्छिन्दन्ति। कर्मसु विद्यमानेषु जन्माऽनुच्छेदात्। तेषां चाऽभुक्तानामक्षयात्। भोगेन वा तत्क्षये तद्धेतुना पुनः कर्मान्तरार्जनात्कर्मविच्छेदः कठिनः। तदपि ध्यानेन भवतीति [illegible] **ग्रन्थिनिबन्धनमिति**। ग्रन्थिरविद्यया चिदचिद्ग्रन्थिः। मोहग्रन्थिश्च। तन्नितरां बध्नातीति ग्रन्थिनिबन्धनम्। पूर्वं वासनारूपेण विद्यमानस्य कर्मणैव दृढीकरणम्। अतस्तदभावे सोऽपि गमिष्यतीति भावः। घुणाक्षरन्यायं वारयति बहुवचनम्। अत्र हि नैपुण्यमपेक्ष्यते। अनुध्यानस्याऽन्यत्र विनियो-

गसम्भवात् । अतो योगसिद्धिमनपेक्ष्य ज्ञानेनाऽविद्यामेव निवर्तयन्ति ते कोविदाः । तत्र ध्यानस्य स्वतो माहात्म्यजनकत्वं नास्ति । विषयध्यानस्य सुतरां बन्धहेतुत्वात् । अतो भगवन्माहात्म्येनैव तस्य तथात्वमित्याह—**तस्येति** । तादृशस्येत्यर्थः । यत्र तद्धर्मेणाऽपि कार्यसिद्धिस्तत्र यदा कथाभिः स एव चित्ते युक्तो भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**को न कुर्यादिति** । अकर्त्तृणां माहात्म्यज्ञानाभावः ।१५।

सुबोधिनी अनुवाद— अलौकिक पदार्थों में उनके माहात्म्य-श्रवण से ही, सर्वत्र रुचि उत्पन्न होती है । यद्यपि भगवत् शास्त्र इतना प्रसिद्ध नहीं है- तथापि योग आदि प्रसिद्ध होने के कारण भगवद् ध्यान प्रसिद्ध है । भक्ति के अंगभूत योग के महत्व को बताने के लिये, ध्यान को यहां असि-खड्ग कहा है अर्थात् भगवान् का ध्यान ही खड्ग है । यहां यह नहीं मानना चाहिये कि भगवद् ध्यान रूप तलवार से भगवत्प्रसाद प्राप्त किया जाता है किन्तु इस ध्यान रूप खड्ग से सुसज्ज व्यक्ति कर्मको काट डालने में समर्थ होते हैं । जबतक कर्म है, तबतक जन्म-मरण का उच्छेदन नहीं किया जा सकता । जब तक कर्मों का भोग नहीं किया जायेगा' तब तक उनका क्षय नहीं होगा । अब कर्मों को भोग कर यदि उनका क्षय करें तो उनका उपभोग करते हुए पुनः दूसरे कर्म एकत्रित हो जाते हैं अतः कर्मों का उच्छेदन अत्यन्त कठिन है फिर भी ध्यान से यह सम्भव है । भगवान् का ध्यान करने से कर्मो का छेदन हो जाता है इसीलिये यहां 'छिन्दन्ति' ऐसा कहा है ।

यहां शंका होती है कि केवल कर्मों के छेदन से क्या होगा ? जब जीव भाव विद्यमान है तब केवल कर्मों के न रहने से क्या फल होगा ? इसका उत्तर यह है कि 'ग्रंथिनिबन्धनम्' भगवान् की अविद्या नामक शक्ति द्वारा चिद्. अचित् ग्रंथि का तथा मोहग्रंथि का निरन्तर निर्माण सम्बन्ध कराने वाले ये कर्म ही हैं । प्रथम से ही वासना रूप से विद्यमान जो चिद्-अचिद् अथवा मोहग्रंथि है उसको कर्म ने ही दृढ़ किया है इसलिये कर्मों के नाश होने पर जीव भाव भी अपने आप निवृत्त हो जाता है ।

यहां यह शंका की जाती है कि 'घुणाक्षर-न्याय' के अनुसार जिस तरह कीट द्वारा कर्तित बांस पर कभी कभी अप्रत्याशित रूप से अक्षर उभर आते हैं ऐसा कभी विरल अवस्था में ही घटित होता है उसीतरह कदाचित् किसी एक व्यक्ति का कर्म-च्छेदन हो गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इसी प्रकार से सभी के कर्मों की निवृत्ति हो जायेगी । इस शंका के समाधान में यह कथन है कि यहां घुणाक्षर-न्याय जो कादाचित्क है, लागू नहीं पड़ता यहां तो भगवद् ध्यान से सभी व्यक्तियों की कर्म ग्रंथि निवृत्त हो जाती है और इसीलिये यहां 'कोविदाः' इस बहुवचनान्त-पद का प्रयोग किया गया है ।

'कोविदाः' पद से यह भी सूचित होता है कि यहां ध्यान में निपुणता अपेक्षित है यदि ध्यान में निपुणता न हो तो किसी फल की कामना से किये गये उस ध्यान का योग-सुलभ किसी अणिमा-महिमा जैसी सिद्धि में, विनियोग हो सकता है । तदनुसार योग-सुलभ-सिद्धियों की अपेक्षा न रख कर जो व्यक्ति ज्ञान से अविद्या को ही निवृत्त करते हैं वही कोविद-निपुण कहलाते हैं ।

यहां केवल ध्यान का अपने आप में कोई माहात्म्य नहीं है, क्योंकि विषयों का ध्यान नितांत बन्धनकारक है । ध्यान का महत्व भगवद् माहात्म्य से है अर्थात् भगवद् ध्यान में ही, ध्यान का माहात्म्य है, हर किसी के ध्यान में नहीं । जहां भगवद् ध्यानरूप धर्म से ही कर्म बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं वहां भगवत्कथाओं द्वारा तो वही भगवान् हृदय में निरन्तर निवास करते हैं । ध्यान से भी उत्तम इस प्रकार की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा ? जो कथा में प्रीति नहीं रखते उनको कथा के माहात्म्य का जरा भी ज्ञान नहीं है ॥१५॥

आभासः— एवं द्वितीया भक्तिर्निरूपिता । एवं ज्ञानभक्ती मध्यमे निरूप्य, उत्तमे निरूपयति **शुश्रूषो**रित्यादिसप्तभिः—

आभासार्थः— इस तरह भतवत्तोष-पर्यन्त भगवत्कथा श्रवणादिरूप धर्म परम्परा द्वारा, द्वितीय प्रकार की भक्ति का निरूपण किया गया । इस प्रकार मध्यम ज्ञान और भक्ति का विवेचन करके संप्रति 'शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य'– इत्यादि से अग्रिम सात श्लोकों में उत्तम ज्ञान और भक्ति का निरूपण करते हैं—

श्लोक– शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥

श्लोकार्थ— हे विप्रो ! पवित्र तिर्थों का सेवन करने से, तथा भक्तों की परिचर्या पूर्वक उनमें तथा उनके धर्मों में श्रद्धा रखने वाले श्रवणेच्छुकों को वासुदेव की कथा में प्रीति रुचि होती है ।१६।

सुबोधिनी— अत्र हि फलमुखानि साधनानि निरूप्यन्ते येषु व्यभिचारशङ्काऽपि नास्ति । वैराग्यं च हेतुः । तत्राऽयं क्रमः । आदौ गृहत्यागेन तीर्थपर्यटनम् । अन्यथा महत्सेवायामुद्वेगः स्यात् । ततो महत्सङ्गः । ततस्तेषां सेवा । ततो भगवत्कथाश्रवणम् । ततः कथारुचिः । ततः कथायान्तेषु च श्रद्धा । ततः शुश्रूषेति । एवमेतादृशधर्मेण स्वरूपोपकारेणाऽव्यभिचारिणी शुश्रूषोत्पद्यते । अत्र

पूर्वपूर्वसाधनानां दृढत्वान्नोत्तरेषां निवृत्तिः तादृशाधिकारो दुर्लभ इति सूचितम् । शुद्धसत्त्वे ह्याविर्भूतस्य श्रवणे सद्यश्चित्तप्रसाद इति **वासुदेवे**त्युक्तम । अस्याङ्गीकाराय महत्पदप्रयोगः पुण्यरूपं तीर्थं पुण्यतीर्थम् । कुरुक्षेत्रं गङ्गा च । तयोर्नितरां सेवनं देववज्जलस्य सेवनम । नत्ववहेलनं कथञ्चिदपि ।।१६।।

सुबोधिनी अनुवादः— इस श्लोक में उन फलोन्मुख साधनों का निरूपण है जिनमें फलाभाव की शंका ही नहीं– जिनसे निश्चय फल सिद्धि होती है । भक्ति में वैराग्य ही कारण है जिसका क्रम इस प्रकार है– प्रथम घर के त्यागपूर्वक तीर्थाटन करना अन्यथा अर्थात् ऐसा न करने से महापुरुषों की सेवामें उद्वेग संभव है । फिर महापुरुषों की संगति होती है, तदनन्तर उनकी सेवा करने का तथा उनसे भगवत्कथाश्रवण का सहज अवसर मिलता है । फिर कथा में रुचि उत्पन्न होती है फिर कथा में तथा उन भगवदीयों में श्रद्धा का उदय होता है । इस तरह भक्ति के स्वरूप में उपकारक ऐसे धर्माचरण से अव्यभिचारिणी-अनन्य केवल भगवत्कथा की ही श्रवणेच्छा जन्म लेती है । इस तरह वैराग्य, महत्संग, सेवा, भगवत्कथाश्रवण आदि पूर्व पूर्व में आचरित साधनोंके दृढ़ होने से आगे आगे के उत्तरोत्तर साधन भी स्थिर होते जाते हैं । उनकी निवृत्ति कभी संभव नहीं है । अर्थात् इस प्रकार के अधिकार की प्राप्ति दुर्लभ है । यहां वासुदेव पद से यह कहा गया है कि चित्त के शुद्ध-सत्व से युक्त होते ही उसमें भगवान् का आविर्भाव होता है तथा इसतरह आविर्भूत भगवान् की कथा के श्रवण से तत्काल चित्त में प्रसन्नता का उदय होता है । श्लोकस्थ 'महत्सेवया' में 'महत्' पद से भगवदाश्रित भक्तों का ग्रहण किया गया है और ऐसे भगवदीयों के आश्रय से अथवा उनकी परिचर्या करने से, किरात, हूण, अन्त्यज आदि का भी अंगीकार हो जाता है ।

पुण्यतीर्थ निषेवणात्– यहां पुण्य तीर्थ पद से पुण्यरूप जो तीर्थ हैं, उनका ग्रहण किया है, जैसे कुरुक्षेत्र, गंगा आदि । इनके जल का देवता की तरह सेवन करने से अथवा कभी भी उनकी अवहेलना न करने से, भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न होती है ।।१६।।

आभास : ततः किमत आह—

आभासार्थ : इसके अनन्तर क्या होता है ? उसको कहते हैं–

श्लोक– शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ।।१७।।

श्लोकार्थ— जिनके श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप हैं तथा जो सत्-पुरुषों के मित्र हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कथा का श्रवण करने वालों के हृदय में रहते हुए उनके (भक्तों के) पापों को विदीर्ण कर देते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी— शृण्वतामिति । एतादृशसाधनेनोत्पन्नायां शुश्रूषायां न श्रवणादिनिवृत्तिः कदाचिदपीति शृण्वतामित्युक्तम् । **स्वकथा इति** । स्वरूपभूताः कथाः । स्वीयकथात्वे भगवतः स्वतन्त्रत्वान्न कार्यकरणं सम्भवति । कथाया अपि स्वतो माहात्म्ये तु तयैव वशीकृतः सर्वं कुर्यादिति । एतादृशकथाबाहुल्यं कृष्णावतार एवेति **कृष्ण** इत्युक्तम् । भक्तियोगविधानार्थं चाऽवतारः निरन्तरमुत्पन्नानां पापानां निवृत्तौ नाऽन्यदपेक्ष्यते साधनं किन्तु श्रवणकीर्तनाभ्यामेव भवतीति, शुद्धं हृदयं भगवान्प्रविशतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**पुण्यश्रवणकीर्तन इति** । श्रोतृवक्तृदोषैर्न श्रवणकीर्तने सम्बध्येते अपहतपाप्मत्वात्तयोः । ततश्च श्रवणकीर्तने उत्पद्यमाने पापसामानाधिकरण्ये (?) नोत्पद्येते एव । सूर्योदयसम्भावनायामेव तमोनिवृत्तिवच्छ्रवणसम्भावनायामेव पापनिवृत्तिरित्यर्थः । बहिः स्थितस्याऽन्तः कार्यकरणाऽसम्भवादिच्छामात्रेण तत्करणे लोकानां प्रतीत्यभावेनाऽभजनापत्तेर्दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया असम्भवात्सर्वत्र स्थितस्य क्लेशाऽभावाच्च हृद्यन्तःस्थित एव करोति । हृदये हि केचन पदार्था बहिःस्थिता अपि भवन्ति । केचनान्तःस्थिताः तत्र येषु विस्मरणसम्भावना ते बहिः स्थिताः । प्रकृते भगवतो विस्मरणसम्भावनाऽपि नास्तीत्यन्तःस्थित इत्युक्तम् । तादृशस्य तथा करणमुचितमिति भावः । अभद्राणि कामादीनि । पापस्य पूर्वमेव निवृत्तत्वात् । विशेषेण धूननं शिथिलीकरणम । यथा जलकश्मलवत्पुनर्मेलनं न भवति तथेत्यर्थः । तथाचाऽस्मिन्पक्षे प्रथमश्शृङ्खला स्वसाध्या द्वितीया भगवत्साध्या । तदैव तृतीया स्वस्मिन्भवतीति क्रमेण बोध्यते । कामादीनामशिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यत इति । ननु भगवत एवं करणे को हेतुस्तत्राऽऽह—**सुहृत्सतामिति** । सुहृत् सहकार्यकर्ता । मित्रमिति यावत् । सुहृद्भिः श्रवणाद्युपदेशेन प्रथमपरम्परायां कृतायां द्वितीयां चेद्भगवान्न कुर्यात्तदा मित्रत्वं भज्येतेति ।।१७।।

सुबोधिनी अनुवाद— इस प्रकार के साधनों से भगवत्कथा श्रवण करने की इच्छा के एक बार उत्पन्न हो जाने पर वह कभी निवृत्त नहीं होती और इसीका निर्देश करने के लिये 'शृण्वतां' में वर्तमान काल के सूचक 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है– क्योंकि यह श्रवणक्रिया निरन्तर वर्तमान ही रहती है । स्वकथा का अर्थ है, भगवत्स्वरूपात्मक कथा स्वरूपभूत कथा । स्वकथा का अर्थ 'भगवान् की कथा' करें तो यहां भगवान् की स्वतंत्रता होने से वे श्रोता के हृदय में प्रवेश करें या न भी करें, ऐसी अनिश्चितता से फल की संभावना नहीं रहती, फल मिले भी, न भी मिले, अनिष्ट की निवृत्ति में संशय ही बना रहेगा । तदुपरान्त भगवान् की कथा इस अर्थ से यह

भी सूचित होता है कि कथा का स्वयं में कोई महत्व नहीं। भगवान् से सम्बन्धित होने के कारण उसका महत्व है। अतः स्वकथा का अर्थ है स्वरूप-भूत-कथा। यहां कथा का अपना स्वतन्त्र माहात्म्य होने से भगवान् उस कथा के अधीन रहते हुए सबके अभद्रों का नाश कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कथा में और भगवान् में कोई भेद नहीं– दोनों एक ही हैं।

भगवान् को वश में करने वाली इस प्रकार की कथाओं का बाहुल्य कृष्णावतार में ही है, तदुपरान्त कृष्णावतार मुख्यतः भक्तियोग के विधानार्थ ही है। यह सूचित करने के लिये यहां कृष्ण पद कहा है। निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाले जिन पापों की निवृत्ति में अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, उन पापों की निवृत्ति भगवत्कथा के केवल श्रवण कीर्तन से ही हो जाती है। शुद्धहृदय मे ही भगवान् प्रवेश करते हैं– 'पुण्यश्रवण कीर्तनः' से यही अभिप्राय है। आशय यह है कि श्रोता तथा वक्ता के दोष युक्त होते हुए भी श्रवण-कीर्तन कभी दोषयुक्त नहीं होते, पुण्य रूप ही रहते हैं। क्योंकि श्रवण-कीर्तन भगवान् की तरह ही अपहत-पाप्मा पुण्यरूप ही हैं। श्रवण कीर्तन के होते हुए पाप रहते ही नहीं। सूर्योदय की संभावना से ही जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार श्रवण कीर्तन की संभावना होते ही पाप की निवृत्ति हो जाती है।

बहिःस्थित भगवान् का हृदय के भीतर कार्य करना असम्भव है। यदि इच्छा मात्र से हृदय में भी भगवान् पापनिवृत्ति कर दें तो भगवान् ने ही यह पाप-निवृत्ति की है, ऐसी प्रतीति न होने के कारण भगवद् भजन में कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, जब तक प्रत्यक्ष संभव हो तब तक अप्रत्य की कल्पना करना उचित नहीं। सर्वत्र अन्तस्थित रहने के कारण भगवान् को पाप मिटाने में किसी प्रकार का क्लेश भी नहीं करना पड़ता। इसलिये हृदय में स्थित् भगवान् ही भगवत्कथा श्रवण संभावना मे ही पापों की निवृत्ति कर देते हैं हृदय मे बाहर के भी कितने ही पदार्थ होते हैं। कई पदार्थ अन्तःस्थित ही हैं। इनमें जिन पदार्थों के विस्मरण की संभावना हो उनको बहि– स्थित समझना– यहां तो भगवान् अन्तःस्थित हैं अतः उनके विस्मरण की संभावना ही नहीं और इसलिये यहां हृदय के भीतर स्थित भगवान् 'अन्तःस्थितः' यह पद कहा है। तदनुसार अन्तः स्थित भगवान् पाप का नाश कर देते हैं यह कथन उचित है।

यहां अभद्र पद से काम, अविद्या और कर्म लिये गये हैं, पाप नहीं लिया गया– क्योंकि पाप तो श्रवण कीर्तन की संभावना मे ही निवृत्त हो चुका होता है। हृदय– स्थित भगवान् स्वभक्त के काम, अविद्या, कर्म आदि को विशेष रूप से मंथन करके इतना शिथिल बना देते हैं कि– जल में विष की तरह इनका पुनः मिलन आगमन नहीं हो सकता (अर्थात् जिस तरह भगवान्

ने समुद्र को मथ कर उसको इतना निर्विष कर दिया कि विषय पुनः समुद्र में नहीं मिल सकता, उसी तरह भगवान् स्वकीय भक्त की अविद्यादि को मथ कर एक बार जब दूर कर देते हैं तब वह फिर कभी भी भक्त में अपनी स्थिति नहीं कर सकते।)

'शुश्रूषो श्रद्दधानस्य' इस सोलहवें श्लोक से कही गई साधन-परंपरा रूप प्रथम शृंखला स्वसाध्य अर्थात् भक्तसाध्य है तथा शृण्वतां स्वकथा श्लोक से कही गई कामादि की निवृत्ति रूप द्वितीय शृंखला भगवत् साध्य है। इन दोनों शृंखलाओं के सिद्ध होने पर नष्टप्रायेष्वभद्रेषु-इस श्लोक से कही गई तृतीय शृंखला का सम्बन्ध भक्त से है- वह भक्त में होती है। इस तरह यहां पूर्वोक्त तीनों श्लोकों से १६, १७, १८ से यथाक्रम तीनों शृंखलायें बतायी गयी हैं। जब तक काम, अविद्या तथा कर्म शिथिल नहीं होते, तब तक भक्ति का उदय नहीं होता।

यहां शंका करते हैं, कामादि को शिथिल करने में भगवान् का क्या हेतु है उसके उत्तर में कहते हैं कि- 'सुहृत्सताम्' भगवान् सत्पुरुषों के सुहृद हैं, अर्थात् उनके साथ कार्य करते हैं, सुहृत् सहकार्यकर्ता- भगवान् सत् पुरुषों के मित्र हैं। श्रवणादि के उपदेश पूर्वक भगवदीय सुहृदों द्वारा प्रथम परम्परा के सिद्ध किये जाने पर शृण्वतांस्वकथा से कही गई द्वितीय परम्परा को यदि भगवान् सिद्ध पूर्ण नहीं करते तो मैत्री भंग का प्रसंग उपस्थित हो जाता हैं।१७।

आभास : धुतेषु कामादिषु यत्स्यात्तदाह—

आभासार्थ- कामादि के शिथिल होने पर जो फल होता है उसे कहते हैं-

श्लोक- नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।१८।।

श्लोकार्थ- कामादि अभद्रों के नष्टप्राय हो जाने पर नित्य ही भगवत्कथा सुनने से भगवद् भक्तों की सेवा एवं उनकी कथा से उत्तम श्लोक भगवान् में स्थिरभक्ति होती है ।।१८।।

सुबोधिनी—नष्टप्रायेष्विति। धुता एव कामादयो न नाशिता इति क्वचित्क्वचित्तेषां सत्त्वं प्रतीयते। श्रवणे आग्रह इव प्रतिबन्धे क्रोध इव सत्सङ्गे लोभ इवेत्यादि बोधयितुं प्रायग्रहणम्। तथाच तेषां प्रतिबन्धकत्वाभावाद्भगवत्कथाया नित्यं श्रवणम्। भगवद्भक्तानां च सेवनं च नित्यं भवतीत्याह—**नित्यमिति**। पूर्वं कथायाः श्रवणमेव। इदानीं देववत्सम्भावनमिति सेवार्थः। एवं कथायां क्रियमाणायां भगवति परमप्रेमोत्पद्यत इत्याह—**भगवतीति**। अत्र सर्वत्र भगवच्छब्देन शुद्धं

परं ब्रह्मोच्यते ! **उत्तमश्लोक इति** । उत्तमैः श्लोक्यत इति, उत्तमा वा श्लोका यस्येति । सद्भिः कथया च सहिते भक्तिर्भवतीत्यर्थः । ततश्च जातायामपि भक्तौ सन्तः कथाश्च न त्यज (?) न्त इति भावः । महताऽपि बाधकेनाऽचलनं निष्ठा । निष्ठां प्राप्ता नैष्ठिकी । तदा हि कालाद्युपद्रवा न स्फुरिष्यन्तीत्यर्थः ।।१८।।

सुबोधिनी अनुवाद—कामादि शिथिल हो जाते हैं किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता । कहीं कहीं उनकी सत्ता प्रतीत होती है । जैसे- भगवत्कथा श्रवण में, आग्रह के रूप में, श्रवणादि में विघ्न आने पर, क्रोध के रूप में, सत्संग आदि में, लोभ के रूप में, इस तरह अमुक रूप में कामादि सत्ता की प्रतीति का निर्देश करने के लिये नष्टप्रायेषु में प्रायः शब्द कहा है । यहां ये आग्रह क्रोध लोभ में आदि स्वरूप से लौकिक कामादि रूप नहीं है तथापि उनमें भगवद् सम्बन्धी कामादि की प्रतीति मात्र होती है और उसी का निर्देश सुबो० ने 'इव' शब्द से किया है । यहां 'इव' श्लोकस्थ प्रायः का तात्पर्यार्थ रूप है । इसलिये यहां भगत्सम्बन्धी ये कामादि विघ्नरूप नहीं होने के कारण कथा का श्रवण नित्य होता है और भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का सेवन भी निरन्तर होता रहता है इसी का निर्देश यहां नित्यं पद से किया गया है । इससे पूर्व तो कथा का श्रवण मात्र किया जाता था किन्तु संप्रति श्रोता मात्र श्रवण ही नहीं करता किन्तु भगवत्कथा का भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का देवता की तरह समादर भी करता है । यहां सेवा पद का यही तात्पर्य है । इस तरह भगवत्कथा करते रहने से भगवान् के प्रति (उत्तरोत्तर) परम प्रेम उत्पन्न होता है । अर्थात् भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति होती है । यहां सर्वत्र भगवान् शब्द से शुद्ध परब्रह्म लिये गये हैं । भगवान् उत्तम श्लोक हैं उत्तमैःश्लोक्यते, उत्तम पुरुष भगवान् की स्तुति करते हैं । इसलिये उनकी संगति करने से, स्तुति श्रवण का लाभ मिलता है । परिणामतः भक्तिभाव में अभिवृद्धि होती है । भगवान् उत्तम कीर्तिवाले हैं उतमा श्लोका यस्येति- इस प्रकार विग्रह करने से यह अर्थ निकलता है कि केवल भगवान् में ही भक्ति नहीं होती, किन्तु सत्पुरुषों और कथा सहित भगवान् में भक्ति होती है इस तरह भक्ति उत्पन्न होने पर भक्तजन सत्पुरुषों का एवं कथा का त्याग कभी नहीं करते । महान् विघ्न आने पर भी स्थिर रहने का नाम निष्ठा है । इस प्रकार की निष्ठा को प्राप्त नैष्ठिकी भक्ति जब उत्पन्न होती है तब भक्त को काल, कर्म स्वभाव आदि से उत्पन्न उपद्रवों की स्फूर्ति लेश मात्र भी नहीं होती – ऐसा तात्पर्य है ।।१६।।

आभासः— एतावत्पर्यन्तं पुरुषप्रयत्नः । अग्रिमं स्वयमेव भवतीत्याहत **देति** त्रिभिः—

आभासार्थ- यहां तक इतना प्रयत्न पुरुष को करना पड़ता है इससे आगे जो कुछ घटित होता है वह स्वयं ही हो जाता है और इसी का निरूपण तीन श्लोकों से करते हैं –

श्लोकः— **तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये**
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।।१६।।

श्लोकार्थं— तब रजोगुण तथा तमोगुण के धर्म जो काम-लोभ आदि हैं उनसे अनाविद्ध चित्त, सत्व में स्थित होता हुआ प्रसन्न हो जाता हैं।।१६।।

सुबोधिनी— तदा तु चित्तस्य स्वरूपं नश्यति । त्रिगुणात्मकं हि तत् । तथाच स्वस्वकार्यं गुणाः कुर्वन्त्येव । तथाच तद्धृदयं कदाचिदपि भगवदासनं न भवति । यदा पुना रजस्तमसोः कारणभूतयोः सत्त्वता भवति । यथा स्पर्शमणिस्पर्शे ताम्रलोहयोः सुवर्णता भवति । तथाच त्रिभिर्निर्मितं पात्रं सर्वं सुवर्णं भवति । तथा भक्त्या स्पृष्टं चित्तं सर्वं सत्त्वं भवति । रजस्तमोभावाः कामक्रोधादयः कामलोभादयश्च मिश्रसत्त्वभावाश्चकारान्मिश्रा अन्येऽपि भावास्ते तटस्थतया निर्दिष्टाः । ये च प्रसिद्धा मोहादयस्तान्सर्वान्गतगृहानिव निर्दिशति । अत एव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः । ननु ते आगन्तुकत्वं प्राप्ता अपि पूर्वं वासनया कथं चित्तेन न सम्बध्यन्ते ? इत्यत आह—**चेतइति** । एते हि सूत्ररूपा मूलगुणसूचिव्यतिरेकेण न वेधनसमर्थाः । अत एतैरनाविद्धं चित्तं स्थितं भवति । तदा लयावस्थां प्राप्नुवदपि चित्तं निरन्तरोत्पन्नभक्त्यनुरोधेन तस्याः स्थानभूत—सत्वनिमित्तं भगवदावेशेन प्रसीदति । प्रसादो हि तेन कार्यकर्तृणां सर्वकार्यसिद्धिहेतुः प्रकाश-विशेषः ।। १६ ।।

सुबोधिनी अनुवाद—चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । भगवद्भक्ति से चित्त के इस स्वरूप की निवृत्ति हो जाती है । चित्त का त्रिगुणात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है । जब तक चित्त मे सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं तब तक ये गुण अपना अपना कार्य करते रहते हैं और तब तक हृदय भगवान् के योग्य आसन नहीं बनता । चित्त में स्थित काम, लोभ के कारणभूत रजोगुण तथा तमोगुण जब पुनः सत्त्वरूपता में परिणत हो जाते हैं तब भगवान् हृदय को अपना आसन बनाते हैं, जिस तरह स्पर्शमणि के स्पर्श से ताम्र, लोह तथा स्वर्ण का पात्र, केवल स्वर्णमय बन जाता है उसी तरह भक्ति के स्पर्श मात्र से त्रिगुणात्मक चित्त संपूर्णतया सत्व रूप हो जाता है । चित्त जब भक्ति के स्पर्श से केवल सत्वमय बन जाता है तब रजोगुण के तथा तमोगुण के जो काम-क्रोधादि तथा काम लोभादि भाव हैं तथा जो सत्त्व मिश्रित भाव हैं, इसी तरह यहां चकार से ग्रहण किये गये अन्य प्रकार के भी जो मिश्र भाव हैं और जिनका तटस्थ रूप से निर्देशकिया गया है वे सभी निवृत्त हो जाते हैं । रजोगुण तथा तमोगुण के जो सर्वविदित मोहादिभाव हैं उनकी सत्ता नष्ट हो

जाती है। भक्ति के स्पर्श से रजोगुण तथा तमोगुण रूप गृह के नष्ट हो जाने पर इनके मोह आदि धर्म, घरबार विना के हो जाते हैं मोहादि के निवास स्थान रजोगुण तथा तमोगुण ही जब नहीं रहते तो फिर घर विना ये मोहादि कहा रहेंगे ? अर्थात् " न भवन्ति " नहीं रहेंगे – और इसी से श्लोक के पूर्वार्ध मे भवन्ति क्रिया का सम्बन्ध नहीं है " अतएव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः।"

यहां यह शंका होती है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आगन्तुक धर्म होते हुए भी पूर्व की वासना के विद्यमान होने के कारण चित से पुनः सम्बद्ध क्यों नहीं हो सकते ? इसके समाधान में कहते हैं कि "चेत एतैरनाविद्धम्" ये काम क्रोध आदि सूत्र रूप हैं तथा मूलभूत रजोगुण तमोगुण सुई रूप हैं। मूल गुणभूत सूची के विना सूत्र काम क्रोध आदि चित्त वेधन करने में असमर्थ हैं अर्थात् चित्त से पुनः सम्बन्ध नहीं कर सकते। इन भावों से अनाविद्ध चित्त स्थित हो जाता है। तब लयावस्था को प्राप्त होते हुए भी उस चित्त में निरन्तर उत्पन्न होने वाली भक्ति के अनुरोध से भक्ति के स्थानभूत सत्त्व के लिये भगवान् का आवेश होता है और इस आवेश से चित्त प्रसन्न रहता है। ऐसे प्रसाद से सम्पन्न चित्त द्वारा कार्य करने वालों को उनकी कार्यसिद्धि में हेतु भूत प्रकाश विशेष की प्राप्ति होती है। प्रसाद वह प्रकाश विशेष है जो प्रसाद से युक्त जीवों की कार्य सिद्धि में हेतु बनता है ॥१९॥ (१)

आभासः— तेन यज्जातं तदाह–

आभासार्थ– चित्तप्रसाद से जो फल मिलता है उसे कहते है।

श्लोकः– एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥ २० ॥

श्लोकार्थ— इस प्रकार प्रसन्न मन वाले मुक्त संग को भगवद् भक्ति के योग से भगवान् का तत्त्व अर्थात् करामलकवत् ज्ञान हो जाता है। ॥ २० ॥

सुबोधिनी — एवमिति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थिरसाधनपरम्परया प्रसन्नं मनो यस्य। मनसः सत्त्वात्मकत्वे " **सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि**" ति सर्ववस्तूनां तत्त्वज्ञानं भवति। न तु भगवत्स्वरूपज्ञानम् तस्य गुणातीतत्वेन गुणकार्यगम्यत्वाभावात्। अत आह– **भगवद्भक्तियोगत इति**। अन्तःकरण प्रसादो भक्त्यर्थमेव तु भगवज्ज्ञानम्। " **भक्त्यै मामभिजानाती** " ति वाक्यात्।

---

(१) श्री आनन्दीलालजी का अमुक भाग यहां नहीं लिया गया है।

तत्त्वपदे नयावानि त्याद्यर्थः परिगृहीतः। विपदेन करतलामलकज्ञानवज्ज्ञानविशेषो विवक्षितः। अत्र संन्यासोऽप्यङ्गत्वे नाऽपेक्ष्यत इत्याह**मुक्त-सङ्गस्येति**। अन्तर्बहिःसङ्गनिवृत्तिः। "**विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशस्तु दूरत**" इति न्यायेन परित्यागव्यतिरेकेण न भगवदावेशः। अतो न साक्षात्कार इति संन्यासस्य कारणत्वम् ॥ २० ॥

सुबोधिनी अनुवाद— पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार स्थिर साधनों की परम्परा से प्रसन्न हो गया है मन जिसका - एवं प्रसन्नमनसः - मन जब सत्त्वात्मक बन जाता है तब सर्व वस्तुओं का तत्त्व ज्ञान हो जाता है - सत्त्वात्संजायतेज्ञानम् - किन्तु भगवद् स्वरूप का ज्ञान नहीं होता क्योंकि भगवान् गुणातीत हैं अतः सत्वगुण का कार्य जो ज्ञान है उससे भगवान् गम्य नहीं हैं। इसीलिये यहां भगवद्-भक्ति-योगतः यह कहा गया है। अंतः करण की प्रसन्नता भक्ति से होती है और भक्ति से ही भगवान के स्वरूप का ज्ञान होता है - भक्त्यामामभिजानाति - वाक्यका यही अभिप्राय है कि भगवान् का स्वरूप जैसा है और जितना है उसका ज्ञान भक्ति से ही संभव है। गीता के "यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" से जो बात कही गई है वही प्रस्तुत श्लोक के तत्त्व पद से स्पष्ट की गई है। विज्ञान में वि - पद उस ज्ञान-विशेष के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा "करामलकवत् ज्ञान" के समान ही ज्ञान की निष्पत्ति हो जाये। भगवत्स्वरूप के ज्ञान में संन्यास भी अंश रूप में अपेक्षित है इसी अभिप्राय से श्लोक मे मुक्तसंग ऐसा कहा है। उसे ही यह ज्ञान होता है जो भीतर तथा बाहर "संग" से विषयों से मुक्त है - विषयों से आविष्ट चित्त वाले से भगवान विष्णु का आवेश बहुत दूर रहता है इस न्याय के अनुसार विषयों के परित्याग के विना संन्यास के विना भगवद् आवेश नहीं होता और भगवद् आवेश के विना भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। इसीलिये भगवत्साक्षात्कार में संन्यास कारण माना गया है।

आभासः— एवं विज्ञाने जाते यत्फलं तदाह—

आभासार्थः— इस प्रकार भगवान् का सर्वथा ज्ञान होने पर जो फल होता है वह कहते हैं

श्लोकः— भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि दृष्ट एवाऽऽत्मनीश्वरे ॥२१॥

श्लोकार्थं— ईश्वर ही मेरी आत्मा है, ऐसा अनुभव करने वाले के हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सभी संशयों का छेदन हो जाता है और उसके कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

सुबोधिनी— भिद्यत इति। चिदचिद्ग्रन्थिरविद्याकार्यम्। तज्ज्ञानेन निवर्तते। "**यस्मिन्**

ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती" ति सर्ववस्तूनां याथार्थ्यज्ञाने सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते । मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ कर्मबीजं प्ररोहति, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायामिति कर्माण्यपि क्षीयन्ते । एतत्सर्वं न येन केनाऽपि प्रकारेण जातज्ञानकार्यं, किन्तु ब्रह्मात्मैक्यानुभवकार्यमित्याह— **दृष्ट एवेति** । आत्मत्त्वेन भगवदनुभवे । नाऽन्यथेत्त्येवकारार्थः । आत्मनो ह्यनीश्वरत्वेन जाताःपदार्था ईश्वरत्वेन निवर्तन्ते । अन्यस्येश्वरत्वे ज्ञातेऽपि न ह्यन्यस्येश्वरत्वाज्ञानं स्वस्य संसारहेतुर्भवति ॥२१॥

सुबोधिनी अनुवाद— चिद् और अचिद् ग्रंथियां अविद्या से होती हैं । इसकी निवृत्ति भगवद् ज्ञान से हो जाती है । यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति - इसके अनुसार भगवान् के जान लेने पर यह सभी वस्तु यथार्थ रूप से ज्ञात हो जाती है । जब सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सर्व संदेह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म बीजों का पुनः प्ररोह नहीं होता । मिथ्या ज्ञान रूपी जल से सिंचित आत्म-भूमि । (अंतःकरण) में कर्मबीज अंकुरित होता है, उगता है । अर्थात् कर्मों का नाश नहीं होता । और जब ज्ञान रूपी धूप से जिसका जल निःशेष रूप से सुखा दिया गया है ऐसे ऊषर-भूमि-रूप अंतःकरण में कर्म बीजों का प्ररोहण नहीं होता, कर्म बीज नष्ट हो जाते हैं । यह सब कुछ सामान्य ज्ञान से ऐसे वैसे उपार्जित ज्ञान से, नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्म मेरी आत्मा है इस प्रकार के ऐक्यानुभव से सिद्ध होता है और यही बात " दृष्टएवात्मनीश्वरे " इस पंक्ति से कही गई है । भगनान् ही मेरी आत्मा है । ऐसा अनुभव होने पर ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है अन्यथा नहीं ही - और इसी अभिप्राय से श्लोक में निश्चयात्मक " एव " का प्रयोग किया गया है । यहां यह कहा जा सकता है-जिस तरह विद्या से, अविद्या का उपमर्द होता है, उसी तरह अविद्या से विद्या का भी उपमर्द हो सकता है । ऐसी आशंका में यह कथन है कि ब्रह्म ही मेरी आत्मा है - ऐसा न समझने पर ऐश्वर्य आदि भगवद् धर्म तिरोहित हो जाते हैं, तब अविद्या से बंध और विपरीत ज्ञान होते हैं । " ब्रह्म मेरी आत्मा है " ऐसा अनुभव होने पर ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकट होते हैं तथा बंध और विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं । ईश्वर मेरी आत्मा है - ऐसा न मानने पर उत्पन्न हुई चिद्-अचिद् ग्रंथि रहती है तथा भगवान् को आत्मा मानने पर यह ग्रंथि निवृत्त हो जाती है । देहेन्द्रिय आदि को आत्मा मान लेने पर यह भी आत्म-ग्रंथि नहीं मिटती । यदि देहेन्द्रिय आदि में ईश्वरत्व का ज्ञान नहीं होता तो भी उससे आत्मा को संसार की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसे यह ज्ञान हो चुका है कि " आत्मा ही भगवान् " है ।

आभास— एवं सर्वप्रकरणार्थं निरूप्य कुत्र पुरुषप्रयत्नः पर्यवसित इति सन्देहे प्रयत्नविषयमाह—

आभासर्थ— इस तरह सर्व प्रकरण के अर्थ का निरूपण करके - " पुरुष-प्रयत्न पर्य-

वसान कहां होता है" ? यह संदेह होने पर प्रयत्न विषय में कहते हैं–

श्लोक– अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।। २२ ।।

श्लोकार्थ– इसलिये शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग परम-हर्ष के साथ अन्तःकरण को प्रसन्न करने वाली भगवान् वासुदेव की भक्ति करते हैं ।। २२ ।।

सुबोधिनी—अतो वै कवय इति । शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूते भगवति परमप्रेम कर्तव्यमिति प्रयत्ननिष्कर्षः । तेन भगवत्प्रसादः अन्तःकरणे भगवत्साक्षात्कारो वेति फलम् । वै निश्चयेन । स्वस्यैवं निश्चयः । कवयः शब्दतात्पर्याभिज्ञाः । शब्दबलविवेकादेवमर्थप्रत्यय इति भावः । साधनस्य सुखात्मकत्वादपि सदा भक्ति कुर्वन्ति । क्षणे क्षणे (?) प्रतिक्षणं भगवदाविर्भावेन परमा मुच्चोत्पद्यते । विषयस्तु सत्त्वगुणाऽऽविर्भूतः । भक्तिश्च ज्ञानजनिका प्रयत्नश्च भक्तौ साधनत्वेनेति शब्दवलविवेकश्चेति प्रथमाधिकारः ।।२२।।

सुबोधिनी अनुवाद—शुद्ध सत्वात्मक अंतः करण में आविर्भूत भगवान् में परम प्रेम करना चाहिये और इसी में पुरुष प्रयत्न का पर्यवसान है । इससे भगवत्प्रसाद अथवा अंतःकरण में भगवत्साक्षात्कार रूप फल मिलता है । 'वै' का अर्थ है निश्चयपूर्वक-सूत को इस बात का निश्चय है ।

'कवयः'– अर्थात् शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग जिन्हें शब्द-बल-विचार से ही उपर्युक्त अर्थ का ज्ञान है । शब्द तात्पर्य के ज्ञाता को ही शब्द-बल-विवेक से इस प्रकार के अर्थ का निश्चय होता है । इतना ही नहीं भक्ति के साधन सुखरूप हैं, ज्ञान और कर्म के साधनों की तरह क्लेशप्रद नहीं हैं– इसलिये भी कविलोग सदा भक्ति करते हैं अर्थात् क्षण-क्षण में भक्ति करते हैं और इस तरह प्रतिक्षण भगवान् के आविर्भाव से परम हर्ष उत्पन्न होता है । सत्वगुण से आविर्भूत सत्वमूर्ति भगवान् यहां भक्ति के विषय हैं । भक्ति ज्ञान की जननी है, शब्द बल का विचार तथा पुरुष-प्रयत्न भक्ति में साधन रूप है । इस सब में सम्पन्न व्यक्ति का भक्ति में प्रथमाधिकार माना जाता है ।।२२।।

आभास : तत्र विषये यन्देहः—कोऽयं नियमः सत्त्वमूर्ताविव भक्तिः कर्तव्येति । रजस्तमोमूर्तावपि भक्तिकरणं ब्रह्मत्वाज्ज्ञानसाधकम् । तथाच विष्णुभक्तिवच्छिवादिभक्तिरपि ज्ञानसाधिका । ब्रह्मणस्तुल्यत्वादित्याशङ्क्य तत्र निर्धारमाह पञ्चभिः **सत्त्वमित्यादिभिः**—

आभासार्थ- पूर्वश्लोक 'अतो वै कवयोनित्यम' में, सत्वमूर्ति भगवान् को भक्ति का विषय कहा है । यहां संदेह होता है कि सत्वगुण मूर्ति भगवान् की ही भक्ति करनी चाहिये- यह क्या कोई नियम है ? रजोगुण मूर्ति ब्रह्मा में तथा तमोगुण मूर्ति शिव में भी भक्ति करने से - इनकी ब्रह्मरूपता के कारण ज्ञान सिद्ध होता है । तदनुसार विष्ण भक्ति की तरह शिव भक्ति भी ज्ञान की साधिका है । क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीनों में ही ब्रह्म की तुल्य रूपता है । ऐसी आशंका में यहां "सत्त्व रजस्तम" इत्यादि पांच श्लोकों से निर्णय देते हैं ।

श्लोक- सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ।।२३।।

श्लोकार्थ- सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं । इनसे युक्त एक परब्रह्म - पर:पुरुष ही यहां जगत की स्थिति, उत्पत्ति और संहार के लिये हरि ब्रह्मा और शिव नाम संज्ञा-धारण करता है किन्तु उनमें मनुष्यों को शुभ फल सत्त्वगुण मूर्ति विष्णु हरि से ही प्राप्त होता है ।।२३।।

सुबोधिनी- ब्रह्मणोऽपि, विशेषत्वाभावेऽप्युपाधिवैशिष्टयेन फलवैशिष्टयम् । न तु चैतन्यस्वरूपं भिद्यते केषाञ्चिद्वैष्णवानां मत इव । तेऽपि गुणा न ब्रह्मणः । तथा सत्युच्चावचगुणजनकत्वेन स्वरूपमपि विलक्षणं स्यात् । कार्यवशात्तथाऽपेक्षायां न दोषः । एकस्यैव स्नानभोजनान्तःपुरकार्यदर्शनात् । ननु पुरुषस्त्रिगुणः । तस्माद्गुणप्रेरणया तत्तत्कार्यकरणं सम्भवति । प्रकृतेऽपि तथा चेद्गुणान्तरपरम्परया अनवस्था स्यात् । तथाच क्वचित्सहजो गुणसम्बन्धो वक्तव्यः । तथा सति स्वरूपमपि भिद्येतेति चेत् ? अत्र हि बहवो वादिनः पृथक्पृथङ्निरूपयन्ति । साङ्ख्यास्तु नित्यसम्बन्धं प्रकृतेराहुः । अन्ये तु नास्त्येव सम्बन्धः । भ्रमादेव प्रतीयत इत्याहुः । भागवतसिद्धान्ते तु भगवति सहजं कर्तृत्वम् । तत्र किञ्चिद्रूपंप्रकृतिपुरुषविभेदेन द्विरूपत्वमापद्यते । तथा भौतिकनिर्माणे भूतापेक्षा, न भूतनिर्माणे, तथा प्राकृतनिर्माणे करणत्वेन प्रकृत्यपेक्षा । नैतावता स्वरूपे भेदा दोषा वा सम्भवन्तीत्येक एव पुरुषः । अस्य जगतउत्पत्तिस्थितप्रलयार्थं गुणत्रयमाददानः पर एव पुरुषो ब्रह्मभूतः—**हरिविरञ्चिहरेति**—**"सर्वोद्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति"** इति न्यायेन संज्ञात्रयं धत्ते । सुपां सुलुगिति लुग्वा । इतिशब्दो वा द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः सर्वत्राऽपि सम्बध्यते । संज्ञायाः स्वरूपमात्रत्वान्न प्रत्ययोत्पत्तिः । यथा देवदत्तेतिसंज्ञा । इतिशब्दः प्रकारार्थश्च । तेन अन्या अपि संज्ञा एकस्य बह्वयः सन्तीत्यर्थः । तथाचैते गुणा कार्यार्थं करणत्वेन गृहीता अपि निरन्तरग्रहणादुपाधिरूपा जाताः । तेन यद्भजनं तदुपाधावेव पर्यवसितम्भवतीति सत्त्वोपाधिरेव सेव्य इत्यभिप्रायेणाऽऽह —**श्रेयांसीति** । तत्रैवं निर्णयः । सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति, स्वस्याऽपि तादृशं रूपं

सम्पादयति। साधनानि च तानि यद्यप्यपहतपाप्मानं भगवन्तमन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति, तथापि जीवमन्यथा कुर्वन्त्येव। ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा नाऽन्यथाभावस्तादृशरूपवानेवेश्वरः सेव्यः। नाशशङ्काऽभावात्। यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिर्नोपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित्सेवायामपि न काचिच्चिन्ता। यथा ब्रह्मविदः। "**तं यथा यथोपासत**" इत्यत्र तथा निर्णयात्। श्रेयांसि शुभफलानि। तत्र भजनीयरूपेषु। खल्विति सम्मतिः। सोपपत्तिका सा निरूपिता। सत्त्वतनोरिति तनुशब्दाद्दृढोपाधित्वमुक्तम्। नृणां साधारणजीवानाम्। नियतानां तु तेन सहोपाधिरिति सर्वं सुस्थम् ॥२३॥

सुबोधिनी अनुवाद–यहां उक्त संदेह उचित नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिये यहां श्री-सुबोधिनी में-"ब्रह्मणोऽपि" में "अपि" शब्द कहा है। ब्रह्म में गुण विशेष का अभाव होने पर भी गुणरूप उपाधि की विशेषता के कारण फल में विशेषता वैशिष्ट्य रहती है। अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और शिव यद्यपि समान रूप से परब्रह्म हैं तथापि सत्त्व, रज तथा तम की उपाधि से युक्त होने के कारण फल में विशेषता है। ये देवता गुणों के अंगभूत नहीं हैं तथापि गुणों से युक्त होने के कारण उन उन गुणों की उपाधि वाले देवताओं की सेवा पूजा से फल में तारतम्य होता है। अमुक माध्व वैष्णवों के मत की तरह यहां चैतन्य-स्वरूप भिन्न नहीं है, (१) अर्थात् माध्व वैष्णव मत में ब्रह्मा तथा शिव में जीवत्व मानते हैं किन्तु यहां जीवत्व नहीं माना गया।

सत्त्व, रज तम ये गुण परब्रह्म के नहीं हैं-यदि ये गुण ब्रह्म के माने जायें तो ऊंचे नीचे गुणों को उत्पन्न करने के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी विलक्षण हो जायेगा। यदि कार्यवश वह इन गुणों को धारण करता है तो कोई दोष नहीं-आता जैसे एक ही व्यक्ति स्नान, भोजन, अंतःपुर का कार्य करता है तो भी उसमें भिन्नता नहीं आती, उसी तरह इन गुणों को किसी कार्य के लिये धारण करने से ब्रह्म में कोई वैलक्षण्य नहीं आता। यहां चैतन्यस्वरूप को भिन्न पृथक् मानने वाले शंका करते हैं कि शरीर में रहने वाला पुरुष त्रिगुण से युक्त है, इसलिये इन गुणों की प्रेरणा के अनुसार उन उन कार्यों को करना संभव है। इसके उत्तर में यह कथन है कि यदि यह मान लिया जावे, तो इन गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुण भी मानने पडेंगे और फिर इन अन्य गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुणों को मानने पडेंगे ऐसी अवस्था में अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा। इसलिये यह तो कहना ही होगा कि कहीं सहजगुणों का सम्बन्ध है। यदि सहज गुणों का सम्बन्ध मान लें तो फिर स्वरूप भी भिन्न हो जायेगा अर्थात् एक तरफ

---

(१) अमुक वैष्णवाचार्यों के मतानुसार चैतन्य स्वरूप भिन्न है यहां पर भिन्नता नहीं मानी जाती।

सहज गुणों का सम्बन्ध तथा दूसरी तरफ निर्गुण स्वरूप- ये दोनों पृथक् पृथक् हो जायेगे-इस शंका के उत्तर में, यहां यह जान लेना चाहिये कि इस विषय में बहुत से वादियों ने अपने अपने मत का भिन्न भिन्न रूप से प्रतिपादन किया है। सांख्य मतानुयायी प्रकृति का पुरुष से नित्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः पुरुष निर्गुण हो ही नहीं सकता। पुरुष में कर्तव्य आदि धर्म, प्रकृति के सम्बन्ध से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पुरुष में कर्तव्य नहीं है इसी पुरुष को सांख्यमतानुयायी ईश्वर मानते हैं। पांतजल और मायावादी कहते हैं कि प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध है ही नहीं। प्रकृति का सम्बन्ध काम से प्रतीत होता है। इस भ्रांत प्रतीति से ही ब्रह्म में कर्तव्य आदि का आरोप किया जाता है।

भागवत सिद्धांत है कि प्रकृति सम्बन्ध विना ही भगवान् में सहज कर्तव्य है। इसी शुद्ध ब्रह्म से कुछ न्यून, इसी का रूप अक्षर ब्रह्म है और यह अक्षर-ब्रह्म ही प्रकृति पुरुष विभेद से द्विरूपता को प्राप्त होता है। जैसे मौलिक शरीर के निर्माण में पंचमहाभूत अपेक्षित होते हैं, किन्तु पंचमहाभूत के निर्माण में पंचमहाभूत की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्राकृत जगत् के निर्माण में कारण रूप से प्रकृति की अपेक्षा है– किन्तु प्रकृति के निर्माण में स्वयं प्रकृति कभी कारण रूप नहीं होती और इसो से स्वरूप में भेद की तथा दोनों की सम्भावना ही नहीं है। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के लिये तीनों गुणों को ग्रहण करने वाला परपुरुष एक ब्रह्म ही है। जैसे एक ही द्वन्द्व समास, समाहार द्वन्द्व और इतरेतर द्वन्द्व कहा जाता है उसी तरह वह एक परः पुरुष ब्रह्म ही विष्णु-ब्रह्मा तथा शिव तीनों नाम धारण करता है। इसी का निर्देश यहां 'हरिविरंचिहरेति संज्ञा' से किया गया है। 'हरि-विरंचि-हर' यहां समाहारद्वन्द्व है और 'सुपांसुलुगूं इतिलुक्' सूत्र के अनुसार 'सु' का लोप हो गया है अथवा द्वन्द्व समास के अन्त में आने वाले इति शब्द का सर्वत्र सम्बन्ध होता है (हरीति, विरंचीति, हरेति– इस तरह इति शब्द यहां प्रत्येक संज्ञा के साथ सम्बन्धित है।) यहां प्रत्येक संज्ञा (नाम) स्वरूप मात्र का परिचय कराती है इसलिये व्याकरण के नियमानुसार अर्थवत्व न होने से 'हरिविरंचि हरेति' में प्रत्यय नहीं लगाया गया जैसे देवदत्तेति– संज्ञा कही जाती है। यहां इति शब्द प्रकारार्थ भी है इसलिये यहां एक ही ब्रह्म की– इन तीनों संज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी संज्ञायें हैं। यहां इति शब्द से यह भी सूचित किया गया है।

ब्रह्म ने यद्यपि सत्व, रज, तम इन गुणों को घट निर्माण में दण्ड की तरह साधन रूप से करण से ग्रहण किये हैं तथापि निरन्तर ग्रहण करने से ये ही गुण उसके उपाधिरूप हो गये हैं। अर्थात् यही ब्रह्म, सत्व गुणोपाधिक विष्णु, रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा तथा तमोगुणोपाधिक शिव

कहा जाने लगा। तदनुसार जिस उपाधि विशिष्ट देवता का भजन करने में आयेगा उस देवता की उपाधि विशेष में ही भजन का पर्यवसान होगा। इसीलिये सत्वगुणोपाधि विष्णु ही सेव्य हैं, इस तरह यहां कहा गया है– "श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः"।

वहां निर्णय इस प्रकार है कि सेवक के सेव्य जिस रूप को देखता है अपने लिये भी उसी रूप का सम्पादन करता है, अर्थात् विष्णु की भक्ति करने वाले का रूप विष्णु के गुणानुरूप होगा, इसी तरह ब्रह्मा अथवा शिव की भक्ति करने वाले का रूप ब्रह्मा अथवा शिव के गुणानुरूप होगा। भगवान् अपहत-पाप्मा है इसलिये जीव द्वारा आचरित ये भजनादि साधन यद्यपि भगवान् को अन्यथा करने में– समर्थ नहीं हैं फिर भी जीव को तो वे अन्यथा कर ही देते हैं अर्थात् सेवक के रूप को बदल देते हैं। अतः अपने जिस रूप से अथवा उसकी प्रसन्नता के लिये आचरित जिस साधन से अन्यथा भाव न हो, अपना रूप अन्यथा न हो, ऐसे रूप वाले ईश्वर की अथवा सत्वगुणोपाधि युक्त विष्णु की सेवा करना ही उचित है। इस प्रकार की स्थिति में अपने स्वरूप-नाश की शंका नहीं रहती। क्योंकि सत्वगुणोपाधिक विष्णु, स्थिति की रक्षा करेंगे, उसका नाश नहीं होने देंगे।

जहां सेवक की बुद्धि यदि सेव्य देवता की गुण रूप उपाधि में पर्यवसित न होती हो तो वहां कभी की गई सेवा में भी कोई दोष अथवा चिंता नहीं है। आशय यह है कि मैं सत्वगुणोपाधिक विष्णु की अथवा रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा की अथवा तमोगुणोपाधिक शिव की उपासना करता हूं– ऐसी भावना से जहां सेवा की जाती हो तो वहां स्वरूप हानि की संभावना हो सकती है, किन्तु सेवक की बुद्धि जहां किसी उपाधि विशिष्ट सेव्य को लेकर सेवा करने की नहीं होती तो वह कहीं भी किसी की भी सेवा कर सकता है। वहां उसके स्वरूप में हानि की सम्भावना नहीं होती। जैसे ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र ब्रह्मज्ञान पूर्वक सेवा करता है किन्तु उसका स्वरूप अन्यथा नही होता– जो सेवक देवता की जिस जिस रूप में उपासना करता है उसकी बुद्धि भी उस उस रूप की हो जाती है। 'तं यथायथोपासते'– इस श्रुति का भी यही निर्णय है। कल्याणकारी शुभ फल 'सत्वतनु' विष्णु की– उपासना से सिद्ध होता है। अन्य से नहीं। श्लोकस्थ खलु शब्द सम्मति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह सम्मति युक्तिरहित निरूपित की गई है।

श्लोकस्थ सत्वतनोः में तनु शब्द द्वारा सत्वोपाधि की दृढ़ता स्थिरता बताई गई है। नृणाम यह शुभ फल साधारण जीवों को मिलता है और जो निरन्तर सेवा करने वाले विशिष्ट

जीव हैं वे सत्वोपाधिक देवता में मिल जाते हैं और इस तरह सत्वगुणोपाधि से समन्वित हो जाते हैं और जब उसके सेव्य स्वरूप की उपाधि निवृत्त हो जाती है तब उसमें सायुज्य-भाव से स्थिर उसके भक्त की उपाधि भी निवृत्त हो जाती है। अतः यह सब कुछ सुसंगत है।२३।

आभास—अयमर्थो गूढ इति दृष्टान्तमाह—

आभासार्थ-ब्रह्मा, विष्णु, महेश- ये तीनों ही स्वरूप से एक हैं, तथापि अपनी अपनी गुणोपाधि से युक्त होने के कारण उनकी सेवा के फल में तारतम्य है यह बात गूढ़ है। अतः दृष्टांत से कहते हैं-

श्लोक- पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्म दर्शनम् ।।२४।।

श्लोकार्थ- जो प्रवृत्ति तथा प्रकाश से रहित है, ऐसे पार्थिव काष्ठ से धूंआ उत्तम है- क्योंकि उसमें प्रवृत्ति है- और धूम से त्रयीमय वैदिक कर्म प्रधान अग्नि श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति और प्रकाश दोनों ही है। उसी तरह तमोगुण से रजोगुण श्रेष्ठ है और उससे भी अग्नि के समान प्रकाशमय सत्वगुण श्रेष्ठ है जिससे ब्रह्म का अनुभव होता है ।।२४।।

सुबोधिनी—पार्थिवादिति। प्रकाशापेक्षिणो (?) हि तेजो मृग्यते । तत्राऽप्यग्निसाध्येष्वग्निः। स च लोके दारुषु प्रतिष्ठितः। तानि पुनः पृथिवीप्रकृतिकानि। तेषां पूर्वरूपं पृथिवीसम्बन्धः। वृक्षरूपतेति यावत्। तत्र च्छेदनेन शोषेण वा काष्ठता। जलांशेन धूमजनकत्वम्। तेजोंऽशेनाऽग्निजनकत्वमिति । तत्राऽप्यलौकिकाऽऽहवनीयादिदेवतासम्बन्धे वेदप्रतिपाद्यत्वम् तत्र लोके कालान्तराग्नीच्छायां सार्द्रभूसम्बद्धकाष्ठसङ्ग्रहः । तत्पार्थिवशब्देनोक्तम् । तस्माद्धूमः शुष्कः। ततोऽपि ज्वलन्नग्निः। ततोऽपि लोकान्तरे प्रकाशार्थं त्रयीमयः। ततः पूर्वं रूपं मृत्पिण्डसमानकाष्ठता। अन्तिममाहवनीय इति। अथवा। जले ह्याधारमात्रत्वं दारु सम्पादयति। धूमः शोषणम्। पाकमग्निः। एवं घटस्य नानोपकारसम्पादकत्वं तेजस एवोपाधिवैलक्षण्यात्। तथा ब्रह्मणोऽपि तमसा लौकिकभोगसम्पादकत्वम्। रजसा कर्म, सत्त्वेन ज्ञानमिति । यद्ब्रह्मेति पूर्वोक्तरूपतोक्ता यद्ब्रह्म तमः। तस्माद्यद्ब्रह्म रजः। तदुत्तमम्। ततोऽपि सत्त्वम्। तत्तु ज्ञानरूपमेवेति। दर्शनमनुभवः। अदूरविप्रकर्षेणैतदुक्तमित्यर्थः। अनेन सोपहितं कार्यमपि विलक्षणं जनयतीत्युक्तम्। पूर्वश्लोके जीवपुरस्सरेण त्रैविध्यं निरूपितम्। अनेन तु ब्रह्मपुरस्सरेणेति विशेषः ।।२४।।

सुबोधिनी अनुवाद— जिसे प्रकाश की अपेक्षा होती है वह तेज को ढूंढता है। वहां भी

अग्निसाध्य कार्यों के लिये अग्नि की अपेक्षा है और लोक में यह अग्नि काष्ठ में मिलती है और ये लकड़ियां पृथिवी-प्रकृति की है– उनका पूर्वरूप पृथिवी से सम्बन्धित अतएव वृक्ष रूपता है। वृक्ष का छेदन और शोषण करने से काष्ट बनता है। काष्ठ में जलांश धूम को उत्पन्न करता है। यदि तेज का अंश होगा तो यह अग्नि उत्पन्न करेगा। अग्नि में भी अलौकिक अग्नि उन्पन्न होती है जिसका उपयोग अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म में होता है, इस अग्नि का सम्बन्ध देवताओं से होने के कारण यह वेद-प्रतिपाद्य है। लोक में भी कालान्तर में जब अग्नि प्राप्त करने की इच्छा होती है तब गीले वृक्षों से काष्ठ संग्रह किया जाता है। वही काष्ठ यहां पार्थिव शब्द से कहा गया है। पार्थिवात्दारुणोधूमः– में अधूमः ऐसी सन्धि भी होती है अतः प्रथम जिसमें धूम न निकले ऐसे शुष्क काष्ठ का संग्रह होता है फिर उससे जलती हुई अग्नि का संग्रह होता है फिर इससे लोकान्तर में प्रकाश करने वाली वैदिक-अग्नि त्रयीमयः बनती है। अग्नि का प्रथम रूप मृत्पिण्ड काष्ठ है और अन्तिम स्वरूप आहवनीय वैदिक अग्नि है।

अथवा कच्चे घट में जलांश होता है उस घट को लकड़ी, अग्नि का आधार बनाती है अर्थात् घट का सम्बन्ध प्रथम लकड़ी से होता है फिर धूम उसे सुखाता है और अग्नि उसे पकाती है। इस प्रकार वह अग्नि ही काष्ठ, धूम और अग्नि अपनी इस उपाधियों से उसका घट का अनेक प्रकार से उपकार करती है। उसी प्रकार ब्रह्म भी तमोगुण से लौकिक भोग का, रजोगुण से कर्म का और सत्वगुण से ज्ञान का सम्पादन करता है। यहां 'यद्' ब्रह्म से वृक्षरूपता बताई गई है। तमोरूप ब्रह्म से रजोरूप ब्रह्म उत्तम है और उससे भी उत्तम सत्वरूप ब्रह्म है जो ज्ञान रूप है जिससे ब्रह्म का दर्शन अर्थात् अनुभव होता है। तम से रज, इसलिपे उत्तम है कि वह सत्व अर्थात् ज्ञान रूप कार्य के अधिक निकट है जैसे काष्ठ की अपेक्षा धूम अग्नि के अधिक पास है इसलिए उत्तम है। यह उत्तरोत्तर उत्तमा दूरी और सामीप्य के न्याय से समझी गयी है। इसलिये तमोगुणोपाधि, रजोगुणोपाधि और सत्वगुणोपाधि से युक्त होने के कारण इनके कार्य में भी विलक्षणता है अर्थात् ये पृथक् पृथक् कार्य करते हैं। पूर्व श्लोक में ब्रह्मादि देवाताओं को त्रैविध्य जीवनरूप से बताया गया था किन्तु प्रस्तुत श्लोक में यही त्रैविध्य ब्रह्म के रूप में निरूपित किया गया है, यहां यह इतनी विशेषता है ।।२४।।

आभास— अत्र सदाचारं प्रमाणयति।

आभासार्थ— सत्ययुग से चली आती हुई सत्वगुणोपाधिक की सेवा में सदाचार का प्रमाण देते हैं।

श्लोक– भेजिरे मुनयोऽथाऽग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ।।२५।।

श्लोकार्थं— पहले सत्ययुग में ज्ञानी मुनियों ने विशुद्ध सत्वरूप अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत) भगवान् की सेवा की, जिससे उन्होंने तो उत्तम फल प्राप्त किया ही, किन्तु उनके मार्ग पर चलने वाले आज भी इसी जन्म में कल्याण को, जीवानन्द को प्राप्त करते हैं ।।२५।।

सुबोधिनी– भेजिर इति । आत्मार्थं भजनेन भगवन्तमेव भेजिरे इत्यात्मनेपदाद्बहुवचनादाचारदाढ्र्यम् । कर्तृदोषाभावमाह– **मुनय इति ।** मननपर्यन्तं पदार्थानुष्ठानेन सत्त्वमुक्तम् । अथेत्यज्ञानदशायां भजनं निवारितम् । मुनयो भूत्वा पश्चाद्भजन्त इत्यर्थः । अग्रे सत्ययुगे । "**पुरा कृतयुग**" इत्यादिवाक्यात् । ब्रह्मरूपतामलौकिकरूपतां चाऽऽह पदद्वयेन– **भगवन्तमधोक्षजमिति** । उपाधेर्मुख्यताप्रतिपादनार्थं **सत्त्वमिति** सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनम् । **विशुद्धमिति** ब्रह्मादिषु विद्यमानसत्त्वनिवृत्तिः । तेषां कि फलं जातमिति जिज्ञासायां, किं तेषां फलं वक्तव्यं, तत्सेवका अपि मुच्यन्त इत्याह– **कल्पन्त इति** ।ताननु ये तत्सेवका ये । तन्मार्गवर्तिनो वा । तेऽपि क्षेमाय स्वरूपानन्दाय कल्पन्त इत्यर्थः । तत्राऽपि इहैव, न भवान्तरे । तस्माच्छीघ्रं शुभफलसाधकत्वात्सत्त्वरूपमेव सेव्यमित्युक्तम् ।।२५।।

सुबोधिनी अनुवाद— पहले के मुनियों ने आत्मा के लिये भजन किया अर्थात् उन्होंने अधोक्षज भगवान की ही सेवा की है । यहां भेजिरे आत्मने पद है और बहुवचन में है इससे ज्ञात होता है कि यह आचरण किसी एक तक ही सीमित नहीं था अपितु बहुतेरों का यही आचरण रहा । तदुपरान्त इस भजन का फल आत्मगामी है अर्थात् जो भगवान सर्व के आत्मरूप हैं उनका भजन किया । यह सेवा (भजन) उन्होने की जिनमें दोष का सर्वथा अभाव था, इसी का निर्देश करने के लिये यहां मुनयः शब्द का प्रयोग किया गया है । पदार्थं का मनन पर्यन्त अनुष्ठान करने से जिसमें सत्व प्रतिष्ठित हो गया है उनको मुनि कहते हैं, अर्थात् सत्वयुक्त, मननशील मुनियों ने ऐसा भजन किया है

श्लोकस्थ अथ का यह अभिप्राय है कि अज्ञान अवस्था में उन्होंने भजन नहीं किया है किन्तु ज्ञानी होकर उन्होंने अधोक्षज भगवान् को भजा है । अग्रे का अर्थ है सत्य-युग में– "पुराकृतयुगे" इस वाक्य के अनुसार अग्रे का यहां यही अर्थ ग्रहण किया गया है ।

ब्रह्मरूपता एवं अलौकिकता बताने के लिये यहां भगवान तथा अधोक्षज ऐसे दो पदों का प्रयोग किया गया है अर्थात् प्रभु षड् ऐश्वर्य से युक्त हैं–तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रभु से नीचे ही रहता

है अर्थात् प्रभु इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत हैं–भगवन्तम्-मधोक्षजम्। विष्णु में सत्वगुणोपाधि की मुख्यता का निर्देश करने के लिये उनको यहां सत्व-रूप कहा है। 'सत्व' अर्थात् यहां सत्व शब्द भगवान् का समानाधिकरण से विशेषण है। यह सत्व गुण ब्रह्मादि में भी विद्यमान है तो क्या वे मुनिगण उनका भजन करते थे? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यहां विशुद्ध पद का प्रयोग हुआ है अर्थात् (विशुद्ध) शुद्ध सत्व वाले भगवान् का ही भजन करते थे। मिश्र सत्व वाले ब्रह्मादिक का नहीं। ऐसे विशुद्ध सत्व वाले की सेवा से किस फल की प्राप्ति होती है। ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं- विशुद्ध सत्वरूप भगवान् की सेवाफल का तो कहना ही क्या? इनके सेवकों को तो उत्कृष्ट फल मिलता ही है। किन्तु ऐसे सेवकों की सेवा करने वाले भी मुक्त हो जाते हैं-"कल्पन्तेये नु तानिह" अर्थात् सत्व रूप भगवान् की सेवा करने वालों के सेवक अथवा उनके मार्ग पर चलने वाले सभी व्यक्ति कल्याण की, जीव स्वरूपानन्द की प्राप्ति करते हैं और यह फल भी उन्हें इसी जन्म मे मिल जाता है, जन्मान्तर में नहीं। इसलिये शीघ्र ही शुभ फल की साधक होने के कारण सत्व रूप की ही सेवा करनी चाहिये, इस प्रकार से कहा गया है ।।२५।।

आभासः— इदानीं रजस्तमसोरपि सेवकभजनफलानां भेदेन स्वरूपं वक्तुं सत्त्वस्य स्वरूपमनुवदति— **मुमुक्षव इति**। अथवा। कालस्य प्राधान्यात्सत्ययुगे सत्त्वस्य भजनमस्तु नाम। कथं त्रेतादिषु तद्भजनमित्याशङ्‌क्याऽऽह—

आभासार्थ— सम्प्रति रजोरूप तथा तमोरूप ब्रह्म के स्वरूप को उसके सेवक भजन तथा फल के भेद पूर्वक विवेचन करते हुए- "मुमुक्षव" श्लोक से सत्वरूप ब्रह्म का स्वरूप पुनः बताते हैं। अथवा काल की प्रधानता से सत्ययुग में सत्वरूप ब्रह्म की सेवा भले ही की जाती हो, किन्तु त्रेता-द्वापर तथा कलियुग में इसका भजन (सेवा) कैसे हो सकता है। इस आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—

श्लोक– मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ।।२६।।

श्लोकार्थ– मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष घोररूप रुद्रादि देवताओं को छोड़ कर नारायण के जो ज्ञान क्रिया शक्ति रूप जो शांत अवतार हैं उनका असूया रहित होकर भजन करते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी— मुमुक्षव इति। सत्त्वस्य फलं मोक्षः। स ज्ञानसाध्यः। ज्ञानं च शान्तान्तःकरणसाध्यम्। भजनीयं च रूपं ध्येयम्। तेन घोररूपध्यानेन चित्तमपि तथा भवति। अतोऽभेदेऽपि

सत्त्वमूर्तेरपि घोराणि रूपाणि परित्यज्य । घोररूपांश्च । पूर्वं मोक्षसाधनत्वेन कुलाचारेण श्रद्धया वा प्राप्तं राजसादि भजनं गुणानां स्वरूपज्ञानानन्तरं परित्यज्य । अथ भिन्नक्रमेण । ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वात्पुरुषरूपनारायणस्य । कला धर्मावतारा ज्ञानक्रियाशक्तिरूपाः । मत्स्याद्यवतारान् रामादिरूपं वा रूपान्तरेषु दुष्टबुद्धिरहिता भजन्त इत्यर्थः । नेदं भक्तिमार्गभजनम् । किन्तु जीवानां स्वपुरुषार्थसिद्धये धर्ममार्गेण । तथा सति सर्वथा निःसन्दिग्धमेव भजन्ते न नृसिंहादिरूपम् । भक्तिमार्गे तु विषयस्य प्राधान्यात्प्रयोजनस्य दुर्बलत्वात्सर्वाण्येव रूपाणि भजनीयानि ॥२६॥

सुबोधिनी अनुवाद:— सत्व गुण का फल मोक्ष है। मोक्ष ज्ञान से होता है। ज्ञान शांत अंत:करण से सिद्ध होता है। परन्तु जिसका भजन किया जाता है उसी का ध्यान करना चाहिये। तदनुसार घोर रूप का ध्यान करने में चित्त भी घोर रूप वाला अशांत बन जाता है इसलिये— स्वरूप में अभेद होने पर भी सत्वमूर्ति के घोर रूप को तथा घोर रूप देवताओं को छोड़ कर प्रथम से ही जो व्यक्ति मोक्ष को साधन बनाकर कुलाचार से अथवा श्रद्धा से परम्परागत राजस तामस रूपों का भजन करते हैं वे भी राजसिक तथा तामसिक स्वरूप का ज्ञान होने पर उनके भजन को छोड़ कर ब्रह्मांड के भीतर रहने वाले पुरुषरूप नारायण के धर्मावतार रूप जो ज्ञान शक्ति रूप मत्स्यादि अवतार हैं उनका तथा क्रियाशक्ति रूप रामादि अवतारों का दूसरे अवतारों में दोष बुद्धि न रखते हुए भजन करते हैं परन्तु इनका यह भजन भक्ति मार्गीय भजन नहीं होता है। इन मत्स्यादि रूप और रामादि रूप अवतारों का भजन किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए विहित धर्म मार्ग के अनुसार किया जाता है। जो देवता नि:संदिग्ध शांत स्वरूप वाले हैं उन्हीं का भजन पुरुषार्थ सिद्धि के लिये करते हैं। नृसिंहादि रूप का नहीं करते। किन्तु भक्तिमार्ग में तो प्रयोजन की गौणता के कारण तथा भजनीय विषय की प्रधानता के कारण प्रभु के प्रत्येक रूप, एक ही स्वरूप में, भजन करने योग्य है ॥२६॥

आभास:— रूपान्तरे भजनसामग्र्याः स्वरूपमाह—

आभासार्थ— अब रजोगुण तथा तमोगुण रूप में भजन सामग्री का स्वरूप बताते हैं—

श्लोक— रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान्भजन्ति वै ।
पितृभूतप्रजेशादीञ्छ्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥

श्लोकार्थ— धन, ऐश्वर्य तथा सन्तति की कामना वाले रजोगुण तमोगुण प्रकृति के जीव अपने समान स्वभाव वाले पितृ, भूत, प्रजेश आदि का भजन करते हैं ॥२७॥

सुबोधिनीः— **रज इति ।** शरीरगुणस्वभावभेदेन गुणास्त्रिविधाः । तत्र स्वाभाविका अनुल्लङ्घनीयाः । शरीररूपा मौढ्यदशायामेव बलिष्ठाः । धर्मरूपास्तु सङ्गशास्त्रैर्वर्धन्ते क्षीयन्ते च । तत्र ये विवेकिनोऽपि सच्छास्त्रं सत्सङ्गं ज्ञात्वाऽपि स्वभावतो राजसास्तामसाश्च तादृशानेव भजन्ते । भजनं हि सख्यपर्यवसायि । तच्च समानरूप एव भवतीति समानशीलानेव भजन्त इति निश्चयार्थः । तयोः परिकरोऽपि तादृश इति ज्ञापयितुं पितरो भूतानि प्रजाश्च तेषामीशाः कालशिवब्रह्मरूपास्ते आदिभूता येषां तान् क्षुद्रदेवान्भजन्ते । तत्र श्राद्धादिना पितृभजने शक्तिभजने च धनप्राप्तिः फलम् । ईश्वरभजने त्वैश्वर्यप्राप्तिः । प्रजेशभजने प्रजायाः । तत्राऽपीप्सितैव प्राप्तिस्तु दुर्लभा । दातृणां तामसत्वात् ।।२७।।

सुबोधिनी अनुवादः— शरीर, गुण और स्वभाव के भेद से गुण तीन प्रकार के होते हैं– इन स्वाभाविक गुणों का उल्लंघन कभी नहीं किया जा सकता। शरीर रूप जो गुण हैं वे मूढ दशा में ही बलवान होते हैं। गुण (धर्म) रूप जो गुण है वे संग से तथा शास्त्रों के श्रवणादि से बढ़ते है तथा नष्ट होते हैं इनमें जो विवेकशील होते हैं वे सत्संग तथा सत् शास्त्र को जान कर भी अपने अपने राजस तामस स्वभाग के अनुसार उसी प्रकार के राजस तामस का ही भजन करते हैं। भजन सख्यपर्यन्त माना गया है। अर्थात् समान स्वभाव तथा समान शील का ही भजन किया जाता है। सख्य, स्व समान में ही होता है। "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्"। राजस स्वभाव वाले, राजस देवताओं का और तामस स्वभाव वाले तामस देवताओं का भजन करते हैं। इन तमोगुण रजोगुण वाले देवताओं का परिकर भी वैसा ही है। इस बात का निर्देश करने के लिये यहां पितृ-भूत-प्रजा और उनके स्वामी काल, शिव और ब्रह्मा जिनमें मुख्य हैं ऐसे क्षुद्र देवताओं का उल्लेख किया गया है– ऐसे देवताओं का भजन राजस-तामस जीव करते हैं।

श्राद्ध आदि से पितरों तथा शक्ति को भजने से फलरूप से धन की प्राप्ति होती है। भूतेश महादेव के भजने से ऐश्वर्य रूप फल की तथा प्रजेश ब्रह्मा के भजन से सन्ततिरूप फल मिलता है। वहां भी ईप्सित फल की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि ऐसे फल के प्रदाता तामस हैं ।।२७।।

आभासः– एवं सत्त्वमूर्तौ भजनं सोपपत्तिकमुपपाद्य तत्रैव सर्वप्रमाणानां साधनानां च तत्रैव परिसमाप्तिरित्याह–वासुदेवपरा वेदा इति श्लोकद्वयेन—

आभासार्थ– इस तरह सत्त्वमूर्ति के भजन का युक्ति-पूर्वक उपपादन करके सत्वमूर्ति में ही प्रमाण और साधनों की समाप्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाण तथा सम्पूर्ण साधन सत्वमूर्ति की प्राप्ति के लिये ही है। सर्व प्रमाणगम्य भी वही है और सर्व साधनों से प्राप्तव्य भी वही है इसी का प्रतिपादन "वासुदेवपरा वेदाः" इत्यादि श्लोकद्वय से किया जाता है—

श्लोकः– वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ।।२८।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ।।२९।।

श्लोकार्थ— वेद, वेदार्थरूप यज्ञ, योग, स्नानादिक क्रियायें ज्ञान, तप, आचार और स्वर्ग ये सब वासुदेव परक हैं ।।२८-२९।।

सुबोधिनी– प्रथमाधिकारे सर्वगुणमयमिति ज्ञानं मुख्यम् । युक्तेः प्राधान्यात् । अतः सत्त्वपरत्वं सर्वेषामिति । तत्र वेदः सात्त्विकं प्रमाणम् । यज्ञाश्च सात्त्विकाः । योगाः स्नानादिकक्रियाश्च । ज्ञानं तप आचारःस्वर्गश्च सात्त्विकः । अन्यप्राधान्यप्रतिपादकानि तु शास्त्राणि न प्रमाणानि । किन्तु राजसानि तामसानि । एवं साधनान्यपि । एवं सर्वसात्त्विकभावः कर्त्तव्य इति प्रथमाधिकारः । एत एव मध्माधिकारे अन्यथा वक्तव्याः । उत्तमाधिकारे च । सर्वेषामेषां चाऽन्तःकरणशोधकत्वात्सत्त्वपरत्वम् । सुखफलत्वञ्च । सुखस्य सात्त्विकत्वाच्छुद्धान्तःकरणे स्फुरितब्रह्मानन्दस्याऽपि सात्त्विकत्वम् । सर्वाणि पञ्च शास्त्राणि श्रुति-साङ्ख्ययोग–पशुपति-वैष्णवाख्यानि मुख्यानि । अङ्गभूतं च धर्मशास्त्रं सर्वेषाम् । तत्रेदं वैष्णवं शास्त्रम् । पशुपतिमतं तु परमतोपन्यासेनोक्तमपेक्षितरूपेण प्रमाणं, न तु सर्वथा तत्र यावदन्येषां त्रयाणां धर्मशास्त्रस्य च नैकवाक्यता तावन्न वैष्णवशास्त्रस्य दार्ढ्य मित्येकवाक्यता निरूप्यते । तत्र प्रथमं वेदः । वेदार्थो यज्ञश्च । तथा योगशास्त्रम् । यमादयश्च । तथा साङ्ख्यम् । तदुक्तं परम साधनं तपश्च । धर्मशास्त्रं तदुक्तोच्चर्गतिश्च । तदेतत्सर्वं वासुदेवपरमित्यर्थः ।।२८,२९।।

सुबोधिनी अनुवाद— सत्वगुण ही दोषों से मुक्त है-- ऐसा ज्ञान प्रथमाधिकार में मुख्य है क्योंकि प्रथमाधिकारी युक्ति को ही प्रधानता देता है, तदनुसार जितने भी प्रमाण और साधन हैं वे सभी सत्वोपाधि रूप हैं । इनमें वेद सात्विक प्रमाण है । यज्ञ भी सात्विक है । योग स्नानादिक क्रियायें, ज्ञान, तप, शिष्टाचार और स्वर्ग ये सब सात्विक हैं । इसलिये सत्वगुण के अतिरिक्त राजस तथा तामस गुण की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र प्रमाण भूत नहीं हैं । क्योंकि वे राजस और तामस हैं । साधनों के लिये भी यही नियम है अर्थात् जो साधन राजस तामस हैं वे प्रमाण भूत नहीं हैं । इसलिये सर्वत्र सर्व में सात्विक भाव करना चाहिये और यही जीव का प्रथमाधिकार माना गया है । तात्पर्य यह है कि प्रथमाधिकार वेद, यज्ञ, योग, तप आदि में सर्वत्र सात्विक रखता है । उपरोक्त यही वेदादि मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के लिये अन्य प्रकार से कहे गये हैं । आशय यह है कि उपर्युक्त वेद। यज्ञ, योग, तप स्नानादि क्रियायें ज्ञान आदि

अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं तथा सुखरूप फल को देते हैं इसलिए इसमें सात्विक गुणमयता है। सुख, सात्विक रूप है इसलिये शुद्ध अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला ब्रह्मानन्द भी सात्विक रूप है। श्रुति, सांख्य, योग, पशुपति, वैष्णव- ये पांच शास्त्र मुख्य हैं। धर्मशास्त्र इन सबका अंगभूत है।

यहां यह भागवत-वैष्णव शास्त्र है। पशुपति शास्त्र तो केवल परमत का उपन्यास करने के लिए ही कहा गया है, इसलिये जितना भाग ग्रहण करने योग्य है उतना ही भाग प्रमाण है किन्तु समग्र प्रमाण नहीं है। इनमें वेद, सांख्य, योग तथा धर्मशास्त्रों की जब तक एक वाक्यता नहीं होती, जब तक वैष्णव शास्त्रों में दृढ़ता नहीं आती, इसलिये वेद, सांख्य, योग तथा धर्म शास्त्रों की एक वाक्यता का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम वेद वेदका अर्थरूप यज्ञ, योगशास्त्र, योगशास्त्र से कहे गये यम नियमादि, सांख्य (ज्ञान) शास्त्र तथा सांख्य शास्त्र में कहा गया परम साधन रूप तप, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र में कही गयी उत्तम गति, इन सभी का वासुदेव भगवान् में ही तात्पर्य है। ये सब वासुदेव परायण हैं। ।२८।२९।

आभासः—एवं सोपपत्तिकं फलसाधनस्वरूपं निर्णीतम्। तृतीयं कृष्णावतारप्रयोजनप्रश्नं प्रथमाधिकारादवतारतुल्यत्वेनाऽत्राऽनुक्त्वा पश्चादवतारेष्वेव कथयिष्यति। ततश्चतुर्थः प्रश्नः—"**तस्य कर्माण्युदाराणीति**" तत्रोत्तरमाह **स एवेदमिति** पञ्चभिः—

आभासार्थ—इस तरह युक्ति पूर्वक भगवत् साक्षात्कार रूप कल्याणकारी फल के स्वरूप का तथा भागवत से लेकर भगवत्कथा-रति पर्यन्त भगवत्प्रसाद की प्राप्ति कराने वाले साधन के स्वरूप का निर्णय किया। शौनक ने प्रथम अध्याय में छह प्रश्न पूछे थे— उनमें तृतीय प्रश्न से— श्री कृष्ण के अवतार का प्रयोजन पूछा गया था, किन्तु सूत पौराणिक तथा शौनकादिक का प्रथमाधिकार होने से उनको ऐसा ज्ञान है कि कृष्णावतार अन्य अवतार के समान ही है, इसलिये यहां कृष्णावतार की चर्चा न करके तृतीय अध्याय में अवतारों की कथा कहेंगे— तथा अवतार का प्रयोजन भी कहेंगे। तदनन्तर चतुर्थ प्रश्न से श्रीकृष्ण के उदारचरित्रों को कहिये यह पूछा गया था उसका उत्तर यहां "स एवेदं ससर्जाग्रे" आदि पांच श्लोकों से देते हैं।

श्लोकः— **स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवानात्ममायया।**
सदसद्रूपया चाऽसौ गुणमय्याऽगुणो विभुः ।।३०।।

श्लोकार्थं—इसी निर्गुण सर्व समर्थ भगवान् ने गुणमयी तथा ऊंचे नीचे रूपवाली प्रतिकृति रूप इस सृष्टि को अपनी सर्वभवन सामर्थ्य–रूपा माया से सर्व प्रथम उत्पन्न किया ।३०।

सुबोधिनी-सृष्टिप्रवेशनानात्वभोगरक्षारूपाः पञ्च लीलाः क्रमेण पञ्चभिः प्रतिपाद्याः सगुणनिर्गुणयोर्भेदाभावाय । **स एवेति** सृष्टित्वगुणादेव । गुणत्रयेणाऽपि सृष्टो रजोमिश्रितेन । तमोमिश्रितेन त्रयेणाऽपि संहारः । तथा सत्त्वमिश्रितेन पालनमिति । शुद्धास्त्वधिष्ठातृदेवताशरीररूपाः । इदं जगत् । दृश्यस्य सर्वस्याऽपि जगतः कार्यत्वम् । नत्वाकाशादेर्नित्यतेति । अग्रे प्रथमम् । **"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** ति श्रुत्या साक्षात्सर्वकरणं प्रथमा सृष्टिः अन्येऽपि सृष्टिभेदाः सन्ति । ते निबन्धे निरूपिताः । **भगवानिति** वैष्णवशास्त्र एवेयं प्रथमा सृष्टिः । वैदिके तु स्वधर्मस्वशक्तिकालकर्मस्वभावानां सृष्टिः प्रथमा । अतोऽनन्तगुणपूर्ण एव भगवान् स्वस्य मायया शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मभूतं जगत्सृष्टवान् । मायायाः स्वरूपमाह— **सद्सद्रूपयेति** । सा ह्युच्चनीचसर्वप्रतिकृतिरूपा । तस्यामात्मानं संयोज्य प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते । एवं सति सुगमा सृष्टिर्भवति । सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत् । सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति । निद्राऽपि शक्तिः । सा जीवं भगवत्समीपे नयति । तत्र मायापर्यन्तं गमने स्वप्नः । भगवत्पर्यन्तं गमने सुषुप्तिः । पुनश्च सा यथास्थानमानयति । विद्या तु भगवत्समीपमेव नयति नाऽऽनयति । एवमनन्ताः शक्तयो भगवतः । वेदे तु मायासाधनराहित्यैनैव स्वत एवाऽऽत्मानं जगद्रूपं करोतीत्युच्यते । घटितपूरणपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेदः । व्यलीकपक्षस्तु न प्रामाणिकः । चकारादन्येऽपि सृष्टिप्रकाराः सूच्यन्ते । असाविति भगवद्धर्मनिरूपणेन हृदये स्फुरितं भगवन्तं बहिः पश्यन्निवाऽङ्गुल्या निर्दिशति । स्वस्याऽनन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा गुणमयी भवति । तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिराशित्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणवाच्यता । अस्याः पुनः स्पर्शे न भगवति गुणाकृतित्वम् । अतः अगुणः प्राकृतगुणरहितः । कथं स्वसम्बन्धेनैव मायाया गुणवत्त्वम् । कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽप्यगुणः ? तत्राऽऽह—**विभुरिति** । सर्वसमर्थ इत्यर्थः ।।३०।।

सुबोधिनी अनुवाद- इन पांच श्लोकों में से "स एवेदं ससर्जाऽग्रे" में सृष्टि लीला का "तया विलसितेष्वेषु" में प्रवेश–लीला का "यथाह्यवहितो वह्नि" में नानात्व लीला का असौ-गुणमयी में भोग-लीला तथा 'भावयत्येष' में रक्षणलीला का निरूपण है । सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं है । यह बताने के लिए यथाक्रम पांच श्लोकों से पांच लीलाओं का निरूपण किया गया है । स एवं पद से यह तात्पर्य है कि सृष्टि निर्गुण से ही होती है क्योंकि प्रथम सृष्टि में निर्गुण से गुणों की सृष्टि बताई गई है । रजोमिश्रित तीन गुणों से भी सृष्टि होती है । तम से

मिश्रित तीन गुणों से संहार होता है तथा सत्व मिश्रित तीन गुणों से पालन होता है। गुणों के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश के शुद्ध रजोगुण, सत्वगुण तथा तमोगुण यथाक्रम शरीर रूप है।

यह संपूर्ण दृश्यमान जगत् कार्य है। आकाशादि भी कार्य हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं अतः ये नित्य नहीं हैं यह सर्व प्रथम सृष्टि है "अग्रे" शब्द से इसी का बोध किया गया है। 'एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच खं ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी, प्राण, मन, सर्व इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथिवी ये सब भगवान् से साक्षात् उत्पन्न होने वाली सर्वप्रथम अग्रे सृष्टि है। सृष्टि के अन्व बहुत से भेद हैं जिनका निरूपण तत्वार्थ–दीप निबंध ग्रंथ मैं किया गया है। वैष्णव शास्त्रों में ही इस प्राथमिक सृष्टि का निरूपण हुआ है– जिसमें मायाको इसका निमित्तकारण बताया है।

वेदों में तो स्वधर्म, स्वशक्ति तथा काल, कर्म, स्वभाव की सृष्टि ही प्रथम सृष्टि कही गई है। इसलिये अनन्त गुण पूर्ण भगवान् ने ही अपनी सर्वभवन सामर्थ्य रूप माया से इस आत्मरूप जगत् को उत्पन्न किया है।

यह माया सद्-असद् की अर्थात् ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप है। यही माया का स्वरूप है। इस माया में अपना संयोजन करके इसे अपना अधिष्ठान बना कर अपने आपको ही प्रकट करते हुए भगवान् ही जगत् रूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे स्वर्णकार सांचे में ढालकर प्रतिमा आदि सुगमता से बना लेता हैं, उसी तरह माया भी एक सांचा है जिसमें सद्-असद, ऊंचे नीचे पदार्थ ढाले जाकर निर्माण किये जाते हैं, इस प्रकार सृष्टि का निर्माण सुगम बन जाता है। माया ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप हैं। माया का यही स्वरूप हैं जिसका निर्देश 'सदसद्रूपया' पद से किया गया है। यह माया भगवान् के पास ही रहती है। निद्रा भी भगवान् की शक्ति है यह निद्रा शक्ति जीव को सुषुप्ति दशा में भगवान् के पास ले जाती है। यहां जीव माया पर्यन्त गमन काल तक स्वप्नावस्था में तथा भगवत् पर्यन्त गमन काल तक निद्रित दशा में रहता हैं। यही निद्रा जीव को पुनः अपनी पूर्वावस्था में ले आती है। विद्या शक्ति जीव को भगवान् के निकट अवश्य ले जाती हैं किन्तु निद्रा शक्ति की तरह वह जीव को पुनः पूर्वावस्था मे नहीं लाती है। इस प्रकार भगवन् की अनन्त शक्तियां हैं

वेद मतानुसार वो माया रूप साधन का अवलंबन किये बिना ही भगवान् स्वयं ही अपने आपको जगत् रूप बनाते है, ऐसा कहा जाता है। इसलिये घड़े गये, ढाले गये पात्र की तरह वैदिक तथा पौराणिक जगत् में भेद है वस्तुतः ये दोनों ही भगवद्रूप हैं।

जगत् मिथ्या है, यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। श्लोकोक्त "च" कार से सृष्टि के और भी प्रकार हैं—यह निर्देश किया गया है। "असौ" पद प्रत्यक्ष का निर्देशक है। यहां भगवद् धर्म के निरूपण से हृदय में स्फुरित भगवान् को मानों बाहर ही देख रहे हों— इस तरह सूतजी अंगुली से निर्देश कर रहे हैं। अनन्त गुणवाले भगवान् के स्पर्श से माया भी उसी प्रकार की आकृतिमयी तथा गुणमयी हो जाती है, तथा गुणों के उत्तम-मध्यम तथा हीन भेदों द्वारा यह माया, सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी नामों से जानी जाती है। मायाकृत स्पर्श से भगवान् में गुणरूपता अथवा आकृतिरूपता नहीं आती। इसी का निर्देश यहां **अगुणाः** पद से किया हैं। भगवान् प्राकृत गुणों से रहित है— माया के स्पर्श से सगुण नहीं है।

यहां शंका होती हैं, भगवान् के स्पर्श से माया तो गुणमयी हो गई, किन्तु माया में प्रविष्ट होकर तथा जगद्रूप होकर भी भबवान् निर्गुण ही रहे !!! यह कैसे ? इसका समाधान यह है कि भगवान् विभुः अर्थात् सर्व समर्थ हैं वह माया को सगुण बनाते हुए भी स्वयं निर्गुण ही रह सकते हैं ।।३०।।

आभासः—एवं सद्रूपेण जडसृष्टिमुक्त्वा, आनन्दरूपेणाऽन्तर्यामिसृष्टिमाह—

आभासार्थः—इस तरह भगवान् के सत् रूप से जड़-जगत् की उत्पत्ति कह कर उसी भगवान् के आनन्द रूप से अन्तर्यामी की सृष्टि को कहते हैं—

श्लोक तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ।।३१।।

श्लोकार्थ—भगवान् की अपनी इस माया शक्ति द्वारा आकार को प्राप्त करके विचित्र प्रकार से प्रकाशमान इन देव मनुष्यों की देहों में पंच महाभूतों में तथा गुणों में अन्तर्यामी रूप से अन्तः प्रविष्ट होकर वह भगवान् सर्वत्र प्रकाश करते हैं और मानों (वह भगवान्) गुणवान् की तरह प्रतीत होते हैं। भगवान् स्वयं सर्वज्ञ अन्तर्यामी रूप से अन्दर प्रवेश करके जीव को उसके विविध कार्यों में प्रेरित करते हैं और उसमें विविध ज्ञान का स्फुरण करते हैं। इस प्रकार भगवान् अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विज्ञान द्वारा प्रकाशमान होते हैं।

सुबोधिनीः—तयेति। तया मायया। आकारसमर्पणेन विलसितेषु चित्रितेषु देवादिदेहेषु। भूतेषु च। गुणेषु येषु परिदृश्यमानेषु गुणवानिव। तेषां तेषां तत्र तत्रैव प्रवर्तनात्। खदिराङ्गार-रक्तिमेव अन्तः प्रविष्टः स एवाऽऽभाति, अयोगोलकनिविष्टाग्निवद्बहिरपि स्फुरति। आ समन्ताद्भाति। चिज्जडांशयोर्ज्ञानशक्तितिरोभावोऽस्ति। तद्वदत्राऽपि भविष्यतीत्याशङ्कचाऽऽह— **विज्ञानेन**

विजृम्भित इति । अत्राऽन्तर्यामिणः सर्वज्ञस्य जीवं सर्वत्र प्रेरयतस्तद्विधज्ञानवतः कार्यावेशेन स्फुरणमिव विजृम्भा । तद्वानित्यर्थः ।३१।

सुबोधिनी अनुवाद:—प्रतिकृति-सांचा रूप होने से माया आकार की समर्पक है। इस माया से आकार समर्पण द्वारा मानों चित्रित से गुणात्मक देवादि देहो में तथा पंच महाभूतों में दृश्यमान गुणों में प्रविष्ट वह अन्तर्यामी भगवान् गुणवान् की तरह प्रतीत होता है। वस्तुतः वह प्राकृत गुणों से रहित है, क्योंकि उन उन गुणों की प्रकृति अमुक अमुक जगह ही उसके द्वारा होती हैं। खदिर के अंगार की लालिमा की तरह भीतर प्रविष्ट वही अन्तर्यामी भगवान् सामान्य जीवों में प्रकाशित (यत्किंचित्) होता है (यहां आभाति के आङ्प्रत्यय का ईषद् यत्किंचित् अर्थ है)। विशिष्ट जीवों में अयोगोलक में प्रविष्ट अग्नि के समान इसी अन्तर्यामी भगवान् की बाहर भी स्फूर्ति होती है– चारों ओर स्फूर्ति होती है। चिदंश जीव तथा सदंश जड़ में ज्ञान शक्ति का जिस तरह तिरोभाव देखा जाता है, उसी तरह आनन्दांश अन्तर्यामी में भी ज्ञान शक्ति का तिरोभाव होना चाहिये। इस शंका का उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी विज्ञान से प्रकाशित है, विज्ञानेन विजृम्भितम्। यहां सर्व जीवों को सर्वत्र प्रेरित करने वाला विविध ज्ञान युक्त जो अन्तर्यामी है वह कार्य में आविष्ट होने से उस उस ज्ञान का प्रकाशक भी है अर्थात् वह अन्तर्यामी ज्ञानयुक्त भी है और उन उन जीवों को उनउन कार्यों में प्रवृत्त भी करता है– प्रेरक भी वही है और नियामक भी वही है ।३१।

आभास:—एवमन्तर्यामिभावं निरूप्य जीवभावं निरूपयन्नानात्वलीलामाह—

आभासार्थ:—इस प्रकार अन्तर्यामी भाव का अर्थात् अन्तर्यामी रूप से जगत् प्रवेश लीला का निरूपण करके जीव भाव का विवेचन करते हुए प्रभु की अनेक भवन लीला को कहते हैं अर्थात् जिसमें एक होते हुए भी भगवान् बहुरूप धारण करते हैं– ऐसी भगवल्लीला का प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक– यथा ह्यवहितो वन्हिर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वाऽऽत्मा भूतेषु च तथा पुमान् ।।३२।।

श्लोकार्थ:—अपने उत्तपत्ति– स्थल अनेकों काष्ठों में छिपा हुआ एक ही अग्नि अनेक जैसा प्रतीत होता है। उसी तरह पंचमहाभूत और उनसे उत्पन्न हुए पदार्थों में जीव रूप से प्रविष्ट वह विश्वात्मा भगवान् ही अनेक की तरह प्रतीत होता है ।३२।

सुबोधिनीः—यथेति । "**अवस्थितेरिति काशकृत्स्न**" इतिवत्केनचिद्रूपेणाऽवस्थितो भगवानेव जीव इति तद्रूपमुच्यते । दारुषु यथा वह्निस्तथा भूतभौतिकेषु जीवः । स चैकः । उपाधिव्यतिरेकेण स्वतो वैलक्षण्याभावात् । यथा मथनव्यतिरेकेण काष्ठेष्वग्निर्न प्रतीयते तथा योगव्यतिरेकेणाऽन्तःकरणे जीवः । यथा करचरणाद्यवयवः शरीरेभ्यो न भिद्यन्ते, तथा महाकाष्ठे सर्वत्रैक एव विद्यमानो मथनस्थानेषूद्गच्छति । तथा प्रतीयते च भेदः । स च न प्रामाणिकः । महाकाष्ठ एकस्यैव वह्नेः सिद्धत्वात् । तथा काष्ठबहुत्वेऽप्यनुमन्तव्यम् । एवं सर्वेषु देहेषु सर्वेषु भूतेषु च तिरोहितः समवस्थितः स जीव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । यत्र हि आविर्भवति तत्र तिष्ठतीति निश्चितम् । योगेन ज्ञानेन वाऽयं सर्वत्र आविर्भवति । अतस्तानि भूतानि योनिरूपाणि । तेष्वेक एव वह्निर्नाना प्रतीयत इत्यर्थः । किञ्च । विश्वाऽऽत्मा चाऽयम् । विश्वस्यैकमेव हि स्वरूपम् । एकवचनप्रयोगात् । तस्याऽऽत्मा कथमनेको भवेत् । उपाधिभेदाद्भेद इव प्रतीयते । चकाराद्भौतिकेषु । किञ्च । पुमानयम् । ब्रह्माण्डविग्रहः स्वराट् पुरुष एक एव सर्वत्र ब्रह्माण्डे । तस्य चाऽवयवभूतानि मध्यस्थानि भूतानि भौतिकानि च । तेषां भेदप्रतीतावपि पुरुषो न भिद्यते । यथा करचरणादिषु नानाभेदप्रतीतावपि नाऽधिष्ठातुर्भेदः । तथा सर्वत्र ब्रह्माण्डे पुरुषस्येत्येक एव सर्वत्र गुप्तो नानेव प्रतीयमानो जीव इत्युक्तं भवति ।।३२।।

सुबोधिनी अनुवादः—अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः—१-४-२२ ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्न के मतानुसार यहां प्रतिपादन किया गया है । इस मतानुसार किसी भी रूप में अवस्थिति करने वाले भगवान् ही जीव है— जीव भगवान् का रूप है । काष्ठ में जैसे अग्नि है उसी तरह पंचमहाभूतों मे तथा उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थो में वह विश्वात्मा भगवान् जीव रूप में स्थित है । वह ईश्वर एक है । उन उन उपाधियों के कारण भेद प्रतीत होता है किन्तु भेद प्रामाणिक नहीं है । उपाधि–रहित जीव स्वतः भगवान् से विलक्षण नहीं है । केवल विभिन्न शरीर रूप उपाधि के भेद से ही वह विलक्षण बन गया है । जिस प्रकार मंथन किये विना काष्ठ में अग्नि की प्रतीति नहीं होती, उसी तरह योग के विना अन्तःकरण में जीव की प्रतीति नहीं होती । जिस प्रकार हाथ पैर आदि अवयव शरीर से भिन्न नहीं हैं उसी तरह महाकाष्ठ में सर्वत्र एक रूप से विद्यमान अग्नि जहां मंथन किया जाता है वहां ही मंथन स्थान में प्रकट होता है । इसी प्रकार जीव भगवान् का अंश होने से उससे भिन्न नहीं हैं । तथापि भेद की जो प्रतीति होती है वह प्रामाणिक नहीं है । जैसे एक ही विशालकाष्ठ में सर्वत्र एक ही अग्नि है वैसे अनेको काष्ठों में भी वह अग्नि एक ही है, यही व्यवस्था जीवों की है । इसी तरह सर्वदेहों में तथा सर्वपंचमहाभूतों में गुह्य रूप से तिरोधानतया जो समवस्थित है वह जीव है– यहां "हि" अव्यत्र का यही अर्थ है । यहां काष्ठ के दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जिस काष्ठ में अग्नि प्रकट है उसी काष्ठ

में वह प्रकाशमान रहता है। जड़ में चिदंश का तिरोभाव होने से वहां जीव का प्रकाश नहीं है। वह जीव योग से अथवा ज्ञान से जड, चेतन सब में प्रकट हो सकता है। इसलिये जैसे अग्नि का उत्पत्ति स्थान काष्ठ है उसी तरह जीव के प्रकट होने का स्थान समग्र पंचमहाभूत है उनमें काष्ठ में अग्नि के समान एक ही जीव पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। और यह जीव विश्वात्मा है अर्थात् समग्र विश्व का यह एक ही स्वरूप हैं। और इसीलिए श्लोक में भी विश्वात्मा इस तरह एक वचन का ही प्रयोग किया गया है, क्योंकि एक ही जगत् की आत्मा अनेक कैसे हो सकती है? किन्तु उपाधि के भेद से मानो पृथक् पृथक् हो ऐसा प्रतीत होता है। भूतेषुच– में चकार का अर्थ है पंचमहाभूतों से बने हुए शरीर आदि में भी वह पृथक् पृथक् दिखाई देता है। यह जीव (पुरुष) है। अर्थात् सर्वत्र ब्रह्माण्ड में वह ब्रह्माण्ड विग्रह वाला पुरुष एक ही अपने आप प्रकाशित है– स्वराट्। इस ब्रह्माण्ड के पंचमहाभूत और इनसे उत्पन्न संपूर्ण भौतिक पदार्थ– इसके अवयव रूप हैं। ये समग्र पदार्थ पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं तथा यह पुरुष अनेक नहीं है। एक ही है। जिस तरह हाथ पैर आदि में विविध प्रकार की विभिन्नता दिखाई देती हैं फिर भी शरीर में स्थित जीव का कोई भेद नहीं है। इसी तरह समग्र ब्रह्माण्ड में विराट् पुरुष का भेद नहीं है। इसलिए सर्वत्र ब्रमाण्ड में छिपा हुआ एक ही विराट् पुरुष विश्वात्मा भगवान् जब नानारूप में प्रतीत होता है तब वह जीव कहलाता है।

आभासः—तद्रूपेणैव भोगलीलेत्याह—

आभासार्थः— वही विश्वात्मा भगवान् जीवरूप से लीला करता है उसी को कहते हैं—

श्लोक– असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेतु तद्गुणान् ॥३३॥

श्लोकार्थ— वही विश्वात्मा भगवान् सदंश से निर्मित पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा इन्द्रिय समूह तथा अंतःकरण द्वारा बनायी गयी सृष्टि में प्रविष्ट होकर देव, तिर्यक्, नर आदि प्राणियों में (पुरुषार्थ-चतुष्टयका) भोग करता है।३३।

सुबोधिनी—असाविति। चतुर्विधा हि सदंशसृष्टिः। अन्तःकरणमिन्द्रियाणि तन्मात्राणि भूतानि चेति। तानि त्रिगुणात्मकानि। गुणमयत्वकथनात्स्वांशरूपता निरूपिता। तैर्निर्मितेषु देवतिर्यङ्नरादिषु भूतेषु नितरां विष्टः अनध्यासे स्थितो भुङ्क्ते विषयानात्मसात्करोति। भोगमुत्तरत्र स्पष्टीकरिष्यामः। एतावता भोगसृष्टिभेद उक्तो भवति। साक्षात्सृष्टेः पूर्णनिरूपणात्

मायाकरणकत्वाच्चाऽपि हेतुभूतादीनां करणत्वं कर्तृत्वं वा। स्वस्विन्निर्मितेषु, स्वार्थं वा निर्मितेषु, स्वेन वा निर्मितेष्विति। गुणास्त्रयः। तत्र सात्विकमन्तःकरणं, सात्विकराजसानीन्द्रियाणि, राजसतामसानि तन्मात्राणि, तामसानि भूतानि चेति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतुर्द्धा भेदः। देहेन धर्मः। तन्मात्रैरर्थः। इन्द्रियैः कामः। अन्तःकरणेन मोक्ष इति। तत्र जीवस्यैकत्र मुख्यतया स्थितौ अन्ये ह्यङ्गभावं प्राप्नुवन्ति। अतएव तद्गुणान् चतुर्विधपुरुषार्थरूपान् भुङ्क्त इत्युक्तम् ।३३।

सुबोधिनी अनुवादः— अन्तःकरण इन्द्रियां, पंचतन्मत्रायें तथा पंचमहाभूत इस तरह भगवान् के सदंश से यह चार प्रकार की सृष्टि है। ये अन्तःकरण आदि गुणमय अर्थात् त्रिगुणात्मक कहलाते हैं। गुण भगवान् के अंश हैं इसलिये यह चतुर्विध सृष्टि भगवान् की अंशरूप है। अन्तःकरण आदि से निर्मित देवता, पक्षी तथा मनुष्यों में प्रविष्ट भगवान् अनाध्यासतया स्थित होकर विषयों का उपभोग करता है अर्थात् में भोग करता हूं- इस प्रकार के अध्यास (भ्रम) से रहित होकर विषयों का उपभोग करता है- विषयों को अपने स्वाधीन करता है। भोग क्या है ? यह इससे आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस इतने निरूपण से भोगसृष्टि का भेद कहा गया है। साक्षात् सृष्टि के भोग का निरूपण इससे पूर्व कर चुके हैं।

स्वयं भगवान् ही सृष्टि रूप बन जाते हैं और माया को करण बनाकर सृष्टि वनाते हैं। इन दोनों का ही निरूपण किया जा चुका है। यहां स्वनिर्मितेषु का अर्थ तीन प्रकार से किया जा सकता है- स्वस्मिन् निर्मितेषु १ अपने में बनाई गई सृष्टि में, स्वार्थं निर्मितेषु- २ अपने लिये बनाई गई सृष्टि में, स्वेन निर्मितेषु- ३ अपने से निर्मित सृष्टि में- इस प्रकार के अर्थ से ईश्वर में कर्त्तव्य आता हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंचमहाभूत आदि का भगवान् करण भी है और कर्त्ता भी है।

गुण तीन है, सत्व रज और तम। ऊपर कहे गये अन्तःकरण आदि में अन्तःकरण सात्विक है, इन्द्रियां सात्विक-राजस हैं, रूपरस आदि तन्मात्रायें राजस-तामस हैं और पंचमहाभूत तामस है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चार प्रकार के पुरुषार्थो की सिद्धि के लिये सृष्टि का चार प्रकार से भेद कहा है। अर्थात् देह से धर्म होताहै, तन्मात्राओं से अर्थ सिद्ध होता है, इन्द्रियों से काम सिद्ध होता है और अन्तःकरण से मोक्ष सिद्ध होता है। जीव को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से किसी एक में जब दृढ़ अध्यास हो जाता है तब अवशिष्ट तीनों उसके अंग बन जाते हैं।

हैं। 'तद्गुणान्' इसलिये चारों प्रकार के पुरुषार्थों को वह भगवान् जीव रूप से भोगता है।३३।

आभासः—एवं भोगलक्षणलीलामुपपाद्य तत्सिद्धये पालनलक्षणलीलामाह—

आभासार्थः—इस प्रकार भोगलीला का उपपादन करके, भोगसिद्धि के संपादनार्थ पालन लीला का वर्णन करते हैं—

श्लोक- भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ।।३४।।

श्लोकार्थ—यह भगवान् देव, पशु-पक्षी तथा मनुष्यादि में लीलावतार धारण करके जीव के पीछे पीछे रहते हुए भिन्न भिन्न प्रकृति के प्राणियों में प्रीति रखते हैं तथा जीव से अभिन्न रह कर यही भगवान् लोक की सर्वदा चिन्ता रखते हुए उनके दुःख दूर करते हुए उनका पालन करते हैं। भगवान् अपने विभिन्न अवतार-चरित्रों द्वारा सर्वलोक को मुक्ति का दान करने के लिये उनको सात्विकता से सम्पन्न करते हैं।३४।

सुबोधिनीः—भावयतीति। भावयति पालयति एष एव जीवरूपेण अभिन्नः। पालने सत्त्वगुण एक एव करणम्। लोकान्भुवनजनरूपान्। अथवा। सत्त्वेन भावयति। सत्त्वयुक्तान् करोतीत्यर्थः। उभयत्र हेतुमाह—**लीलावतारानुरत इति** अवतारैर्दैत्यानां वधं विधाय सर्वलोकान् पालयति। अवतारैश्चरित्राणि विधाय सर्वांल्लोकान् सत्त्वयुक्तान् करोति मुक्तये। ननु सत्त्वमात्रेण कथं मुक्तिः? अवतारैर्वा कथं पालनम्? तत्राऽऽह— **लोकभावन इति**। लोकैर्भावनं यस्येति मुक्तिप्रकारः। अवताराणामविद्यमानदशायामपि भावनयैव सर्वानिष्टानिवृत्तेः पालनमित्यर्थः। अथवा। लोकान्भावयतीति। सर्वदा लोकानां चिन्तया तेषामेव दुःखनिवारणाय अवतारान्कृत्वा पालयतीत्यर्थ। ननु कथं तमःप्रकृतिषु लीलेत्यत आह— **अनुरत इति**। यथा जीवास्तत्र तत्र रताः। रतिव्यतिरेकेण तादृशशरीराभावात्। तदनु स्वयमपि रत इत्यर्थः। देवादयः सत्त्वादिभेदाः। आदिशब्देन मिश्रभेदाः। अनेनाऽनुक्तेष्वपि सर्वेषु भगवदवतारा ज्ञातव्या। वक्ष्यति च-"**अवतारा ह्यसङ्ख्येया**" इति। देवेषु वामनः। तिर्यक्षुमत्स्यादयः। नरेषु रामादयः। मिश्रेषु नृसिंहादय इति।३४।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

सुबोधिनी अनुवादः—जीवरूप से अभिन्न यह भगवान् ही लोक का पालन करता है। पालन करने में सत्त्व गुण ही साधन रूप है। लोकशब्द से यहां समग्र भुवन तथा मनुष्य दोनों ग्रहण किये गये हैं। अथवा भगवान् इन जीवों को सत्त्व युक्त बनाते हैं। लोकों का पालन करने में और सत्त्व युक्त बनाने में हेतु यह है कि अवतारों द्वारा दैत्यों का वध करके सब लोकों का पालन करते हैं अथवा अपने विभन्न अवतारों से विभिन्न लीलाएं करके सर्व लोकों की मुक्ति के लिये उनको सत्त्व युक्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व गुण को ग्रहण करके भगवान् जो अवतार धारण करते हैं उन अवतारों से दैत्यों का संहार करके सबका रक्षण करते हैं अश्वा ऐसे चरित्र करते हैं जिससे अन्य प्राणी भी यदि उन चरित्रों की भावना करें तो वे भी सत्व युक्त बन कर मुक्त हो जाते हैं।

यहां शंका होती है कि सत्व मात्र से मुक्ति कैसे मिल सकती है? अथवा अवतारों से पालन कैसे संभव है? इसके उत्तर में कहते हैं— "लोकभावनः" अर्थात् लोकैर्भावनंयस्य- सर्व लोक इसकी भावना करते हैं। इस तरह की यह भावना करना मुक्ति का प्रकार है। इस तरह भावना करने से मुक्ति मिल जाती है। अर्थात् अवतारों की उनुपस्थिति में भी भावना करने से ही सर्व अनिष्ट की निवृत्ति होती है और अनिष्ट की निवृतिरूप में पालन होता है। अथवा सर्व लोकों की चिंता के कारण उनके दुःख दूर करने के लिये अवतार धारण करके उनका पालन करते हैं।

यहां शंका होती है— मत्स्यादि तामस प्रकृति के अवतारों में भगवान् कैसे लीला कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि- "अनुरतः" अभिप्राय यह है कि जीव अनेक प्रकार के हैं। किसी की सत्वावतार में, किसी की रजोगुणावतार में और किसी की तमोगुणावतार में आसक्ति होती है। अतः उनकी आसक्ति (रति) के अनुसार सात्विक राजस तथा तामस में भगवान् अवतार लेते हैं। विना लोक-रति के भगवान् ऐसा शरीर धारण नहीं करते। लोकों की अनुरक्ति देख कर भगवान् स्वयं भी तदनुरक्ति अनुसार उसी रूप में रत हो जाते हैं, उसी रूप में अवतरित होते हैं।

देव, तिर्यङ्तथा नर- ये सात्विक, राजस तथा तामस हैं— "देवतिर्यङ्नरादिषु" में जो आदि पद है उससे सात्विकादि के मिश्र भेद लिये गये हैं। जैसे- सात्विक तामस, राजस तामस,

राजस सात्विक इत्यादि इत्यादि। इन मिश्र भेदों के लेने से देवतिर्यङ्नरादि में अनुरक्त अन्य सभी में भी भगवान् के अवार होते हैं- यह समझ लेना चाहिये। इसी का निर्देश करने के लिये अग्रिम प्रसंगों में भगवान् के अवतार असंख्य हैं– अवताराह्यसंख्येयाः– ऐसा कहा गया है।

देवताओं में वामन, तिर्यङ्में मत्स्यादि, मनुष्यों में राम आदि तथा मिश्रों में नृसिंह आदि अवतार हैं। नृसिंहावतार मनुष्य तथा सिंहाकृति का होने के कारण मिश्रावतार है।३४।

इस प्रकार श्रीमद्लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्रीवल्लभ दीक्षित विचरित श्रीमद्भागवत सुबोधिनी प्रथमस्कंध का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

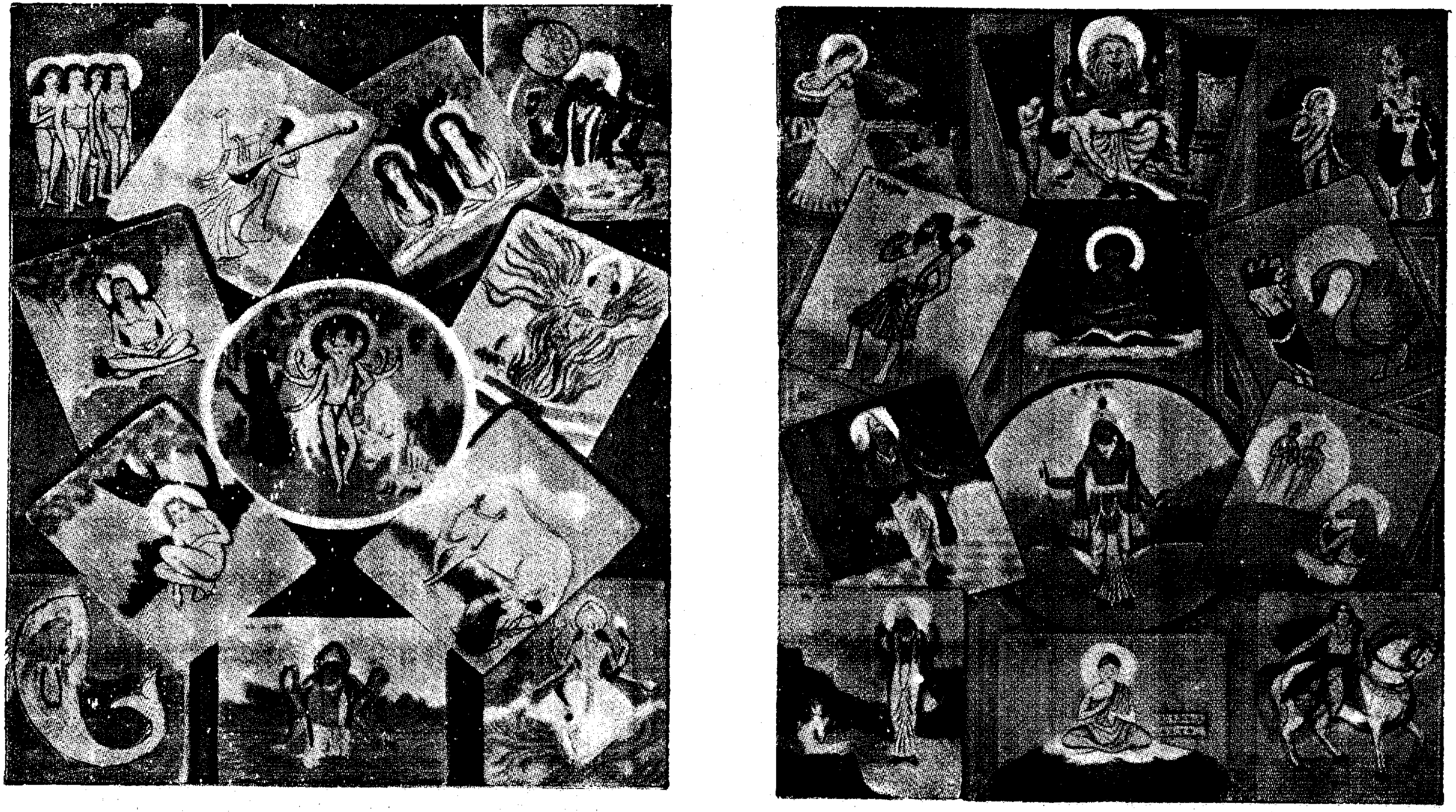

भगवान्के चौबीस अवतार

।। श्रीहरिः ।।

श्रीमद्-भागवत-संहिता

प्रथम-स्कन्ध

●

तृतीय-अध्याय

श्री सुबोधिनी व्याख्या

का

अनुवादात्मक विवेचन

कारिकाः– निरूपिताः पञ्च लीलाः फलसाधननिर्णये ।
तृतीये त्ववशिष्टानामवतारार्थधर्मिणाम् ।।१।।

कृष्णाऽवतारकार्यं हि न सूतो ज्ञातवान्स्फुटम् ।
अतः साधारणं प्रोक्तं निर्णयश्च तथाऽधिकः ।
षट्प्रश्नपूरणं तेन वस्तुतः पञ्चपूरणम् ।।२।।

"**अथाऽऽख्याहि हरेर्धीमन्नि**" ति पृथक्तयाऽवतारप्रश्नादध्यायान्तरेणाऽवतारानाह **जगृह** इत्यादिषड्विंशत्या । अवतरणमवतारः । व्यापिवैकुण्ठाद्भगवतः प्रपञ्चे समागमनम् । तत्र यद्यप्यक्षरकालकर्मस्वभावतत्त्वेषु भगवदवतरणमस्ति, तथापि तेषु द्विरूपता वर्तत इति नाऽवतारत्वम् । **लीला विदधतः स्वैरमिति** प्रश्ने विशेषकथनाद्वा । न हि तेषु स्वेच्छालीलाऽस्ति । भूतलीला द्विविधा, साक्षात्परम्पराभेदेन । भौतिकलीलाऽपि द्विविधा, ब्रह्माण्डं निर्मायाऽनिर्माय च ।

निर्माणपक्षेऽपि यथा दशरथपुत्रेषु कश्चिदवतारः कश्चिन्न तथा विश्वसृजां गर्भो विराट् कदाचिद्ब्रह्मशरीरं कदाचिज्जीवशरीरम् । तत्र ब्रह्मशरीरपक्षे तत्रत्यानां मुक्तिः सुलभा । अतः प्रथमं पुरुषावतारत्वमाह पञ्चभिः ।

कारिकार्थः—दूसरे अध्याय में, फल साधन के निर्णय में– सृष्टि, प्रवेश, नानात्व. भोग और रक्षा इन पांच लीलाओं का वर्णन किया जा चुका है । इस तृतीय यध्याय में, बाकी के बचे हुए अवतारों का पुरुषार्थों का तथा सर्वप्रार्थनीय– धर्मी श्री कृष्ण का निर्णय किया जायेगा । सूतजी कृष्ण अवतार के कार्य को स्पष्टतया नहीं जानते थे । इसलिये इस अध्याय में असौ–इत्यादि श्लोक से उनका साधारण रूप से ही वर्णन किया है, और "देवतिर्यङ्नरादिषु" से विशेष रूप में निर्णय कहा है । इस तरह छहों प्रश्नों के उत्तर संपूर्ण हो जाते है । किंतु वास्तव में देखा जाय तो पांच प्रश्नों के ही उत्तर पूर्ण हुये हैं । क्योंकि अग्रिम कुन्ति की स्तुति में श्री कृष्णावतार का निरूपण बराबर नहीं हुआ है ।

"अब हमें भगवान् के अवतारों की कथा कहिये"–'आख्या हि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः' इस प्रकार से अवतार के विषय में पृथक् प्रश्न किया गया है । इसलिए इस तृतीय अध्याय में पृथक्तया ही 'जगृहे पौरुषं रूपम्' आदि श्लोकों से अवतारों का निरूपण करते हैं ।

'उतरने' का नाम 'अवतार' है, अर्थात् व्यापिवैकुंठ से (अक्षर ब्रह्म से) भगवान् का इस प्रपंच में अवरण (आगमन) ही अवतार है । यद्यपि अक्षर, काल, कार्य, स्वभाव एवं तत्वों में भी भगवान् का अवतरण है फिर भी उसमें 'द्वैतरूपता' है— अतः यह अवतार नहीं माना जा सकता अथवा "इच्छानुसार लीला करने वाले हरि की अवतार कथा कहो" इस प्रश्न में अवतार सम्बन्धी विशेष प्रश्न किया गया है– इसलिए अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव इत्यादि अवतार नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनका स्वेच्छा से लीला करने का वर्णन नहीं है– अतः जिनकी स्वेच्छा रूप से लीला है, उन्हीं का अवतार रूप से वर्णन है ।

भूतलीला साक्षात् तथा परंपरा भेद से दो प्रकार की है । 'एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि से कही गयी ब्रह्म से ही सृष्टि साक्षात् भूतलीलाला है– और "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" अर्थात् भगवान् से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी– इस क्रम से कही गयी सृष्टि परंपरा भूतलीला है ।

भौतिकलीला दो प्रकार की है । एक ब्रह्मांड को–विराट् को उत्पन्न करके, की जाने वाली

और दूसरी ब्रह्मांड को उत्पन्न किये विना ही की जाने वाली। इनमें जहां ब्रह्मांड को उत्पन्न करके भौतिक लीला की जाती है वहां निर्माण पक्ष में भी, जिस तरह किसी कल्प में दशरथ पुत्रों में कोई अवतार था कोई अवतार नहीं भी था (क्योंकि महाभारत के सभापर्व में 'दाशरथि:राम' ऐसा कह कर यह सूचित किया है कि किसी कल्प में राम का अवतार रूप में निरूपण नहीं है) उसी तरह विश्व को उत्पन्न करने वालों का गर्भ रूप जो विराट् है उसका कभी ब्रह्म शरीर से और कभी जीव शरीर से निरूपण किया है। जहा विराट् को ब्रह्म शरीर माना है– वहां विराट् में रहने वालों की मुक्ति सुलभ है और जहां विराट् को जीव शरीर माना है– वहां मुक्ति सुलभ नहीं है। अर्थात् विराट् को यदि जीव शरीर मानते हैं, तब उस विराट् की उपासना करने वाले सभी जीवोपासक होंगे– तथा कृष्णावतार के अतिरिक्त जितने भी अवतार हैं 'एतन्नानावताराणां' के अनुसार जीव शरीर विराट् ही उनका निधान होगा– इसलिए ऐसी उपासना से मुक्ति सुलभ नहीं होगी। यदि ब्रह्मांड को ब्रह्मशरीर मानते हैं, तब उपासक उस ब्रह्मांड की-विराट् की भगवान् के रूप में उपासना करेगा- और क्योंकि उन सब अवतारों का स्थान ब्रह्म है, इसलिए वह उपासक, ब्रह्म का उपासक होगा। अतः उसकी मुक्ति सुलभ होगी।

इसलिये प्रथम पांच श्लोकों से पुरुषावतार को कहते हैं—

सूत उवाच– जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥१॥

श्लोकार्थं—लोकों की सृष्टि करने की इच्छा से, महदादि से उत्पन्न सोलह कलारूप विराट् पुरुष के रूप को भगवान् ने धारण किया ॥१॥

सुबोधिनी—अत्र तादृशाधिकारिजीवस्याऽभावात्स्वयमेव पुरुषो जातः। "**विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानी**" त्येप्येतादृशविषयम्। पुरुषशब्दस्त्रेधा व्युत्पद्यते। पुरि वसतीति। पुरमुषतीति। पुरा आस्त इति च। पुरास इत्याकारे "**व्यत्ययो बहुलमि**" त्युकारः। अस्मिन्पक्षे न शरीरसम्वन्धः। प्रथमपक्षेसम्प्रसारणषत्वे। उष दाह इति। प्रथमे जीवोऽपि भवति। द्वितीयतृतीययोस्तु भगवानेव। तत्र द्वितीयमाह। तप्तायःपिण्डेऽग्निरिव अण्डजत्वादन्तरेव सर्वनिर्माणं सर्वस्याऽपि मुक्तिदानार्थमिति। अस्य ब्रह्माण्डस्य पुरुषाकृतिरूपत्वं न पुरुषत्वम्। "**ममाऽऽयतनमुत्तमम**ि" ति वचनात्। शुद्धसत्त्वात्मकं शरीरमिव पुरुषरूपं तत्त्वैर्निर्मितं स्वयं गृहीतवान्। अधिकारिव्यावृत्त्यर्थं-**भगवानिति**। अप्सु बीजजब्रह्माण्डवैलक्षण्यायाऽऽह– **महदादिभिरिति**। मह-

दहङ्कारपञ्चतन्मात्राभिः सप्तभिः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च षोडशकलाः। एवं प्राकृतिको गणस्त्रयोविंशः। अस्यां सृष्टौ प्रकृतिपुरुषौ स्वयमेव। अतो न किञ्चिदवशिष्टम्। इयं हि आद्या सृष्टिः। द्वितीयादिसृष्टावधिकारिपुरुषाणां सुलभत्वात्। अवतारस्य प्रयोजनमाह लोकसिसृक्षयेति। लोकास्तु स्वोदरस्थिताः। तेषां सृष्टि उदरे च स्थितिर्द्वयं यथा भवति तथा करणार्थ ब्रह्माण्डदेहः परिगृहीतः ।।१।।

सुबोधिनी अनुवाद—पुरुषरूप को धारण कर सके ऐसा कोई अधिकारी जीव ब्रह्मादि नहीं था। इसलिये भगवान् स्वयं पुरुष बनें, भगवान् के तीन रूप हैं, जो पुरुष से कहे गये हैं—१ महत्तत्व को पैदा करनेवाला २ ब्रह्मांड में स्थित और ३ सब प्राणियों में रहने वाला। जहां पुरा आस्ते ऐसा विग्रह है 'व्यत्ययो बहुलं छन्दसि, 'वहां 'आ' कार को 'उ' कार होकर, पुरुष ऐसा शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को शरीराध्यास नहीं है—क्योंकि भगवान् शरीर सम्बन्ध हुआ उससे पूर्व थे। पुरे वसति "इस व्युत्पति में, व्याकरण के नियमानुसार, 'व' कार का, संप्रसारण होने से 'ष' होकर 'पुरुष" शब्द बनता है। 'पुरा आस्ते, तथा 'पुर उषति' ये दोनों व्युत्पत्तियां बृहदारण्यक से सिद्ध है- वहां स यत्पूर्वोस्मात् सर्वस्मात् सर्वान्पाप्मनः औषत् तस्मादुच्यते पुरुष इति' अर्थात् इस सबके पूर्व रहने वाला और पापों को जलाने वाला वह ब्रह्म है— इसलिए वही 'पुरुष' कहलाता है। और पुरि वसति इस का भाव मधु ब्राह्मण में पुरः पुरुष आविशत् स्पष्ट किया गया है। यहां पुरि वसति ऐसा विग्रह करने पर शरीर रूपी पुर में रहने वाला जीव ऐसा अर्थ भी निष्पन्न होता है। (किन्तु यह अर्थ यहां ग्रहण नहीं किया गया है) "पुर को जलाने वाला तथा पहिले रहने वाला, इन दोनों पक्षों में 'भगवान्' ही ग्रहण किये गये है। पुरं उषति इस द्वितीय व्याख्या का यहां यह अभिप्राय होता है कि तप्त लोह पिड़ में अग्नि की तरह प्रविष्ट भगवान् ब्रह्मांड के भीतर ही रहते हुये ब्रह्मांड में से ही उत्पन्न होने के कारण, सर्व को मुक्ति प्रदान करने के लिये सभी का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्मांड़ पुरुष की आकृति रूप है, पुरुष जैसा है, पुरुष नहीं क्योंकि मूल श्लोक में पौरुष- पुरुष संबंधी शब्द का प्रयोग किया गया हैं। क्योंकि यह ब्रह्मांड मेरे रहने का उत्तम स्थान है— 'ममायतनमुत्तमम्' इस तरह के कथन से भी यही अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। शुद्ध सत्वरूप शरीर की तरह, तत्वों से बने हुये इस पुरुष शरीर को भगवान् ने धारण किया है किसी अन्य अधिकारी ने नहीं और यही निर्देश करने के लिये यहां 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जल में बीज से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मांड से यह ब्रह्मांड विलक्षण है- इस बात को 'महदादिभिः' इससे कहा गया है— अर्थात् महत्तत्व, अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द इन

तन्मात्राओं का तथा एकादश इन्द्रियां और पंचमाहाभूतों का इस तरह कुल मिलाकर २३ संख्या का यह प्राकृत समुदाय है, जिससे यह ब्रह्मांड बना है। इस सृष्टि में स्वयं भगवान् प्रकृति और पुरुष बनें अतः भगवान् के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं था– यही प्रथम आद्य सृष्टि है। इसके अनन्तर दूसरी तीसरी सृष्टियों का जो निर्माण किया गया उनमें ब्रह्मा आदि अधिकारी पुरुष सुलभ थे— अतः इनसे ही सृष्टियों का निर्माण हुआ ब्रह्मा आदि प्रथम सृष्टि में सुलभ नहीं थे इसलिये स्वयं भगवान् ही इस सृष्टि के अधिकारी रूप बने।

सृष्टि के निर्माण करने की इच्छा से यह पुरुषावतार हुआ लोकसिसृक्षया–इस पुरुषावतार का यही प्रयोजन था। सृष्टियां लोक भगवान् के उदर मे थीं लोकों का निर्माण और उनकी उदर में स्थिति ये दोनों ही कार्य जिस तरह से संपादित हो सके, उनको उसी तरह संपादित करने के लिये भगवान् ने ब्रह्मांड देह को धारण किया। ब्रह्मांड देह धारण करने पर उसी देह में सृष्टि तथा स्थिति दोनों रेहेंगी ।।१।।

आभासः—ननु काऽनुपपत्तिः। कीदृशस्य कर्तृत्वम् ? इत्यत आह—

आभासार्थ— यदि भगवान् पुर्वोक्त– ब्रह्मांड देह को धारण नहीं करते तो उसमें कौनसी आपत्ति थी और भगवान् का किस स्वरूप से कर्तृत्व है। इसको स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि-

श्लोक– **यस्याऽम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।**
नाभोह्लदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ।।२।।

श्लोकार्थ—समुद्र के जल पर लेटे हुए समाधि रूप निद्रा में लीन भगवान् के नाभी रूप ह्लद में से उत्पन्न कमल से जगत् का निर्माण करने वालों के पति ब्रह्माजी प्रकट हुये ।।२।।

सुबोधिनी—यस्याऽम्भसीति। नेदं दैनन्दिनप्रलयशयनं किन्तु वैष्णवतन्त्रोक्त चतुर्मूर्त्ति-सृष्टिहेतुभूतनारायणशयनम्। तदुक्तम्—"**आसीदुदारगुणवारिधि**" रित्यादौ। स हि स्वोदरस्थाञ्जीवान् निर्मिमीते। तत्रोदरात्सर्वथा बहिर्निर्गमने सायुज्यसृष्टिवदयुक्तं स्यात्। अतो ब्रह्माण्डरूपं द्वितीयं कोशमुत्पाद्य तत्र सर्वान् सृजति। ननु शयानस्य शयनपरित्यागेन सृष्टिकरणे महान्क्लेश इत्याशङ्क्य, शयानादेव सर्वं जातमित्याह– **अम्भसि शयानस्येति**। भगवान् शयान एव स्थितः। **अम्भसीति** शीतलकोमलत्वे शय्यायाः सूचिते। ननु शयनं नाम स्वरूपविस्मरणेन मायाया

भगवतो वा समीपगमनम् । तत्कथं भगवति सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— **योगनिद्रामिति** । न हि भगवान् शेते वस्तुतः। अस्ति च योगभूता निद्रा काचिच्छक्तिः । सा हि जीवानां क्लेशनाशिनी, स्वसमीपं च जीवानानयति गुह्यं च प्रकटीकरोति । तामल्पभूतां स्वस्वरूपे प्रसार्य महतीं कार्यक्षमां च सृष्टच्युपयोगाय करोतीत्यर्थः । तदर्थं प्रयतमानैरेव सृष्टिः क्रियत इति भावः । तथा भगवत्यपि जातमित्याह— **नाभीह्रदाम्बुजादिति** । उदरस्थजगज्ज्ञापनाय नाभिपदम् । पङ्कजाऽशोषाय ह्रदः । अम्बुजं च त्रैलोक्यात्मकम् । तेन भगवतो माहात्म्यमपि सूचितम् । प्रथमकार्यत्वाद्ब्रह्मशब्दवाच्य एव । कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्यख्यापनाय परं पुंल्लिङ्गनिर्देशः । ततो मरीच्यादयोऽपि जाताः । तेषामयमाज्ञापकश्च जात इत्याह— **विश्वसृजां पतिरिति** । पतिशब्देन अनुल्लङ्घ्या तस्याऽऽज्ञेति सूचितम् ।।२।।

सुबोधिनी अनुवादः— भगवान् का यह शयन ब्रह्मा के दिन की समाप्ति में होने वाले नैमित्तिक- प्रलय काल का शयन नहीं है- किन्तु वैष्णव तंत्र में कहे गये चतुर्मूर्ति की सृष्टि के कारणरूप नारायण का यहां शयन है। इसी का निर्देश 'आसीदुदारगुणवारिधि' इस पंक्ति में किया गया है— अर्थात् उदार गुणों के समुद्ररूप नारायण अपने उदर में रहने वाले जीवों का निर्माण करते हैं।

भगवद् उदर में स्थित सायुज्य- प्राप्तजीवों को सृष्टि- निर्माण के समय में बाहर निकाल कर विमुख करना उपयुक्त है— अर्थात् जैसे सायुज्य- सृष्टि वाला जीव भगवान् में लीन हो जाने के पश्चात् फिर जन्म नहीं लेता उसी तरह इन जीवों का भी भगवद् उदर से वहिर्निष्काशन युक्त नहीं होगा इसीलिये भगवान् ब्रह्माण्डरूप द्वितीय कोश को पैदा कर फिर उसी ब्रह्मांड में सब को उत्पन्न करते हैं।

यहाँ शंका करते हैं कि शयन करते हुये भगवान् को शयन का परित्याग करके सृष्टि का निर्माण करने में बड़ा क्लेश होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि शयन करते हुये भगवान् से ही यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है और यही बात 'अम्भसिशयानस्य' से कही गई है- अर्थात् भगवान् सो रहे थे- और सोये हुये भगवान् ने ही यह सब उत्पन्न किया। 'श्लोकस्थ' अम्भसि- पद से यह सूचित किया गया है कि शय्याशीतल और कोमल है- जल में रहने वाली शेषशय्या शीतल और कोमल ही होगी।

यहां शंका करते हैं कि शयन उसी को कहते जिसमें स्वरूप की विस्मृति होती है। और माया के अथवा भगवान् के पास गमन होता है, किन्तु यह दोनों ही भगवान् के शयन में संभव

नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'योगनिद्राम्' वास्तव में भगवान् निद्रा नहीं ले रहे हैं- किन्तु योग-भूत (समाधि रूप) जो निद्रा है वह भगवान् की कोई एक शक्ति है जो जीवों का क्लेश दूर करतीहै- तथा जीवों को भगवान् के पास ले जाती है- अर्थात् योग जैसे गुप्त जीव को प्रकट कर देता है- उसी तरह भगवान् की यह योगनिद्रा भी जीव को सुषुप्ति दशा में भगवत् सम्बन्धी आनन्द का प्रकट अनुभव करा देती है यह निद्रा अल्प है। इसलिये भगवान् इसको अपने स्वरूप में चारों ओर फैलाकर विशाल तथा कार्य क्षम बनाते हैं। सृष्टि के उपयोगार्थ प्रकट करते हैं। अर्थात् आनन्द के लिये तथा योग के लिये प्रयत्न करने वाले लोग ही, सृष्टि पैदा करते हैं। और यही भगवान् के विषय में भी कहा जा सकता है। इसी का निर्देश 'नाभिह्लदाम्बुजादासीत्' इस पद में किया गया है।

यह जगत् उदर में स्थित था यह निर्देश करने के लिये यहां 'नाभि' पद का प्रयोग किया गया है। ह्लद स्थित कमल कभी सूखता नहीं 'नाभि के लिये ह्लद शब्द के प्रयोग द्वारा' यहां यही सूचित होता है। 'कमल' यहां त्रिलोक रूप हैं। इससे भगवान् का माहात्म्य भी सूचित किया गया है। भगवान् की ऐसी महिमा है कि जिनकी नाभी से अंकुरित कमल भी त्रिलोक रूप है। 'ब्रह्मा' पद का तात्पर्य है कि यह 'सृष्टि भगवान् का प्रथम ही कार्य है। अर्थात् 'ब्रह्मा' भगवान् का प्रथम कार्य रूप है— इसीलिये वह 'ब्रह्मा' कहा जाता है- यहां 'ब्रह्मा' का पुंल्लिग में प्रयोग यह निर्देश करता है कि वह इस जगत् का स्वतंत्र रूप से कर्ता है। तदन्तर ब्रह्मा से विश्व को उत्पन्न करने वाले मरीचि आदि उत्पन्न हुये। ब्रह्मा इन मरीचि आदि को आज्ञा देने वाला है। इसलिये ब्रह्मा को यहां 'विश्वसृजांपतिः' मरीचि आदि का पति कहा है। पति शब्द से यह सूचित होता है कि इनके लिये ब्रह्मा की आज्ञा अवश्य पालनी है। इसका सारांश यह है कि जिसने पुरुष रूप धारण किया उसी भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है ।।२।।

आभास—अनेन हि शयानादेव सर्वे लोका उत्पन्ना इत्युक्तम्। तेषां स्थानं वक्तुं लोकशब्दस्य भुवनवाचित्वात्तेषां जडत्वेन स्वतो जननाभावान्निद्रितस्य तज्जननमशक्यमित्याशङ्क्य पुरुषशरीरस्थूलावयवा एव तथाविधा जाता इत्याह—

आभासार्थ—इससे यह कहा गया है कि शयन करते हुये भगवान् से ही सभी लोक उत्पन्न हुये हैं इन लोकों के स्थान का निर्देश करने के लिये यहां 'लोक' शब्द का अर्थ 'भुवन' किया गया है। 'भुवन जड है' यह स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकते, और भगवान् भी निद्रित हैं- इसलिये वे भी उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते 'इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पूर्वोक्त पुरुष शरीर के स्थूल अवयव ही भुवन रूप में परिणत हो गये' इसी तथ्य को निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— यस्याऽवयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ।।३।।

श्लोकार्थ—जिस पुरुष रूप भगवान् के चरणाविंद आदि अवयवों से यह विस्तृत भुवन जन लोक बना वही विशुद्ध सत्वरूप तथा सर्व कार्यों को करने में उन्मुख भगवान् का स्वरूप है ।।।३।।

सुबोधिनी—यस्याऽवययसंस्थानैरिति । स च युक्त्या मध्यभावे तिष्ठति ज्ञायते । वस्तुतस्तु बीजात्मकः सर्वगतिः सर्वकार्येषु निविष्ट इति । अयमूर्द्ध्वगोलो देहः । यैर्यैर्यथा यथा स्थितैर्येये लोकास्तानग्रे वक्ष्यति–"**पातालमेतस्य हि पादमूल**" मित्यादिभिः । शरीरे लोकनिर्माणे लोकानामल्पत्वमाशङ्क्य निराकरोति— **विस्तर इति** । एवं भुवनजननिर्माणेनाऽवतारप्रयोजनमुक्त्वा ब्रह्माण्डान्तरवदिदमपि केवलं जड़मित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमवताररूपमुपसंहारार्थमनुवदति— **तद्वै भगवत इति** । तत् पूर्वोक्तं ब्रह्माण्डरूपम् । उक्तोपपत्तिर्वैशब्देनोच्यते । तद्भगवत एव रूपं, नाऽन्यत्किञ्चिदित्यर्थः । ननु भगवतः प्राकृतं रूपमेव नास्ति । शुद्धसत्त्वात्मकं वा भवति । तत्कथं ब्रह्माण्डस्य देहत्वमत आह— **विशुद्धं सत्त्वमिति** । शुद्धसत्त्वात्मकमेवेदं शरीरमित्यर्थः । **ऊर्जितमिति** । न शान्तं, किन्तु सर्वकार्यकरणोन्मुखमित्यर्थः । हर्षेणोत्फुल्लता ऊर्ज्जः । तद्रजोगुणव्यतिरेकेणाऽपि भगवदावेशेन भवति ।।३।।

सुबोधिनी अनुवाद— युक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् का विराट् देह वृक्ष भाव में अथवा जरायु भाव में हैं । यदि वृक्ष भाव अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्व भाव, वृक्ष मध्य भाव तथा फल उत्तर भाव है- और यदि जरायु भाव ऐसा अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्व भाव है, जरायु मध्य भाव है तथा देह उत्तर भाव है । वास्तव में यह विराट् देह, बीज रूप तथा सर्व गति वाला है । विराट् के जिन जिन अवयवों से जो जो लोक बनें हैं उनका उल्लेख "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" इत्यादि से आगे करेंगे ।

विराट् देह में लोकों का निर्माण किये जाने पर लोक छोटे ही पैदा हुये होंगे— ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि लोक विस्तरः, ये लोक बहुत विस्तृत रूप में बने हैं । यहाँ 'लोक' शब्द भुवन एवं जन इन दोनों ही अर्थों में व्यवहृत हुआ है । अर्थात् भुवन और जन दोनों का ही निर्माण हुआ इस प्रकार यहाँ भुवन तथा जन इन दोनों का निर्माण ही अवतार का प्रयोजन है— यह कह कर दूसरे ब्रह्मांडों की तरह यह ब्रह्मांड भी केवल जड़ ही होगा ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड जड़ नहीं है, अवतार रूप है । इससे पूर्व कहा गया, ब्रह्मांड

रूप वास्तव में भगवान् का ही रूप हैं, दूसरा नहीं। यहां "वै" पद से यह निर्देश किया गया है कि - भगवान् की यह ब्रह्मांड-रूपता प्रमाण से उपपत्ति से सिद्ध है।

यहां यह शंका होती है कि भगवान् का तो कोई प्राकृत रूप है ही नहीं, भगवान् तो शुद्ध सत्वात्मक हैं। तो, फिर, यह ब्रह्मांड भगवान् का देह कैसे हुआ ? इसका समाधान यह है कि यह ब्रह्मांड रूप देह भी शुद्ध सत्वात्मक ही है। भगवान् शान्त, निष्क्रिय नहीं है, अपितु सर्व कार्य करने में उन्मुख है– यह बात 'उर्जितम' पद से सूचित की गई है। हर्ष सुलभ उत्फुल्लता को 'ऊर्ज' कहते हैं। यद्यपि रजोगुण के विना यह विराट्-देह कार्य करने में उन्मुख नहीं हो सकता, किन्तु, रजोगुण के विना भी, भगवान् के आवेश से यह विराट् देह सम्पूर्ण कार्य संपादनार्थ उन्मुख होता है ।।३।।

आभास—ननु ब्रह्माण्डस्य परिग्रहः करणत्वेनाऽपि सम्भवति। तत्कथमेकान्ततो देहत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि ब्रह्माण्ड को भगवान् ने साधन रूप से स्वीकार किया है और ऐसा संभव है तो, फिर, भगवान् ने इसका एकान्ततया देह रूप से ही क्यों स्वीकार किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक– **पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।**
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ।।४।।

श्लोकार्थ—जो अपरिमित पैर, जंघायें, भुजायें एवं मुखों से अद्भुत है और जिसके अनन्तों मस्तकों में अनन्तों कान, आँख, और नासिकाएं है और जो अनन्तों मुकुट, वस्त्र और कुण्डलों से अत्यन्त शोभा युक्त है– ऐसे इस ब्रह्माण्ड रूप को योगिगण विशाल ज्ञान दृष्टि से देखते हैं– प्रत्यक्ष करते हैं ।।४।।

सुबोधिनी:—**पश्यन्तीति**। योगिनां योगजधर्मसाक्षात्कार एव भगवदवतारत्वे प्रमाणम्। प्राकृतचक्षुषा हीदं जगद्दृश्यते, न त्वदः परोक्षत्वेन प्रसिद्धम्। तच्च रूपम्। न तु पृथिव्यादिवत्केवलं जडम्। किञ्च। योगिनामपि सदा न भासते। किन्त्वदभ्रचक्षुषा महता ज्ञानचक्षुषा। भगवतः प्रतिकृतिरूपत्वेन वेदप्रतिपाद्यस्य सम्बन्धे शरीरमपि- '**विश्वतश्चक्षुरि**' ति श्रुतिप्रतिपादितरूपवद्धयेयं जातमित्याह— **सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतमिति**। सहस्रमित्यपरिमितनाम। '**अनेकवक्त्रनयनमि**' ति गीताप्रतिपादितरूपवत्सहस्रपादोरुभुजाननैरत्यद्भुतम्। अत्र क्रियाशक्तिप्रधानानि चत्वार्यङ्गानि निरूपितानि। **गतिश्च,सृष्टिजननं, कृतिश्च, परिभाषणमिति**। ज्ञानशक्तिप्रधानान्याह— **सह-**

स्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकमिति। सहस्रं मूर्द्धसु श्रवणे अक्षिणी नासिके च यस्य। त्रीण्येव द्विदैवत्यानि ज्ञानाङ्गानि बहिः प्रसिद्धानि। रसनेन्द्रियं त्वन्तरेव आननपदेनैव सङ्गृहीतम्। त्वचो न नानात्वम्। परिकरमाह— **सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसदिति।** सहस्रं **मौलयः** मुकुटानि, अम्बराणि, कुण्डलानि च, तैरुल्लसत्। अतिशोभायुक्तमित्यर्थः। परिकराणामवरोहप्रकारेण प्रतीतत्वाद्यथाक्रमं निर्देशः ।।४।।

सुबोधिनी अनुवाद—योगियों को योग सुलभ ज्ञान (धर्म) द्वारा साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार ही भगवद् अवतार में प्रमाण है। यह जगत् प्राकृत नेत्रों से ही देखा जाता है। किन्तु परोक्षरूप से प्रसिद्ध भगवान् का यह रूप प्राकृत नहीं है। यह रूप पृथिवी आदि की तरह जड़ नहीं है। इसी तरह योगियों को भी इसके दर्शन सदा नहीं होते। किन्तु महान् ज्ञान दृष्टि से ही अदभ्रचक्षुषा दर्शन होते हैं। यह जगत् भगवान् का प्रतिकृति रूप है। अतः वेदप्रतिपाद्य भगवान् से सम्बन्ध होने पर, यह विराट् देह जगत् भी श्रुति से प्रतिपादित 'विश्वतश्चक्षु' इस रूप की तरह ध्यान करने योग्य है। इसी का निर्देश 'सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्' से किया गया है। 'सहस्र' का यहां 'अपरिमित' अर्थ होता है। अर्थात् उस विराट् के अपरिमित पैर ऊरू भुजा आनन आदि हैं। 'अनेक वक्त्र नयनम् इत्यादि वाक्यों से गीता में प्रतिपादित रूप की तरह यह विराट्, अनेकों पैर उरू भुजा तथा मुखों से युक्त अत्यन्त अद्भुत है। पाद ऊरू भुजा और मुख इनमें क्रियाशक्ति अधिक होती है। इसलिये यहां ये चारों अङ्ग क्रिया शक्ति रूप से कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि पैर से गमन ऊरू से सृष्टि भुजाओं से कार्य और मुख से परिभाषण रूप क्रियायें होती हैं। तदनन्तर ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्रियों का वर्णन करते हैं। इन विराट् के 'सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकम्' अपरिमित मस्तकों में अपरिमित कर्ण, नेत्र और नासिकाएं हैं। यह तीनों इन्द्रियां दो दो हैं। अतः दो दो देवता वाली ये इन्द्रियां ज्ञान के अंगरूप से बाहर प्रसिद्ध हैं। रसनेन्द्रिय भीतर होती है। अतः आनन पद से ही उसका ग्रहण हो जाता है। त्वचा एक ही है अनेक नहीं क्योंकि त्वचा से एक ही रूप में सर्वत्र स्पर्श की उपलब्धि होती है। तात्पर्य यह है कि पैर और भुजा में त्वचा है। किन्तु ये दोनों पृथक् पृथक् नहीं, एक ही हैं। क्योंकि पैर भुजा आदि में सर्वत्र एक प्रकार से स्पर्शानुभूति होती है। अतः त्वचा एक ही है।

अब भगवान् के परिकर का वर्णन करते हैं। अपरिमित मुकुट वस्त्र तथा कुंडलों से यह विराट् रूप भगवान् उल्लसित अत्यन्त शोभायुक्त है। इन मुकुट आदि परिकर का 'सहस्रमौल्यंबरकुण्डलोल्लसत्' इत्यादि पंक्ति में अवरोह प्रकार से ऊपर से नीचे यथाक्रम निर्देश किया

गया है। इन परिकरों में प्रथम मुकट के दर्शन होते है। फिर आभरणों के दर्शन होते हैं, तदनन्तर कुण्डलों के होते हैं। इसलिए उपरोक्त क्रम से ही इनका यहां निरूपण किया गया है ।।४।।

आभास—ननु “वाच धेनुमुपासीते” तिवदुपासनाप्रकारेण भगवद्रूपत्वेन जगतो ध्यानसम्भवात्कथमेकान्ततोऽवतारत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका करते है। कि वाचं धेनुमुपासीत-वाणी की कामधेनु के रूप में उपासना करनी चाहिए इस वाक्य में जैसे उपासना के लिए वाणी को, कामधेनु रूप में बताया है, इसी प्रकार यदि जगत् का ध्यान, भगवद् रूप में संभव हो सकता है तो फिर, विराट् पुरुष एकान्ततया अवतार रूप ही है। विराट् पुरुष का अवतार, अवतार ही हैं। यह कैसे कह सकते हैं ? इसके समाधान में यह कथन हैं कि—

श्लोक— **एतन्नानावताराणां निधानम्बीजमव्ययम् ।**
यस्यांऽशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादय : ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—यह विराट पुरुष, विविध अवतारों का निवासस्थानरूप हैं। तथा इनके उद्गम का कारण है, इसी के अंश रूप ब्रह्मा और ब्रह्मा के अंश रूप मरीचि आदि से देवता पक्षी और मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं ।। ५ ।।

सुबोधिनी:—एतन्नानावताराणमिति। अयमर्थः। अवताणां मूलं भगवान्मूलावतरणं वा। तत्र तत्त्वनिर्मितत्वान्न भगवान्। तद्यद्यवताररूपमपि न भवेत्। अन्यावताराणां मूलमपि न भवेत्। अवतारोत्कर्षश्च। अतः पुरुषस्याऽवतारत्वे न सन्देहः। नानावताराणां मत्स्यादीनाम्। निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं स्थानम्। बीजमुद्गमहेतुः। तच्चाऽविनाशि। कन्दवदङ्कुरोत्पत्तौ न नश्यतीत्यर्थः। अवतारप्रयोजनं सूचितं विस्तारयति—**यस्यांऽशांशेनेति**। अंशो ब्रह्मा। तस्यांऽशो मरीच्यादिः। जघनादयो वा। देवादयः सात्विकादिप्रधानाः।। ५ ।।

सुबोधिनी अनुवाद— इसका यह अर्थ है कि अवतारों का मूल अर्थ भगवान् हैं। अथवा मूल का अवतरण ही इन अवतारों का मूल है। तत्वों से निर्मित होने के कारण ये अवतार भगवान् नहीं हैं यह विराट् पुरुष यदि अवतार रूप न हो तो वह अन्य अवतारों का मूल भी नहीं हो सकता और इससे उत्पन्न होने वाले अन्य अवतारों का उत्कर्ष भी नहीं होगा। अतः (विराट्) पुरुष के अवतार होने में तो कोई संदेह नहीं है। यह पुरुषावतार मत्स्यादि नाना अवतारों का स्थान है। और इन सभी के उद्गम का कारण होने से बीज रूप भी है। अंकुर उत्पन्न होने पर जैसे बीज नष्ट हो जाता हैं। वैसे यह नष्ट नहीं होता,

क्योंकि यह अविनाशी रूप बीज हैं। अर्थात् अंकुर उत्पन्न होने पर भी नष्ट नहीं होता,

ऊपर कहे गये सूचित अवतार के प्रयोजन को यहां विस्तार से कहते हैं। यस्यांशांशेन यहां अंशांशेन के दो अर्थ है। जिस पुरुषावतार के अंश ब्रह्मा है। और ब्रह्मा के अंश रूप मरीचि आदि है। अथवा इस पंक्ति के दूसरे अंश शब्द से ब्रह्मा के जघन आदि भी ग्रहण किये जा सकते है। क्योंकि इन अंगांशों से भी सृष्टि की उत्पत्ति कही गयो है। तात्पर्य यह है कि अंशांश तो मरीचि आदि है। उनसे देव, पक्षी, मनुष्यादि की सृष्टि हुई- देवता सत्त्व प्रधान हैं। मनुष्य रजोगुण प्रधान हैं तथा पक्षी तमोगुण प्रधान हैं।

आभास — एवं पुरुषावतारमुक्त्वा तत्प्रकृतिरूपांस्तदंशसृष्टावप्यवतारानाह **स एवेत्याद्येकविंशतिश्लोकैः**—

आभासार्थ—इस प्रकार पुरुषावतार का वर्णन करके इसके ही अंश से उत्पन्न होने वाले तथा इसके तुल्य ही प्रकृति वाले अवतारों का कथन २१ श्लोकों से कहते है—

श्लोक— स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—वही पुरुषावतार अथवा भगवान् नारायण, प्रथम सृष्टि में सनत्कुमार रूप से प्रकट हुए और उन्होंने ब्राह्मण स्वरूप में लोक में दुश्चर ऐसे अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—सर्वत्राऽवतारनाम प्रयोजनं चोच्यते। अवतरणरूपस्य तुल्यत्वेन आवेशाऽवतारयोरविशेषेण निरूपणम्।

सुबोधिनी अनुवाद— अग्रिम सब श्लोकों में अवतार का नाम और वह अवतार किस लिए हुआ उसका प्रयोजन कहा जाता हैं। आवेश और अवतार इन दोनों में भगवान् का अवतरण समान रूप से है इसलिए, आवेश तथा अवतार इन दोनों का ही सामान्य रूप से निरूपण किया गया है।

कारिका— सत्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः सङ्क्रमः स्मृतः।
अशुद्धशुद्धभेदेन शरीराणामतो द्विधा।
कार्यकाले सङ्क्रमणमावेशः सर्वदा परम् ॥

कारिकार्थ—सत्व रूप शरीरों में ब्रह्म के संक्रमण- आगमन को अवतार कहते हैं। शरीरों के अशुद्ध तथा शुद्ध से यह संक्रमण दो प्रकार का है। किसी कार्य विशेष के समय में संक्रमण को आवेश कहते हैं। सर्वदा के लिये संक्रमण को अवतार कहते हैं। शुद्ध सत्व जिसमें हो वह शुद्ध और जिस सत्व में रज-तम सम्मिलित हो वह अशुद्ध इस तरह इन भेदों से शरीर दो प्रकार के कहे गये हैं।

प्रकाशकार श्री पुरुषोतमजी ने यहाँ अशुद्ध शुद्ध मानेन ऐसा पाठ माना है- तदनुसार इसका अर्थ होगा- अशुद्ध शुद्ध भाव से शरीर दो प्रकार के हैं- इसलिये अवतार भी दो प्रकार के हैं कार्य करने के समय संक्रमण आवेश है और सर्वदा स्थिति के लिये संक्रमण अवतार कहलाता है। कारिका में 'परम्' शब्द का अर्थ है, दूसरा अवतार।

यहां तो आवेश और अवतार का सामान्य रूप से निरूपण किया है- विशेष रूप से अर्थात् यह आवेश है, और यह अवतार है इस प्रकार नहीं कहा- अतः दोनों का निश्चय कैसे होगा ? अतः कहते हैं कि 'तत्र निर्णयो वैष्णवतन्त्रै निरूपितः।' इसका निर्णय वैष्णव तंत्र में निरूपित किया गया है।

कारिका— क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्या चाऽवतारं करोत्यजः।
वाराहादिस्वरूपेषु बलकार्यं जनार्दनः॥
दत्तव्यासादिरूपेषु ज्ञानकार्यं तथा प्रभुः।
मत्स्यकूर्मवराहाश्च सिंहवामनभार्गवाः॥
राघवः कृष्णबुद्धौ च कृष्णद्वैपायनस्तथा।
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः॥
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च।
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान्॥
तथैव वडवावक्त्रः कल्की धन्वन्तरिः प्रभुः।
इत्याद्याः केवलो विष्णुर्न विशेषोऽत्र कश्चन॥
श्रीब्रह्मरुद्रशेषाश्च वीन्द्रेन्द्रः काम एव च।

कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।।
कश्यपः सनकाद्याश्च ब्रह्माद्याश्चैव देवताः ।
भरतः कार्त्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः ।।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ।
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्राश्चाऽनिरुद्धतः ।।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।
इहोक्तिरविशेषेण सामान्यत इति स्फुटम् ।।

प्रथमं ब्रह्मणः सनकादय उत्पन्नाः । तेष्वावेशः । तस्य प्रयोजनं ब्रह्मचर्यमिति । न हि जीवस्य ब्रह्मचर्यं सम्भवति । इन्द्रियवत्त्वात् । यथा हि क्षुदग्निराविर्भूतः सोढुमशक्यः । एवं बीजाधारकामाग्निरपि । तत्र यथा जलपानं, तथा स्त्रीप्रेक्षणादि । यथाऽन्नतृप्तिस्तथा स्त्रिया रेतोनिवृत्तिः । तत्र मनसाऽपि स्त्रीणामस्मरणेन रेतोधारणं ब्रह्मचर्यम् । तद्भगवदावेशेनैव भवतीति प्रथमं सनत्कुमारावतारः । स एव देवो नारायणः । कौमारं सनत्कुमाररूपम् । स्त्रीभिर्जलरूपै(?) बीजे वृद्धे यौवनं भवति । तदभावात्तेषु सर्वदा कौमारमेव । कुत्सितो मारो यस्मादिति । **दुश्चरमिति** । लोकेऽस्य चरणमप्रसिद्धम् । अखण्डितं यथा भवति तथा । अस्य हि प्रतिक्षणं नाशसम्भवः ।।६।।

कारिकार्थ—भगवान् जनार्दन जो अजन्मा है— क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति से अवतीर्ण होते हैं । वराह आदि के रूप में भगवान् ने बल का कार्य किया है– इसलिये ये क्रियाशक्ति के अवतार है ।

दत्तात्रेय, व्यास, कपिल आदि के रूपों में भगवान् ने ज्ञान का कार्य किया है इसलिये ये ज्ञानशक्ति के अवतार है । बाह्य दुःख मिटाने के लिये क्रियाशक्ति से और आन्तर दुःख मिटाने के लिये भगवान् ज्ञानशक्ति से अवतार लेते हैं ।

मत्स्य–कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, कृष्ण, द्वैपायन, कपिल दत्त, ऋषभ, रुचिपुत्र, यज्ञ, नारायण, हरि, जिसने साम्ब की प्राप्ति के लिये तपश्चर्या की

वह कृष्ण, मनु, महिदास, हंस, मोहिनी, हयग्रीव, वडवावक्त्र, कल्कि, धन्वतरि इत्यादि केवल विष्णु हैं। किसी में यहां कोई विशेषता नहीं, सभी समान है। इन कारिकाओं में जहां एक ही नाम दो बार आया है, वहां उनमें भगवान् का विशेष संक्रमण समझना चाहिये।

लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र शेष, गरुड़, इन्द्र, कामदेव, कामपुत्र, अनिरुद्ध, सूर्य,चन्द्र, बृहस्पति, धर्म तथा इनकी भार्या, दक्षादि और मनु, मनुपुत्र, ऋषि नारद, पर्वत, कश्यप, सनकादि, ब्रह्मादि देवता, भरत, सहस्रार्जुन, चक्रवर्ति पृथुराजा, गय, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, रोहिणीपुत्र बलराम, रुक्मिणिपुत्र प्रद्युम्न अनिरुद्ध उनके पुत्र, नर-अवतार-अर्जुन इत्यादि भगवान् के विशेषावेशी हैं– अर्थात् इनमें भगवान् का विशेष आवेश है।

यहां 'विशेषावेशिन' में विशेष पद इसलिये दिया है कि साधारण आवेश तो सूत आदि में भी हो सकता है– उनका यहां ग्रहण न कर लिया जावे।

यहां, इन सभी में भगवान् का संक्रमण समान रूप में है– इसलिये ये सभी सामन्य रूप से कह दिये गये हैं– इनमें कोई अंशावतार हैं, और कोई कलावतार हैं।

कौमार, आर्ष प्राजापत्य और मानव ये सर्गविशेषों के नाम है। पहले ब्रह्मादि से सनकादि हुये– उनमें भगवान् का आवेश है। उनका सनक सनन्दन इत्यादि रूप धारण करने का प्रयोजन हैं ब्रह्मचर्य का पालन करना। इन्द्रियों से युक्त होने के कारण जीव से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। जब तक भूख को उत्पन्न करने वाली अग्नि है– तब तक भूख का सहन करना अशक्य है। भूख को शान्त करने का उपाय करना ही पडता है– इसी तरह बीज की आधारभूत कामाग्नि के विषय में समझना चाहिये। भूख को शान्त करने के लिये जैसे भोजन आवश्यक है, उसी तरह काम को शान्त करने के लिये, स्त्रियों के साथ वार्तालाप आदि है। अन्न द्वारा जैसे क्षुधा की निवृत्ति द्वारा तृप्ति होती है उसी तरह स्त्री सेवन से बीज की आधारभूत कामाग्निकी शान्ति से तृप्ति होती है। इसलिये इन्द्रियवान् जीव के लिये ब्रह्मचर्य संभावित नहीं है। स्त्रियों का मन से भी स्मरण किये विना, वीर्य को धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन वही कर सकता है जिसमें भगवान् का आवेश हो। इसीलिये, प्रथम सनत्कुमार का अवतार है। यही भगवान् नारायण है। ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताने के लिये प्रभु ने प्रथम सनत्कुमार का रूप धारण किया। बीज के ऊपर जल सिंचन से, जिस तरह यह वृद्धिगत होता हुआ वृक्ष बनता है, उसी तरह स्त्रियां जो जल रूप है उनसे जब बीज बढता हैं तब वह उत्तरोत्तर यौवन को प्राप्त होता है। स्त्री रूप जल से सम्बन्ध के अभाव में

सनत्कुमारों में सदा कुमारावस्था ही रही– जिससे कामदेव तुच्छ किया गया हो उसे कुमार कहते हैं अर्थात् कामदेव का प्रभाव उस पर कुछ भी असर नहीं करता। अत: लोक में इस प्रकार अखंड ब्रह्मचर्य पालन करना प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि उसका यहां प्रतिक्षण नाश संभव है ।।६।।

श्लोक– द्वितीयं तु भवायाऽस्य रसातलगतां महीम् ।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ।।७।।

श्लोकार्थ—इस प्रपंच का विस्तार से निर्माण करने के लिये रसातल में स्थित पृथिवी का उद्धरण करने वाले यज्ञेश भगवान् ने वराह का शरीर धारण किया यह भगवान् का दूसरा अवतार है ।।७।।

सुबोधिनी—स्वर्गादौ जगन्निर्माणे अस्य प्रपञ्चस्य भूयस्त्वं न भवेदिति वराहेण भूम्युद्धरणं द्वितीयम् । एषामवताराणां विचारो द्वितीयस्कन्धे करिष्यते। अत्र तूद्देशमात्रेण निरूपणम्। आदिवराहकल्पे निर्मिता भूमिर्वराहकल्पे उद्धृता । तदाह—**रसातलगतामिति** । विरोधपरिहारं चाऽग्रे वक्ष्यामः । उद्धारं करिष्यन् सौकरं वपुरुपादत्त । नाऽयं पुरुषावतारः । किन्तु यज्ञाधिष्ठातृधर्मरूपभगवदवतारः । क्रियायास्तन्मूलकत्वात् । अयं मन्युरूपः क्षत्रिये प्रतिष्ठित इति द्वितीयत्वम् ।।७।।

सुबोधिनी अनुवाद— स्वर्ग आदि कर्म भूमि नहीं है इसलिये वहां यदि जगत् का निर्माण किया जाता तो इस प्रपंच का अत्यधिक विस्तार नहीं होता, इसलिये भगवान् वराह ने भूमि का उद्धार किया तदनुसार इस द्वितीय अवतार का निरूपण करते हैं इन अवतारों का विचार द्वितीयस्कंध के ७ वें अध्याय में करेंगे, यहां तो संक्षेप में (उद्देश्य मात्र से) निरूपण है । सब कल्पों का जो आधिदैविक रूप है और जिसका तृतीयस्कंध के त्रयोदशाध्याय में निरूपण किया गया है । उस आदिवराह कल्प में, वराह के जन्म दिवस पर निर्मित पृथ्वी को जो रसातल में चली गयी थी, उसे वराह अवतार ने उद्धृत किया । इसी का निर्देश 'रसातलगतां महीम्' पद में किया गया है। यहां इस श्लोक में पुरुषावतार से वराह का प्रादुर्भाव बताया गया है– और तृतीयस्कंध में ब्रह्मा से बताया है– इस विरोध का परिहार आगे तृतीयस्कंध के त्रयोदशाध्य में करेंगे ।

अस्तु पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् ने शूकर देह धारण किया। यह वराह

अवतार, पुरुषावतार नहीं है, यज्ञ के अधिष्ठातृ धर्म रूप भगवान् का अवतार है क्योंकि यज्ञादि क्रियायें यज्ञाधिष्ठातृ धर्मरूप भगवन् मूलक है।

यहां क्रमप्राप्त द्वितीय अवतार नारदजी का है तो फिर वराह को द्वितीय अवतार कैसे कहा ? इसके समाधान में कहते हैं कि श्रीधरस्वामी के मतानुसार यहां प्रथम द्वितीय शब्द (स एव प्रथमम् द्वितीयं तु भवायाऽस्य) केवल निर्देशक है क्रम बताने वाले नहीं किन्तु यह मत ठीक नहीं है। वस्तुतः यहां प्रथम द्वितीय शब्द किसी दूसरे ही तात्पर्य से हैं– और वह यह है कि यह वराह अवतार मन्यु क्रोध रूप है जैसा कि 'पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः' पशुओं में जो क्रोध है वह वराह है— इस श्रुति के अनुसार यह वराह भगवान् मन्यु रूप है। यही वराह रूप भगवान् अश्वमेध आदि यज्ञों के रूप से क्षत्रियों में स्थित हो गया है इसलिये क्षत्रियों में क्रोध की मात्रा अधिक है और क्योंकि ब्राह्मण से दूसरा वर्ण क्षत्रिय है— इसलिये इसे यहां द्वितीय कहा है ।।७।।

श्लोक– तृतीयमृषिसर्गञ्च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ।।८।।

श्लोकार्थ—उस विराट् भगवान् ने ऋषियों में प्रादुर्भूत होकर नारदरूप तृतीय अवतार को धारण किया तथा पंचरात्र तंत्र को कहा जिसके अनुसार कर्म करने से कर्म बन्धन कभी नहीं होता ।।८।।

सुबोधिनी—नारदे हि भगवदावेशः। ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः। ते च कर्माङ्गभूता इति तृतीयत्वम्। द्रव्यदेवतामन्त्रभेदेन वा। स पुरुष एव प्रथमत ऋषिसर्गमुपेत्य, तत्राऽवतारकार्यमपश्यंस्ततो देवर्षित्वमुपेत्य, नारदे आवेशं प्राप्य सात्त्वतं वैष्णवं तन्त्रं। पञ्चरात्ररूपमाचष्ट। भगवत्परिचर्यानिरूपणं न भगवद्व्यतिरेकेणाऽन्यशक्यमिति। कर्मणां प्ररोहनाशस्तेनेति परिचर्यायां सर्वाणि कर्माण्यङ्गभावं भजन्ते। परिचर्याया भगवद्भक्तित्वेन भगवत्त्वे सर्वेषामेव नैष्कर्म्यम् ।।८।।

सुबोधिनी अनुवाद— नारद में भगवान का आवेश है– इसलिये वे विशेषावतार हैं। वे ऋषि हैं। मन्त्रदृष्टा को ऋषि कहते हैं, वे कर्म के अंगभूत हैं— अर्थात् प्रथम श्लोक में कर्म रूप यज्ञ का निरूपण हुआ है और मन्त्र दृष्टा ऋषि कर्म के अंगभूत हैं इसलिये नारद को तीसरा अवतार कहा गया है। अथवा द्रव्य देवता और मंत्र यहां 'मन्त्र' क्रम से तृतीय है इसलिये मन्त्र दृष्टा होने से नारद तीसरे अवतार हुये। वह पुरुषावतार ही प्रथम, ऋषिसर्ग को प्राप्त करके सनक सनन्दनादि रूप बना किन्तु सनक सनन्दनादि रूप यह ऋषिसर्ग मुख्य तथा ज्ञानी होने के

कारण कर्म का अंगभूत नहीं था, इसलिये तदन्तर वह विराट् पुरुष ही देवर्षि सर्ग को नारद रूप को प्राप्त कर उसमें आविष्ट हुआ तथा पंचरात्र रूप जो वैष्णव तन्त्र है और जिसमें भगवत् सेवा का निरूपण है उसका उपदेश दिया। भगवत् सेवा का निरूपण भगवान् ही कर सकते हैं अन्य नहीं इसलिये, भगवान् नारदजी में आविष्ट हुये।

सेवामें, सम्पूर्ण कर्म सेवा के अंगभूत बन जाते हैं– इसलिये वे कर्म बन्धक नहीं होते। अर्थात् कर्मों की निष्कर्मता हो जाती है। यहां सेवा की ही मुख्यता होती है, कर्मों की नहीं। सेवा भगवद् भक्ति रूप है अतः यह भक्ति भगवद्रूप होने के कारण सभी को कर्म बन्धन से मुक्त रखती है ॥८॥

श्लोक– **तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।**
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥९॥

श्लोकार्थ—धर्म की अंशभूत (स्त्री रूप) श्रद्धा आदि पत्नियों में मूर्ति नामक स्त्री से चतुर्थ अवतार नर नारायण हुआ इन्होंने आत्मा की शान्ति से युक्त दुश्चरतप किया ॥९॥

सुबोधिनी—नरनारायणयोश्चतुर्थाश्रमधर्मप्रतिपादकत्वेन तुरीयत्वम्। अथवा। ब्रह्मचर्ययज्ञभगवत्परिचर्योपशमाः क्रमेणाऽऽश्रमधर्माः। धर्मकलाः श्रद्धादयः। तासां सर्गे जाते पश्चान्मूर्त्तीभूतधर्मरूपा मूर्तिः। धर्मस्तु वेदमूल इति मूर्त्या ऋषिरूपेणाऽऽविर्भूतौ। पारमहंस्यधर्मो द्विविध इति। सहस्रकवचवधार्थमित्यन्यत्र। नारायणोऽवतारः। नरे आवेशः। तयोस्तपो ज्ञानसहितमित्याह—**आत्मोपशममिति**। आत्मन उपशमः शान्तिर्ज्ञानं, ज्ञानसाध्या वा। सर्वत्र हि तपः क्रोधसहितम्। शान्तिसहितं तु लोके दुर्लभमिति **दुश्चरमित्युक्तम्** ॥९॥

सुबोधिनी अनुवाद—नर और नारायण, चतुर्थाश्रम धर्म के प्रतिपादक होने के कारण चतुर्थावतार कहे गये हैं। अथवा ब्रह्मचर्य यज्ञ भगवत्सेवा तथा उपशम में क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम के धर्म हैं। 'अर्धोवा एष आत्मनो यत्पत्नी' इस श्रुति के अनुसार, पत्नी, मनुष्यका अर्द्ध भाग है, इसलिये श्रद्धा आदि जो धर्म की पत्नियां हैं वे धर्मकला अर्थात् धर्म का अंश रूप कही गई हैं इन श्रद्धा आदि के उत्पन्न होने पर, पीछे मूर्तिभूत जो धर्म है उसी का रूप जो मूर्ति नाम की स्त्री थी उससे नर नारायण भगवान् हुये। धर्म तो वेद मूलक है, और ऋषियों का वेद से सम्बन्ध रहता है, इसलिये मूर्ति नाम की स्त्री से ऋषि रूप में नर नारायण उत्पन्न हुये।

परमहंसों का धर्म दो प्रकार का है एक तो भक्ति युक्त और दूसरा वैराग्य युक्त और अन्यत्र यह कहा गया है कि सहस्रकवच का वध करने के लिये नर नारायण उत्पन्न हुये। किन्तु श्रीमद्भागवत में तो पारमहंस्य धर्म के उपदेशार्थ दोनों के ही अवतार का कथन है। नारायण अवतार है और नर में भगवान् का आवेश है। 'आत्मोपशमम्' से यह सूचित किया गया है कि नर नारायण द्वारा किया गया लय, ज्ञान सहित था– यहां 'आत्मोपशमम्' शब्द ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि अन्तःकरण की शान्ति ज्ञानरूप कही गई है अथवा आत्मा की शान्ति, ज्ञान साध्य है।

तप सर्वत्र क्रोधसहित माना गया है– शान्ति युक्त तप लोक में दुर्लभ है– इसलिये यहां तप के लिये 'दुश्चरं' शब्द प्रयुक्त हुआ है अर्थात् नर नारायण ने तप करते हुये कामोद्बोधक अप्सराओं के आने पर भी क्रोध नहीं किया– इसीलिये इनके तप को दुश्चर कहा– ऐसा तप किसी अन्य ने नहीं किया।

यहां नर नारायण दोनों एक ही अवतार हैं, भिन्न भिन्न नहीं। अतः दोनों की कृति एक समान एक अवतार के रूप में ही है ।।९।।

श्लोक– पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—पाँचवा अवतार सिद्धों के स्वामी कपिल का हैं, जिसने काल से नष्ट हुए तत्व समूह के निर्णय रूप सांख्य शास्त्र का उपदेश आसुरी ऋषि को दिया ।।१०।।

सुबोधिनी—साङ्ख्यस्य वेदानन्तरभावित्वादाश्रमानन्तरत्वेन पञ्चमत्वम्। पूर्वं हि पुराणेषु साङ्ख्यं सिद्धम्। तत्पुराणानामप्रचाराद्योगादिभिः साङ्कर्याच्च संन्यासस्य चाऽङ्गभूतस्याऽभावात्साङ्ख्यं कालेन विप्लुतम्। पुनः कालविप्लवशङ्का वारयति—**सिद्धेश इति**। सिद्धियुक्ताः सिद्धाः। तेषां मनःसिद्ध्यैव न विप्लुतं भविष्यतीति भावः। **आसुरिर्ऋषिः**। इदं ज्ञानं स्त्रीशूद्रसाधारणमिति प्रवर्तकस्य तादृशं नाम। सङ्ख्या हि पदार्थानामसाङ्कर्यप्रतिपादिका भवति साधर्म्यवैधर्म्यरूपा। तस्याः फलमाह— **तत्त्वग्रामविनिर्णयमिति**। तत्त्वानां समूहस्य विशेषेण निर्णायकम् ।।१०।।

सुबोधिनी अनुवाद—सांख्यज्ञान, वेदज्ञान के अनन्तर होता है। वेदोक्त ब्रह्मचर्यादि, चारों आश्रम, धर्मो के अनन्तर सांख्य का ज्ञान होता है इसलिये कपिल को पांचवा अवतार कहा है।

पहिले पुराणों में, सांख्याज्ञान बतलाया गया था– किन्तु उन पुराणों का प्रचार न होने से एवं उनमें सांख्य के साथ योगादि के मिल जाने से एवं सांख्यज्ञान के अंगभूत संन्यास के वास्तविक रूप से न रहने से यह सांख्यज्ञान काल से नष्ट हो गया था। कपिल से प्रवर्तित यह सांख्यज्ञान पुनः काल से नष्ट नहीं होगा। इसका निर्देश 'सिद्धेश' शब्द से किया गया है। सिद्धि से युक्त को सिद्ध कहते हैं, और कपिल उनके स्वामी ईश हैं। कपिल जैसों की मनःसिद्धि से ही सांख्यज्ञान पुनः लुप्त नहीं हुआ। कपिलदेव ने आसुरी ऋषि को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया। कपिल शब्द का अर्थ है— 'कपीन्विषयात्मकान् लाति' विषयासक्त पापयोनि वाले स्त्री, शूद्र आदि का हित करने वाले को कपिल कहते हैं। यह सांख्यज्ञान, स्त्री शूद्र आदि सबको दिया जा सकता है इसलिये सांख्यज्ञान के प्रवर्तक का नाम 'कपिल' कहा गया है। श्लोकस्य 'आसुरी' पद से आसुरी नाम के ऋषि लिये गये हैं।

जिसमें तत्त्वों की संख्या हो उसे सांख्य कहते हैं। सांख्यशास्त्र ने तत्त्वों की संकरता को मिटाने के लिये उनकी पृथक् पृथक् संख्या में विभाजन किया है। इनमें कितने ही समान धर्म वाले हैं, और कितने ही विरुद्ध धर्म वाले। इस संख्या के फलस्वरूप में तत्त्वों के समूह का विशेष रूप से निर्णय हो जाता है। संक्षेप में - तत्त्वों के समूह का विशेष रूप से निर्णय करने वाला शास्त्र सांख्य कहलाता है ॥१०॥

आभास— योगस्य षष्ठत्वात्तत्प्रवर्तकमाह—

आभासार्थ—ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्य तथा योग इस प्रकार छठा योग है। इसलिये योग के प्रवर्तक अवतार का निरूपण करते हैं।

श्लोक– षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११॥

श्लोकार्थ— छठे अवतार में अत्रि पत्नी अनसूया द्वारा पुत्र रूप से प्रार्थित भगवान् दत्तात्रेय रूप से प्रकट हुये, इन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को योग पुरस्सर आत्मविद्या कही ॥११॥

सुबोधिनीः— षष्ठमिति। अनसूयया मत्सदृशव्याजेन मामेव वृतवतीतीर्ष्याऽभावेन। मात्रा वा। आन्वीक्षिकी योगपुरस्सराऽऽत्मविद्या। अलर्को राजा। स हि राजसः। तत्र शास्त्रपरिनिष्ठायाः सन्दिग्धत्वात्प्रह्लादादिभ्य उक्तवान्। प्रह्लादस्तु स्पष्टः ॥११॥

सुबोधिनी अनुवाद—भगवान् ने सोचा कि अनसूया ने आप जैसा पुत्र हो इस बहाने मुझे मांगा है, इसलिए अनीर्ष्या-पूर्वक भगवान् दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुये- अथवा अत्रि ने उनको चाहा और अनसूया से उन्होंने जन्म लिया। पुराणों मे अनसूया द्वारा तथा अत्रि द्वारा भी भगवान् को पुत्रत्वेन चाहा जाना कहा गया है- इसलिए यहाँ दोनों ही पक्ष लिये गये हैं।

आन्वीक्षिकी का अर्थात् योगपुरः सर आत्म-विद्या का इन दत्तात्रेय भगवान् ने अलर्क नामक राजा को उपदेश किया था- किन्तु वह राजस प्रकृति का था इसलिये 'शास्त्र में उसकी निष्ठा रहेगी या नहीं' इस संदेह से उसी आत्म विद्या को दत्तात्रेय ने प्रह्लाद आदि को कही। प्रह्लाद तो भक्त होने के कारण इस विद्या का अधिकारी था ।।११।।

१- अनसूया पद के दो अर्थ हैं— एक तो ईर्ष्या रहित और दूसरा अनसूया माता।

आभास—एवं ब्राह्मणानां षड्विधत्वमुक्तम्। षट् कर्माणि ब्राह्मणे प्रसिद्धानि। त्रीणि क्षत्रिये। तदर्थं त्रीनाह यज्ञऋषभपृथुरूपान्। शत्रुजयो धर्मनिष्ठा प्रजापालनं चेति त्रिषु प्रतिष्ठितम्। अतो भिन्नक्रमं वक्तुं **तत** इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मणों का छः प्रकार से वर्णन हुआ है- क्योंकि ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्यज्ञान तथा योग के छः कर्म ब्राह्मण मे प्रसिद्ध हैं। यद्यपि, सातवें श्लोक में वर्णित वराह अवतार, क्रोधरूप होने से, क्षत्रियों में परिगणित होना चाहिये, परन्तु, ब्रह्माजी से प्रकट होने के कारण, इस अवतार को भी ब्राह्मणों में गिन लिया गया है।

शत्रुजय, धर्मनिष्ठा और प्रजापालन ये तीन कर्म क्षत्रिय में रहते हैं, इसलिए अग्रिम तीन श्लोकों से यज्ञ, ऋषभ और पृथुरूप अवतारों का वर्णन किया जाता है। पहिले ब्राह्मणों का वर्णन हुआ अब क्षत्रियों का वर्णन होगा, इस भिन्न क्रम को बताने के लिये 'ततः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

श्लोक- ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—इसके पश्चात् सातवें अवतार में रुचि से आकूती नाम की स्त्री में यज्ञ भगवान् हुये, जिसने याम आदि देवताओं के गण सहित स्वायंभुव मुनि की रक्षा की ।।१२।।

सुबोधिनी—आकूतिर्मनुकन्या। स च यज्ञो रुचेर्जातोऽपि पुत्रिकापुत्रः यज्ञो हि ब्राह्मणैः

क्रियमाणः क्षत्रिये फलति । तथा सोऽपि यामाद्यैः प्रथममन्वन्तरदेवादिभिश्चतुर्विधैः समं तपसि स्थितमनुरक्षां विधाय तदनन्तरं पालितवानित्यवतारप्रयोजनम् । प्रियव्रतादयस्तु कल्पान्तरे राजानः प्रथममसमर्था इत्यग्रे उपपादयिष्यते ।।१२।।

सुबोधिनी अनुवाद— आकूती स्वायंभुव मनु की पुत्री थी । यज्ञ भगवान् यद्यपि रुचि नामक प्रजापति से आकूती में उत्पन्न हुये थे, तथापि, स्वायंभुव मुनि ने पुत्री का पुत्र होने के कारण अपने यहां रख लिया था । मनु ने अपनी पुत्री आकूती को देने के समय रुचि से यह स्वीकार करा लिया था कि उसके जो संतान होगी उसे मैं रख लूंगा इस तरह मनु द्वारा पुत्र को ले लेने का तात्पर्य यह हैं कि यज्ञ तो ब्राह्मण करते हैं, और फल मिलता हैं क्षत्रियों को । यहां भी यज्ञावतार, रुचि नामक ब्राह्मण के यहां पैदा हुये और उसे ले लिया स्वायंभुव मनु ने अत: फल प्राप्त हुआ मनु को जो वी क्षत्रिय थे । स्वायंभुव मनु, यज्ञ भगवान् को अपने पृष्ठरक्षक बनाकर, तपश्चर्या में लग गये । तब इन्हीं यज्ञ भगवान् ने याम आदि जो प्रथम मन्वन्तर के चार प्रकार के देवता हैं, उनके साथ, उस मन्वन्तर का पालन किया । यही इस अवतार का प्रयोजन था । प्रियव्रत आदि कल्पान्तर में राजा बने । यज्ञ भगवान् के समय वे समर्थ नहीं थे । इसका आगे प्रतिपादन किया जायेगा ।

श्लोक— **अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।**
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ।।१३।।

श्लोकार्थ— अष्टम अवतार मे तो सभी आश्रमों से वन्दनीय धीरों के पारमहंस्य रूप मार्ग को दिखाते हुये नाभि से मेरुदेवी में ऋषभाऽवतार हुये ।।१३।।

सुबोधिनी—स्वस्थे हि देशकाले सर्वाश्रमधर्मा इति यज्ञानन्तरमृषभकथा । पूर्वोक्तक्रमस्योत्तरत्र विवक्षितत्वादष्टमादिपदप्रयोगः । मेरुदेवी मेरुदुहिता । मातृपुत्रत्वं वारयितुं तुशब्दः । प्रतिपक्षशङ्काभावार्थं वा । अयं तु गुणावतारस्य विष्णोरवतारः । तदाह— **उरुक्रम** इति । ऋषभनिरूपितसंन्यासधर्मे मुख्यं धैर्यं साधनम् । अन्त्याश्रमत्वात्सर्वाश्रमनमस्कृतम् । एषा हि पराकाष्ठा निवृत्तिमार्गे । न त्वन्त्याश्रमित्वेन पाषण्डत्वसम्भावनेति नमस्कृतम् ।।१३।।

सुबोधिनी अनुवाद— देश और काल के स्वस्थ होने पर सभी आश्रमों के धर्म भी स्वस्थ रहते हैं । यज्ञावतार ने प्रथम सुरक्षापूर्वक देश और काल को स्वस्थ बना दिया था इसलिये यज्ञावतार के अनन्तर ऋषभदेव का वर्णन किया गया है ।

अवतारों के लिये पहिले जो एक, दो, तीन क्रम चला आरहा है उसी क्रम से यहां भी अष्टम आदि क्रम समझना चहिये ।

मेरुदेवी– अर्थात् मेरु की पुत्री । श्लोकस्य– "मेरुदेव्यां तु" पद में "तु" का तात्पर्य है कि यह पुत्र माता के समान नहीं था । अथवा बुद्धावतार की तरह ये वेद विरुद्ध नहीं चले । 'तु' पद का यह भी तात्पर्य होता है । यह ऋषभावतार, गुणावतार विष्णु का अवतार हैं– इसी अभिप्राय को यहां उरुक्रमः– बहुत पराक्रम वाले– पद से स्पष्ट किया गया है ।

ऋषभदेवजी द्वारा निरूपित संन्यास धर्म में धैर्य को मुख्य साधन माना है । यह आश्रम अंतिम होने के कारण, सर्व आश्रमों से वन्दनीय है । ऋषभदेवजी का आचरण निवृत्ति मार्ग की पराकाष्ठा है । अन्त्याश्रम होने के कारण यहां पाखण्ड की संभावना नहीं करना चाहिये । इसी का निर्देश 'नमस्कृतम्' पद से किया गया है । पाखण्डधर्म कदापि नमस्करणीय नहीं होता । यह अवतार मेरु की पुत्री में नाभि से हुआ है– इस अवतार ने, सर्व आश्रमों से नमस्करणीय धीरों के मार्ग को बताया ।।१३।।

श्लोक– ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थवं वपुः ।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनाऽयं स उशत्तमः ।।१४।।

श्लोकार्थ— हे ब्राह्मणों ! उस विराट् पुरुष भगवान् ने, नवम अवतार में पृथु संबन्धी शरीर को धारण किया । उसने पृथ्वी से ओर्षधि रूप सभी वस्तुओं का दोहन किया, इसलिये यह भगवान् परम रमणीय है ।।१४।।

सुबोधिनी— पृथुस्त्वावेशी । पृथोः सम्बन्धि वपुरिति वचनात् । अयं तु पुमानेव । स इति वचनात् । **"श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञामि"** ति वचनात्सर्वात्मकत्वाच्च भगवतः सर्वहितकारी धर्मं ऋषभधर्मादप्युत्तम इति पृथोर्नवमत्वम् । ननु कथं वेनादवतारः ? तत्राऽऽह— **ऋषिभिर्याचित इति** । तत्राऽपि न साक्षात् । किन्तु पृथुशरीरे । **दुग्धा** अदुग्ध, दोग्धा वा । अलौकिकत्वार्थं छान्दसपदप्रयोगः । इमामोषधीरिति द्विकर्मकम् । कर्मद्वयस्याऽप्यभीष्टत्वात् । एवं सर्वेषु द्विकर्मकेषु बोद्धव्यम् । विशेषेण पूरका इति सम्बोधने भवद्भिरेव बहुदोहेन सर्वं पूरितमिति ज्ञापितम् । दोहनमेवाऽवतारकार्यम् । न जीवसाध्यमिति । तेनाऽयं सः । तेन हेतुना पृथुर्नारायण इत्यर्थः । विशेषमाह । उशत्तमः । एवं सर्वोपकारकोऽवतारान्तरेष्वपि दुर्लभ इत्यतिकमनीय इत्यर्थः ।।१४।।

सुबोधिनी अनुवाद— पृथु ने अवतार लिया ऐसा न कहकर पृथु सम्बन्धी देह को धारण किया। इस कथन का यह आशय है कि पृथु आवेशावतार हैं। यह पुरुष ही था– क्योंकि श्लोक में 'सः' इस पुंलिङ्गवाची सर्वनाम का प्रयोग किया गया है।

'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्'— राजाओं के लिये प्रजापालन करना ही कल्याण रूप है– इसलिये, तथा भगवान् सबकी आत्मा हैं, अतः सर्वहितकारी धर्म पृथु राजा में है। यह धर्म ऋषभदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म से भी उत्तम है, इसलिये पृथुराजा, भगवान् का नवम् अवतार हैं।

जव यह अवतार ऊपर कहे गये धर्मों से सब हितकारी आत्मधर्म का संस्थापक है, तो यह वेन जैसे दुष्ट राजा से क्योंकर पैदा हुआ? इस शंका का यहां उत्तर देते हैं कि 'ऋषिभिर्याचितः' ऋषियों से प्रार्थना किये गये भगवान् साक्षात् पृथु रूप में अवतरित न होकर, पृथु के शरीर में आविष्ट हुए। इन्होंने इस पृथ्वी से ओषधियाँ आदि सभी वस्तुओं का दोहन किया। 'इमाम्' शब्द से यहां पृथ्वी का ग्रहण किया गया है। 'दुहधातु' द्विकर्मक है– पृथ्वी तथा ओषधि दोनों ही उसके कर्म हैं और यह दोनों ही कर्म अभीष्ट हैं। इस प्रकार सभी द्विकर्मक धातुओं में समझना चाहिये। यहां 'दुग्धेमाम् में जो दुग्धा पद है वह 'अदुग्ध' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अलौकिक घटना का निर्देश करने के लिये– यहां 'दुग्धा' यह छान्दस प्रयोग किया गया है– पृथ्वी से ओषधियों का इस प्रकार से दोहन अलौकिक ही है। छान्दस– प्रयोग होने से 'दुग्धा' में अट् अभाव आदि कार्य हुये, इसलिये, अदुग्ध की जगह दुग्धा का प्रयोग किया गया है— यहां दोग्धा ऐसा पाठ भी मिलता है। यहां 'विप्राः' पद संबोधन है– इसका अभिप्राय है– तुमने भी ज्ञान का बहुत दोहन करके, उससे सबको विशेष रूप से परिपूर्ण कर दिया है– क्यों कि 'विशेषेण पूरकाः विप्राः' इस अभिप्राय से यहां 'विप्राः' का प्रयोग किया गया है।'

पृथुअवतार का कार्य ही दोहन करना है– यह कार्य जीवसाध्य नहीं है। इसी कारण पृथुनारायण का आवेशी है, अर्थात् पुरुष का आवेशावतार है। इस अवतार की विशेषता यह है कि यह परम रमणीय उशत्तम है। अर्थात् इस प्रकार का सर्वोपकारक अवतार, अन्य अवतारों में भी दुर्लभ होता है। इसलिये इसे अतिकमनीय कहा गया है ॥१४॥

आभास—एवं क्षत्रियभावेन त्रितयं निरूप्य वैश्यभावेन चतुष्टयमाह रूपमित्यादित्रिभिः–

आभासार्थ—इस तरह 'ततः सप्तम आकूत्यां' आदि तीन श्लोकों से क्षत्रिय भाव वाले तीन अवताओं का निरूपण करके, वैश्य भाव वाले चार अवतारों का 'रूपं स जगृहे' आदि तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक– रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तरसम्प्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में होने वाले प्रलय में इस विराट् पुरुष ने मत्स्य का रूप धारण किया, तथा पृथ्वीरूप नाव में बैठाकर वैवस्वत मनु सत्यव्रत राजा की रक्षा की ।।१५।।

सुबोधिनी— वञ्चनेन कार्यसिद्धिर्वैश्यता । "**सत्याऽनृतं तु वाणिज्य**" मिति वचनादेकं वञ्चकमपरं न विपरीतं च । चाक्षुषमन्वन्तरानन्तरं प्रलयो बाधित इति मायिकत्वं केचिदाहुः । वस्तुतस्तु स्वायम्भुवादीनां क्रमनियमेन न प्रतिकल्पं चतुर्दशत्वम् । अधिकारिणां मुक्तिसम्भवात् । तस्माच्चाक्षुष एव कदाचिच्चतुर्दशो भवति । कल्पेषु सात्त्विकादिविभेदान्मुख्यस्य प्राथम्यम् । सात्त्विकानि चत्वारि । इतरयोः पञ्च पञ्च । अतो बहुवाक्यानुरोधादुपपत्तिसम्भवाच्च न प्रलयस्य मायिकत्वम् । मार्कण्डेयदृष्टस्य तु तत्रैव स्फुटं प्रतिपादितमित्यदोषः । पृथिव्या देवरूपत्वान्नौकारूपताऽपि भवति । स च मन्वन्तरान्तरे विवस्वत उत्पन्न एवाऽस्मिन्मन्वन्तरेऽधिकारी भवति । अतोऽपि न मायिकत्वम् । भक्तपरिपालनमवतारधर्मः **वैवस्वतमनुरिति** भाविनी संज्ञा ।।१५।।

सुबोधिनी अनुवाद— वंचनापूर्वक कार्य सिद्ध करना वह वैश्य का लक्षण है, क्योंकि 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' जिसमें सत्य और झूंठ हो उसको वाणिज्य- वणिक् व्यवहार कहते हैं। तदनुसार, यहां अवतार में मत्स्य का रूप तो वंचक है– किन्तु उसके वचन वंचना करने वाले नहीं हैं। वैश्य में इससे विपरित है। वैश्य का रूप वंचक नहीं होता– किन्तु उसके वचन वंचक होते हैं। इस तरह यहां इस मत्स्यावतार में सत्य भी है अनृत भी है। चाक्षुषमन्वन्तर के बाद प्रलय नहीं हो सकता, इसलिये इस प्रलय को, जिसमें मत्स्यावतार का उपदेश हुआ, इसे श्रीधर स्वामी आदि मायिक कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कल्प के समाप्त होने पर दैनंदिन प्रलय होता है। चौदह मनु पूरे हो जाने पर कल्प की समाप्ति होती है। चाक्षुषमनु छठा है। इसलिये चाक्षुषमन्वन्तर के बाद प्रलय नहीं हो सकता– इसलिये श्रीधर स्वामी आदि इस प्रलय को मायिक बताते हैं।

परन्तु कई क्रम हैं। इसलिये स्वायंभुवमनु प्रत्येक कल्प में क्रम नियम से चतुर्दश ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि अधिकारियों के भक्त होने से उनकी मुक्ति सम्भव है, इसलिये कदाचित् चाक्षुष ही चतुर्दश हो सकता है और तदन्तर प्रलय सम्भव है। सात्विक, राजस और

तामस भेद से कल्प तीन प्रकार के हैं। ऐसी स्थिति में राजस में पांच, तामस में पांच तथा सात्विक में चार मनु होते हैं। इस तरह चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है। बहुत से वाक्यों के अनुरोध से, तथा चाक्षुषमनु के चतुर्दश होने में युक्ति के सम्भव होने से भी चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है और तदन्तर प्रलय भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में इस प्रलय को मायिक मानना उचित नहीं।

"मार्कण्डेय को जिस तरह मायिक प्रलय दिखाई दिया था, उसी तरह, यहां भी मायिक प्रलय है।" श्रीधर स्वामी आदि का यह कथन ठीक नहीं है- क्योंकि मार्कण्डेय के समय का जो प्रलय है उसके लिये तो शब्दत: यह कहा गया है कि वह प्रलय माया से दिखलाया गया है। किन्तु चाक्षुषमन्वन्तर के बाद होने वाले प्रलय को मायिक बताने वाला कोई शब्द नहीं है। अत: यह प्रलय मायिक नहीं है।

पृथ्वी देवता रूप है इसलिये वह नौका रूप बन सकती है। उस पृथ्वीरूप नौका में बैठकर मत्स्यावतार ने वैवस्वतमनु की रक्षा की। वह सत्यव्रत राजा दूसरे मन्वन्तर में विवस्वान् से पैदा हुआ है। इस मन्वन्तर में वह अधिकारी हो गया। इसलिये भी यह प्रलय मायिक नहीं है। इस मन्वन्तर का धर्म, भक्त का परिपालन था ॥१५॥

आभास—वैवस्वतमनुरिति भाविनी संज्ञा—

आभासार्थ— श्लोक में जो वैवस्वतंमनु कहा है उसका तात्पर्य वह है कि जिसको मत्स्यावतार ने प्रलय में उपदेश दिया था उसका नाम तो सत्यव्रत था, परन्तु भविष्य में वह वैवस्वतमनु बना। इसलिये भविष्य में होने वाली संज्ञा को लेकर यहा वैवस्वतमनु कहा।

श्लोक- सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥१६॥

श्लोकार्थ— एकादशावतार में उसी विराट् पुरुष ने देवता और दैत्यों के समुद्र मन्थन करने के ससय कच्छपरूप बनकर मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया ॥१६॥

सुबोधिनी—कापट्ये नैवाऽमृतमथनार्थं प्रवृत्तः कूर्मस्याऽपि वञ्चकहितकारित्वदत्र प्रवेशः। पूर्वकल्पस्थत्वान्मत्स्यस्य न क्रमो बाधकः। वञ्चनाधिक्यादेकादशत्वम। एवमुत्तरत्राऽपि। उदधिं मथ्नतां सुरासुराणां सम्बन्धि **मथनसाधनं** मन्दराचलं धृतवान्। कमठः कच्छपः।

पृष्ठेन धारणमवतारसाध्यं जले ह्यनाधारे। ननु पृष्ठस्य पिच्छलत्वात्कथं धारणं सम्भवति? तत्राऽऽह—**विभुरिति** ।।१६।।

सुबोधिनी अनुवाद— "क्लेश भाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फल ग्रहाः" भगवान् ने देवताओं से कहा था कि दैत्यों को क्लेश होगा और तुम्हें फल मिलेगा। इस प्रकार, अमृत मन्थन के लिये कपट से ही प्रवृत्त हुये इसलिये उन्होंने वंचक का कार्य किया। उस वंचक का हित करने वाला कूर्मावतार था इसलिये इस कूर्मावतार की भी वैश्य भाव में गणना हुई। मत्स्यावतार पूर्व कल्प का है, इसलिये यहाँ मत्स्यावतार के अनन्तर कूर्मावतार कहा गया है। इसमें क्रम बाधक नहीं है। समुद्र मन्थन के समय में भगवान् ने पहले सर्प का मुंह पकड़कर मत्स्यावतार से अधिक वंचना की। यहां वंचना की अधिकता के कारण कूर्मावतार एकादश अवतार है। इसी तरह अग्रिम संख्या के विषय में भी समझ लेना चाहिये। समुद्र को मथने वाले देवता और दैत्यों के मंथन साधन मंदराचल को भगवान् ने अपनी पीठ पर कच्छप रूप से धारण किया। पृथ्वी न होते हुये भी जल में ही इस तरह बड़े पर्वत को धारण करना सामान्य कच्छप का कार्य नहीं है, अवतार साध्य है। इसलिये यह कच्छप अवतार हैं। कच्छप की पीठ तो फिसलनी होती है, उस पर मन्दराचल कैसे स्थिर किया जा सका? इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'विभुः' वह भगवान् सर्व समर्थ है ।।१६।।

आभास—एकस्य द्विरूपत्वमाह—

आभासार्थ— एक ही धन्वन्तरि के दो रूप बताते हैं।

श्लोक— धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्याऽमोहयत्स्त्रिया ।।१७।।

श्लोकार्थ— धन्वन्तरि ही बारहवाँ एवं तेरहवाँ अवतार है। धन्वन्तरि रूप से अमृत लाये तथा मोहिनी स्त्री रूप से दैत्यों को मोहित करके, देवताओं को उसका पान कराया ।।१७।।

सुबोधिनी:--धान्वन्तरमिति। अत्र मादेशश्छान्दसः। द्वादशे मातीति वा। धन्वन्तरिपदेनैव आयुर्वेदप्रवर्तनादेः स्पष्टत्वात्। प्रकृते त्वन्यार्थकथनान्नाऽवतारप्रयोजनमित्युक्तम्। धान्वन्तरमेव त्रयोदशम्। एव च शब्दौ सन्देहविरोधनिवारकौ। धान्वन्तरं रूपं धन्वन्तरेः सम्बन्धि। देवकर्तृकपानकर्मत्वादमृतस्य न भगवत्कार्यमिति प्रयोजककर्तरि सुरा एव कर्मत्वेनोक्ताः। अर्थादमृतम्। अत्र त्रयोदशस्यैव चरित्रमुच्यते— **अपाययदिति**। अन्यानसुरान्।

स्त्रिया करणभूतया अमोहयदिति च। अयमभिप्रायः। न हि भगवान् स्त्रीरूपेण सर्वैर्दृश्यते। सुरैर्भगवद्रूपेणैव दृश्यते। राहुसूचनाच्च। अतो वस्तुतो धन्वन्तरिरूपमेव। आकृत्यन्तरबोधनं तु सामर्थ्यात्। अमृतहस्तस्य निर्गतस्य विच्छेदेनाऽस्य रूपस्य दर्शनात्त्रयोदशत्वम् ॥१७॥

सुबोधिनी अनुवाद— यहां द्वादशमम् त्रयोदशमम् की जगह द्वादशम् एवं त्रयोदशम् होना चाहिये था किन्तु छन्द के आग्रह से 'मट्' आदेश किया गया है। तदनुसार द्वादशमम् त्रयोदशमम् प्रयोग हुए हैं। अथवा द्वादश में त्रयोदश में जो समाजाता हो इस अर्थ में भी ये प्रयोग हो सकते हैं।

इस श्लोक में धन्वन्तरि अवतार का कोई प्रयोजन नहीं बताया गया है, किन्तु धन्वन्तरि पद से ही आयुर्वेद प्रवर्तन का कार्य स्पष्ट है। इसलिये, प्रयोजन को अलग नहीं कहा। आयुर्वेद तो जीव के लिए हैं, वह अवतार का प्रयोजन न होने से, उस प्रयोजन को यहां स्पष्ट नहीं कहा है। यहां एक ही अबतार बारहवां तथा तेरहवां कैसे हो सकता है। इस संदेह की निवृत्ति के लिये मूल में 'एवं' पद का प्रयोग किया गया है। धन्वन्तरि पुरुष अवतार हैं तथा मोहिनी स्त्री अवतार है। अतः परस्पर इस विरोध का निवारण 'च' पद से किया गया है। धन्वन्तरि का अर्थ है धन्वन्तरि सम्बन्धी रूप। अमृत का पान देवताओं ने किया है, अतः उसका पान करना यह भगवत् का कार्य नहीं। इसलिये, भगवान् यहाँ कर्ता हैं। देवगण कर्म हैं। यहां 'पा' धातु का 'अपाययत्' ऐसा 'ण्यन्त' प्रयोग है, जिसका अर्थ होता हैं– पान कराया भगवान् ने किसका पान कराया ? अमृत का। इस तहर मूल में 'अमृत' पद नहीं है। तथापि अर्थ से प्राप्त होता है। अपाययत् यहां अमृतपान कराने का जो चरित्र है– वह तेरहवें अवतार का कार्य है। उसने अपने स्त्री रूप से असुरों को मोहित किया। वास्तव में मोहिनी का जो रूप था, वह स्त्री रूप नहीं था। भगवान् स्त्री रूप से ही वहां सबको दिखाई नहीं दे रहे थे– देवताओं ने तो भगवान् के रूप में ही उनके दर्शन किये स्त्री रूप में नहीं। यदि देवताओं को भी भगवान् के स्त्री रूप में दर्शन हो जाते तो स्त्री तो राहु को दण्ड देने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः ऐसी स्थिति में यह राहु है ऐसी सूचना चन्द्र और सूर्य द्वारा भगवान् को नहीं दी जाती। इसलिये दैत्यों को जो स्त्री रूप दिखाई दिया इससे मानना होगा कि वह वस्तुतः धन्वन्तरि का ही रूप था। और देवताओं को यही रूप दिखाई दिया स्त्री रूप नहीं। भगवान् ने अपनी सामर्थ्य से ही दैत्यों को अपने अन्य रूप को बताया। जो धन्वन्तरि भगवान् अमृत कलश हाथ में लेकर निकले थे उन्हीं का दैत्यों ने अन्य रूप से– स्त्री रूप से दर्शन किया इसीलिये मोहिनी रूप से इसी अवतार को त्रयोदश भी कहा। दैत्यों ने, धन्वन्तरि से इस रूप

को भिन्न रूप से देखा इसलिए त्रयोदश संख्या में विरोध नहीं आता । यहां भी दैत्यों की वंचना की गई है । अत: ये भी वेश्य भाव के ही अवतार हैं ॥१७॥

आभास—एवं चतुष्टयं निरूप्य पुनरन्येनोत्कृष्टप्रकारेण परम्परां निरूपयितुं नारायणवन्नृसिंहं निरूपयति—

आभासार्थ– इस प्रकार मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरी और मोहिनी इन चारों अवतारों का निरूपण करके पुनः उत्तम प्रकार से अवतार परम्परा का निरूपण करने के लिए, नारायण की तरह नृसिंह भी साक्षात् भगवान् के ही अवतार हैं यह निरूपण करते हैं—

श्लोक—**चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।**
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—चौदहवां नृसिंह रूप धारण करके, भगवान् ने अपने हाथ के नखों से, बलिष्ठ हरिण्यकशिपु को जंघा पर पटककर, उसी तरह चीर डाला जिस तरह चटाई बुनने वाला एरका को एरा से चीरता है ॥१८॥

सुबोधिनी—पुष्टिमार्गोऽयमिति पूर्वस्माद्विशेषः । पूर्वस्य क्रमस्य विवक्षितत्वाच्चतुर्दशत्वम् । नरसिंहसम्बन्धि नारसिंहं रूपम् । द्विरूपत्वेनाऽलौकिकत्वात्पुष्टित्वम् । अत्र हि भक्तिरेव मुख्या । यतः स्वीयमपि हत्वा तदीयं पालितवान् । दैत्येन्द्रं हत्वा दैत्यं च । इन्द्रपदेनाऽवध्यता च सूचिता । वधे हेतुः– **ऊर्जितमिति** । करजैर्नखैः । **ऊराविति** ब्रह्मवाक्यसत्यकरणार्थम् । एरका कटतृणविशेषः । नखैरनादरेण विदारणे दृष्टान्तः– **कटकृद्यथेति** । लोकहितार्थं तद्वध इति सूचितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ– यह पुष्टिमार्ग अनुग्रह मार्ग है । अतः पहले के अवतारों से इनमें विशेषता है । पूर्व का क्रम ही इच्छित होने के कारण, नृसिंह यहां चौदहवां अवतार है । नृसिंह से सम्बन्धित स्वरूप नारसिंह कहलाता है । मनुष्य और सिंह इस द्विरूपता से अलौकिक होने के कारण इस अवतार में पुष्टिरूपता है । क्योंकि पुष्टि में लौकिकता नहीं है । इस अवतार में भगवान् ने भक्ति को ही प्रधानता दी है क्योंकि पूर्व जन्म में, पार्षद रूप में रहने से जो हरिण्यकशिपु आत्मीय था । उसे दैत्येन्द्र को नष्ट कर दिया और उसके पुत्र दैत्य की भगवद्भक्त होने के कारण रक्षा की । यह सब कुछ भक्ति की प्रधानता स्थापित करने के लिए ही भगवान् ने किया । दैत्येन्द्रम् 'इन्द्र पद से वह मारने योग्य नहीं था फिर भी उसे मारा", यह निर्देश किया गया है । ब्रह्मा की सृष्टि में उसका वध किसी से भी सम्भव नहीं था । वह इतना बलिष्ठ था कि अपने बलद के मद से उसने मर्यादा तोड़ डाली । इसीलिए उसका वध किया गया । उसे ब्रह्मा का वरदान था कि शस्त्र से, किसी मनुष्य अथवा पशु से भी नहीं मर सकता । ब्रह्माजी के वरदान को सत्य करने के लिए भगवान् ने उसे नखों से चीर डाला । उसे यह भी वरदान था कि वह न पृथ्वी पर मरेगा और न ही अन्तरिक्ष में । अतः भगवान ने उसे अपनी जंघाओं पर पटक कर मार डाला उसको नखों से उसी तरह चीर डाला, जिस तरह चटाई बुनने वाला एरका नाम के तृण को चीरता है । चटाई बनाने वाला

दूसरों के हित के लिए तृण को चीरता है । इस दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि इसका वध लोक हितार्थ किया गया है ।।१८।।

श्लोक—**पञ्चदशं वामनकं कृत्वाऽगादध्वरं बलेः ।**
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—भगवान् पन्द्रहवां वामनरूप बनाकर तीन पद मरू (भूमि) की याचना के बहाने, बलि से स्वर्ग को वापिस लेने की इच्छा से, बलि के यज्ञ में गये ।।१९।।

सुवोधिनी—एवं भक्तिमार्गे नवाऽवतारान्कथयन्प्रथमं प्रह्लादरक्षको नृसिंहो मुख्य इति मूलयत्वेन कथितः ततो ब्रह्मभावेन त्रयः । त्रयश्च क्षत्रभावेन । एको वैश्यभावेन । पुनरग्रिमस्य मूलरूपमेकेनेति नवधा निरूपणम् । भक्तिरनवच्छिन्ना न निवर्तत इति । सायुज्ये सेवाऽऽरम्भवत् । कल्किरग्रिमारम्भ इति हेतुः । कश्यपाददित्यां जातो वामनरूपो ब्रह्मचारी पञ्चदशः । अवामनोऽपि वामनकं रूपं कृत्वा बलेरध्वरमगादिति भक्तहितार्थं स्वस्व धर्मस्य चाऽन्यथाकरणं पूर्वस्माद्विशेषः । प्रत्यादानं दत्तस्य पुनर्ग्रहणम् । इह पर (?) आत्मनः पदत्रयम् । गमने कामितोऽर्थ उत्तरार्द्धे निरूपितः । चरित्रं तु गमनमेव ।।१९।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भक्तिमार्ग में ९ अवतारों का आगे निरूपण करते हुए इनमें प्रह्लाद के रक्षक प्रथम नृसिंह अवतार मुख्य हैं अतः मूलरूप से उसका निरूपण किया गया । तदनन्तर ब्राह्मण भाव से तीन का क्षत्रिय भाव से भी तीन का तथा वैश्य भाव से एक का निरूपण किया जायेगा । फिर अग्रिम कल्कि अवतार है । कलि के अन्त में सकल साधनों के अभाव में भी अपने अंग-राग और सुगन्ध के संसर्ग मात्र से, कल्कि अवतार ने पुनः सत्ययुग का प्रारम्भ कर दिया, इसलिए इसे मूल अवतार माना गया है । इसका आगे एक श्लोक से वर्णन है । इस प्रकार नृसिंह से लेकर कल्कि पर्यन्त भक्तिमार्ग में नव अवतार है ।

जो भक्ति मूल अवतार नृसिंह से प्रारम्भ होकर बीच के अंशावतार मात्र में पर्यवसित हो जाती है वह भक्ति निवृत्त नहीं होती, किन्तु मूल अवतार रूप कल्कि में वही भक्ति उसी स्थिति में आ जाती है । भगवत्स्वरूप में सायुज्य की प्राप्ति होने पर और इस तरह सेव्य सेवक भान के निवृत्त हो जाने के पीछे भी भगवान् की सामर्थ्य से (भगवत्स्वरूप से बाहर आकर) वह भक्त पुनः सेवा कार्य प्रारम्भ कर देता है इसी तरह कलियुग में सर्व साधनों की निवृत्ति होने के उपरांत भी, भगवान् के अगराग की सुगन्ध से सम्बन्ध होते ही पुनः सत्ययुग का प्रारम्भ हुआ । यह सामर्थ्य मूल रूप का है इसीलिए कल्कि मूल अवतार रूप है । कल्कि अग्रिमारम्भ का मूल है इसी से वह मूलावतार कहा गया है ।

ब्रह्मचारो वामनरूप पन्द्रहवां अवतार है जिनका जन्म अदिति में कश्यप से हुआ । वामन नहीं होते हुए भी वामनरूप धरकर भगवान् बलि के यज्ञ में गये । भक्त इन्द्र के हितार्थ अपने ऐश्वर्यादि धर्मों को अन्यथा कर दिये अर्थात् अपने वृहत् रूप को, लघु बना लिया, ऐश्वर्य आदि को

छिपाकर याचक बन गये अतः पूर्वोक्त नृसिंह आदि चौदह अवतारों से इस अवतार में यह विशेषता है ।

यहां 'प्रत्यादित्सुः' का यह तात्पर्य है कि बलि को भगवान् की इच्छा से ही स्वर्गादि प्राप्त हुए थे, उसको पुन वापिस से लेने की इच्छा से ही बलि के यज्ञ में गये । यह लोक और परलोक आपके तीन पद मे आये हुये हैं । वहां यज्ञ में पधारने में पदत्रय की याचना रूप आपका जो इच्छित प्रयोजन था, उसका निरूपण इस लोक के उत्तरार्ध में बताया गया है और कश्यप के यहां प्रकट होकर बलि के यज्ञ में पधारने ही से अवतार का चरित्र है ।१९।।

श्लोक—**अवतारे षोडशमे पश्यन्ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।**
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—सोलहवें अवतार में ब्राह्मण द्रोही राजाओं को देखकर कुपित हुये परशुराम ने पृथ्वी इक्कीस बार क्षत्रिय रहित कर दी ।।२०।।

सुबोधिनी- क्षत्रियायां जातं परशुरामरूपं षोडशम् । सप्तधा हनने निर्बीजत्वं जातम् । पुनर्ब्राह्मणादुत्पन्नाः समृद्धाः । पुन. सप्तधा । एवमेकविंशतिधा निःक्षत्रिया पृथिवी कृता । पितृवधस्य निमित्तत्वेऽपि ब्रह्मरक्षैव हेतुः ।।२०।।

व्याख्यार्थ— यहां "षोडषमे" इस पद में 'मट्' का प्रयोग छांदस है । क्षत्रियों में उत्पन्न परशुराम सोलहवां अवतार है-सात प्रकार से क्षत्रियों को मार देने से क्षत्रियों का बीज नहीं रहा । फिर ब्राह्मण से क्षत्रिय स्त्रियों में पैदा होने पर फिर क्षत्रिय जाति का विस्तार हुआ । उनका फिर सात प्रकार से नाश किया । इस प्रकार इक्कीस प्रकार से पथ्वी को क्षत्रिय रहित कर दी । इन क्षत्रियों को ब्राह्मणद्रोही मानकर संहार किया । पित्टे जगदयि वध में क्षत्रियों के निमित्त मात्र होते हुये भी इक्कीस प्रकार से क्षत्रियों के हनन द्वारा ब्राह्मणों की रक्षा करना ही इस अवतार का प्रयोजन था ।।२०।।

श्लोक—**ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।**
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ।।२१।।

श्लोकार्थ—सत्रहवें अवतार में पराशर से सत्यवती से उत्पन्न वेदव्यास ने अल्प धारणा शक्ति वाले मनुष्यों को देखकर, वेदरूप वृक्ष की अनेक शाखायें की ।।२१।।

सुबोधिनी—ततः उपरिचरवसोर्मत्स्यगर्भाज्जातायां दाशकन्यायां तथा पराशराज्जातो वेदव्यास सप्तदशः । प्रकृते तृतीयः । वेदस्य तरुत्वं पूर्वं निरूपितम् । अनन्तमूर्तेर्यज्ञस्य ब्रह्मशिरस एका मूर्तिर्यावता वेदभागेन प्रतिपाद्यते सा एका शाखा । एवमन्याश्च । यद्यपि ब्राह्मणेन सर्वो वेदः पठनीयस्तथापि प्रमेयबलमालम्ब्य एकैव मूर्तिः सर्वा मूर्तय इत्यल्पमेधसोऽपि पुरुषस्य वेदाध्ययनं भक्त्यर्थमपरश्च कालो यथाऽवशिष्यते तदर्थं खण्डशः कृतवानित्यथः ।।२१।।

व्याख्यार्थ –उपरिचर वसु से मत्स्य गर्भोत्पन्न दासकन्या सत्यवती में पराशर से उत्पन्न व्यासजो सत्रहवें अवतार हुये । प्रकृत में ब्राह्मण भाव के ये तीसरे अवतार हैं– पहिले वामन, दूसरे परशुराम और तीसरे वेदव्यास ।

वेद वृक्ष है यह पूर्व में निरूपित किया जा चुका है । उत्तरकांड जिसका मस्तकरूप है । ऐसे अनन्त मूर्ति वाले यज्ञ भगवान् की एक मूर्ति, जितने वेद भाग से प्रतिपादित की गई वही एक शाखा कहलाई । इसी प्रकार अन्य शाखाओं को समझना चाहिये अर्थात् वे भी यज्ञरूप भगवान् को किसी एक ही मूर्ति का प्रतिपादन करती है ।

ब्राह्मण को यद्यपि सम्पूर्ण वेद पढ़ना चाहिये तथापि प्रमेय बल से (पूर्वकांड प्रतिपादित यज्ञ तथा उत्तरकांड प्रतिपादित ब्रह्मरूप जो प्रमेय है उसको युक्ति मुक्ति दायक रूप बल का) विचार करने से एक ही मूर्ति सर्वमूर्तिरूप है अर्थात् एक मूर्ति से ही सर्व मूर्तियों का फल मिल सकता है । तदनुसार मंद बुद्धि वाले पुरुष के लिए वेदाध्ययन भी हो जाय और भगवद्भक्ति के लिए बाकी का समय भी मिल जाये इसलिए वेदव्यास ने वेद की शाखायें बना दी । अभिप्राय यह है कि यदि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन किया जायेगा तो उसे भगवद्भक्ति के लिए समय नहीं मिलेगा अतः मानव अति उत्कृष्ट फल से वंचित रहेंगे इसीलिए वेदव्यास ने वेद को अलग-अलग विभाग शाखारूप में कर दिये ।। २१ ।

श्लोक—**नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।**
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ।।२२।।

श्लोकार्थ– इससे आगे देवताओं का कार्य करने की इच्छा से नरदेवत्व-राजत्व को प्राप्त श्री रामचन्द्र ने समुद्र-निग्रह आदि पराक्रम किये ।।२२।।

सुबोधनी– भिन्नप्रक्रमार्थं रघुनाथादिरूपत्रय **वक्तुमतः परमित्युक्तम्** । क्षत्रियभावोऽत्र विवक्षितो यद्यपि सोमसूर्यभावेन द्विविधस्तथापि सोमस्य वृद्धिक्षयरूपेण द्विरूपत्वात् त्रेधा निरूपणम् । नरदेवत्वं राजत्वम् । सुरकार्यं रावणवधः । अवतारचरित्रं तु समुद्रनिग्रहः । तथा मरुस्थलीकरणं परशुरामजयो वालिवधश्चेत्यादिशब्दार्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ उपरोक्त अवतारों से भिन्न क्रम बताने के लिए, क्षत्रिय भाव से रामचन्द्र आदि तीन स्वरूपों का निरूपण करने के लिए 'अतः परम्' कहा गया है । प्रथम ब्राह्मण भाव का क्रम कहा यहां क्षत्रिय भाव के क्रम को कहने की इच्छा है । यहां यद्यपि सोम सूर्य वंश के रूप में दो ही क्षत्रिय भाव वाले अवतार कहने चाहिये, फिर भी क्षत्रिय भाव वाले तीन अवतारों का निरूपण कैसे सम्भव है ? इसका समाधान यह है कि चंद्र के दो भेद हैं-एक वृद्धिरूप दूसरा क्षयरूप तथा सूर्य का तीसरा है ही इस तरह यह तीन प्रक्रम है–तदनुसार क्षत्रिय भाव वाले तीन अवतार कहे गये हैं । नरदेवता अर्थात् श्री रामचन्द्र राजा है । रावण वध रूप देवताओं का कार्य करने भगवान् राम के रूप में आये हैं इस अवतार का चरित्र है समुद्र-निग्रह आदि समुद्र निग्रहादीन् में आदि थे– मरुस्थली कर देना, परशुराम को जीतना तथा बलि का वध करना ग्रहण किये गये हैं ।।२२।।

श्लोक—**एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।**
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—उन्नीसवें तथा बीसवें अवतार में वृष्णि यदुवंश में राम और कृष्ण इस रूप में दो जन्म ग्रहणकर भगवान् ने भूमि के भार को हटाया ।।२३।।

सुबोधिनी—अतः परमष्टादशे बलरामे आवेशः । कृष्णोऽवतारः एकोनविंशे विंशतितमे । अत्र तकारलोपश्छान्दसः । वस्तुतः सोमस्यैकत्वादेकश्लोकेन निरूपणम् । वार्ष्णेय (?) इति वक्तव्ये "**ञ्यादयस्तद्राजा**" इति तद्राजसंज्ञायां '**तद्राजस्य बहुषु**" इति प्रत्ययलोपे वृष्णिष्वित्युक्तम् । अत्र हि चतुर्णामवताराणां कृष्णरूपं स्थानम् । नारायणांशस्य केशस्य सुतपावृष्णिप्रसन्नस्य भगवतश्च तत्रैकमेव रूपं बहुरूपत्वेन विवक्षितम् । बलरामस्त्वेक एव । एवं पञ्चाऽवतारा: । जन्मद्वयम् । तदुक्तम्—**वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी इति** । ततश्च लोकेऽपि नामद्वयं प्रसिद्धमित्याह— **रामकृष्णाविति** । जन्मविशेषकार्यं तु भगवतैव कृतमित्याह- **भगवानहरद्भरमिति** । भूभारहरणमवतारकार्यं सामान्यतो लोकप्रसिद्धम् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—अवतार वर्णन के श्लोकों में यह अठारहवां श्लोक है । यहाँ बलराम में भगवान् के आवेश का वर्णन है । उन्नीसवां बलराम का अवतार हैं और बीसवां कृष्ण का अवतार है । यहां 'विंशतितमे' पद में 'त' कार का लोप करके 'विंशतिमे' पद का प्रयोग छांदस हैं, छंद के आग्रह से यहां 'त' कार का लोप किया गया है । चंद्रमा वास्तव में एक है इसलिए एक श्लोक में ही राम कृष्ण दोनों अवतारों का निरूपण किया गया । यहां वार्ष्णेयेषु की जगह वृष्णिषु कहा गया है जिसकी सिद्धि इस प्रकार है-'ञ्यादयस्तद्राजा' इस सूत्र से प्रत्यय की तद्राज संज्ञा हो गई और तद्राजस्य बहुषु इत्यादि सूत्र से प्रत्यय का लोप होने पर 'वृष्णिषु' पद बन गया ।

यहां चारों अवतारों का (नारायण के अंश का, केश का, सुतपावृष्णि पर प्रसन्न भगवान् का और कृष्ण का) स्थान कृष्ण में हैं । तात्पर्य यह है कि यहां एक रूप ही बहुरूप में विवक्षित है और बलराम तो एक ही (पृथक्) माने गये हैं । इस तरह पांच अवतार हुए । जन्म दो के हुये इसलिए श्लोक में 'जन्मनी' द्विवचनान्त दिया है । लोक में भी, इसीलिए, दो नाम प्रसिद्ध हुये एक राम दूसरा कृष्ण । अवतार लेने का विशेष कार्य तो भगवान् ने ही किया इसी का निर्देश "भगवान् हरद्भरम्" पद से किया है अर्थात् लोक में सामान्य रूप से प्रसिद्ध भूभारहरण रूप अवतार कार्य, भगवान् से ही सम्पादित हुआ है । वैसे तो इस अवतार का असाधारण कार्य सर्वोद्धार करना ही है ।। २३ ।।

श्लोक— **ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।**
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।२४।।

श्लोकार्थ—उसके पश्चात् कलियुग के प्रवृत्त होने पर देव शत्रुओं को संमोहित करने के लिए जिन पुत्र बुद्ध नाम का अवतार कीकट देश में होगा ।।२४।।

सुबोधिनी—भिन्नप्रक्रमार्थं कलौ सम्यक्प्रवृत्ते तद्धर्मप्रचारे जाते सुरद्विषां दैत्यराक्षसानां वैदिकेषूत्पन्नानां वेदत्याजनार्थं कीकटदेशेषु जिनस्य अजिनस्य वा सुतो बुद्धो जात इत्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ यहां "ततः" भिन्न उपक्रम का सूचक है अर्थात् अब वैश्य भाव के अवतार का वर्णन किया जाता है। कलियुग के भली भाँति प्रवृत्त हो जाने पर अर्थात् कलिधर्म का प्रचार होने पर देवताओं के दोषी जो दैत्य राक्षस थे वे वैदिकों में भी उत्पन्न हो गये थे, उनका वेदाध्ययन छुड़ाने के लिए कीकट देश में गया प्रदेश में, जिन अथवा अजिन का पुत्र बुद्ध, बुद्धावतार हुआ ।।२४।

श्लोक—**अथाऽसौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।**
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ।।२५।।

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर यह भगवान् कलियुग और सत्ययुग की संधि में अथवा कलियुग के अन्त में राजाओं के चौर प्रायः होने पर, विष्णुयशा नामक ब्राह्मण के यहां कल्कि नाम से जगत् के पतिरूप में प्रकट होंगे ।।२५।।

सुबोधिनी—**अथेति** महान् भिन्नक्रमः। कूर्ममारभ्य बुद्धान्तं न पुरुषस्याऽवताराः। कल्की तु पुरुषस्याऽवतार इत्याह—**असाविति**। तत्र कूर्म आदिकूर्मस्य, धन्वन्तरिर्विष्णोः, नृसिंहः कालस्य, वामनो विष्णोः, वैश्वानरस्य परशुरामः, व्यासो विष्णोर्ज्ञानस्य, वासुदेवस्य रामः, संकर्षणस्य बलरामः, चतुर्णां कृष्णः वासुदेवस्य बुद्ध इति। युगसन्ध्यायां जातायां समाप्तायां न सन्त्येव राजानः। भूमिश्च शून्यप्राया। तथापि विद्यमाना अपि राजानो दस्यवः। प्रायग्रहणं विष्णुभक्ति-प्रतिपादकब्राह्मणसङ्गेन केषाञ्चिदतथात्वमिति। अत एव विष्णुयशा नाम शम्भलग्रामे वैष्णवः। तस्य गृहे पत्न्यां भविष्यतीत्यर्थः। **जगत्पतिरित्यवतारप्रयोजनम्।** जगतः क्षीणत्वात्पुनरुद्भवकर्तेत्यर्थः।। २५ ।।

व्याख्यार्थ— यहां 'अथ' पद महान् भिन्न क्रम का निर्देश करता है। कूर्मावतार से लेकर बुद्धावतार पर्यन्त जितने भी अवतार हैं वे विराट् पुरुष के अवतार नहीं हैं—असौ यह कल्कि तो विराट् पुरुष का अवतार है। यहां कूर्म आदि कूर्म का अवतार है जिसका वर्णन हिरण्मयेऽपि भगवान् निविशंति कूर्मतनुं बिभ्राणः इत्यादि से किया गया है। धन्वन्तरि विष्णु का अवतार है, नृसिंह काल का तथा वामन विष्णु का अवतार है। वैश्वानर का अवतार परशुराम है। व्यास, विष्णु का ज्ञानावतार है। वासुदेव का अवतार राम है, संकर्षण का बलराम है और वासुदेवादि चारों व्यूह का अवतार कृष्ण है, वासुदेव का अवतार बुद्ध है। इस प्रकार ये अवतार समझे जाते हैं।

कलियुग की समाप्ति और सत्य का प्रवेश, इसके मध्य के समय को यहां 'संध्या" शब्द से कहा गया है अथवा संध्या का अर्थ यहां कलि का अन्त भी किया जा सकता है। इस युग सन्धि में राजाओं का अस्तित्व नहीं रहेगा, भूमि शून्य प्रायः हो जायेगी, और जो राजा बचेंगे वे चोर हो जायेंगे। 'किन्तु विष्णु भक्ति के प्रतिपादक ब्राह्मणों की संगति से कुछेक चोर नहीं भी होंगे।" यहां 'दस्युप्रायेषु' में 'प्रायः' शब्द इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसीलिए शंभल ग्राम में विष्णुयशा नाम का वैष्णव रहेगा। उसके घर में, पत्नि में कल्कि अवतार प्रकट होगा। 'जगत्पतिः' पद से अवतार का प्रयोजन बताया गया है। जगत् के क्षीण हो जाने पर पुनः उसका उद्भव करने वाला यह अवतार होगा ।।२५।।

आभास—अवताराणामेतावत्त्वं निवारयति—

आभासार्थ—अवतार इतने ही नहीं असंख्य हैं यही कहते हैं—

श्लोक—**अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।**
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे द्विजों ! अक्षय जल वाले सरोवर से जैसे छोटे-छोटे प्रवाह नहरें निकलते हैं उसी तरह सत्त्वनिधि होने से भगवान् के अवतार असंख्य हैं ।।२६।।

सुबोधिनी—अवतारा इति । सत्त्वनिधेरिति हेतुः । पालनोद्भवादेरावश्यकं सत्त्वम् । **द्विजा** इति सम्मत्यर्थं सम्बोधनम् । बहुकालर्षित्वात् । अवताराणां स्वरूपमाह—**यथाऽविदासिन इति ।** अविदासिन. अक्षयजलस्य । कुल्याः क्षुद्रप्रवाहा दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के असंख्यों अवतार होने में हेतु है भगवान् का सत्त्वनिधि होना क्योंकि उन अवतारों के पालन में तथा उद्भव आदि में सत्त्व आवश्यक है । अवतार असंख्य हैं इसमें सम्मति लेने के लिए यहां द्विजाः' इस सम्बोधन पद का प्रयोग किया गया है । "आप लोग द्विज हैं अर्थात् चिरंतन ऋषि होने से आपने तो अनेकों अवतार देखे हैं" । अवतारों के स्वरूप को अक्षय जल जैसा कहा है यथाऽविदासिनः जिससे अनेकों छोटे-छोटे प्रवाह निःसरित होते हैं इस प्रकार के ये क्षुद्र प्रवाह कुल्याः दक्षिण में प्रसिद्ध है । इसी तरह सत्त्व के अक्षय निधि रूप भगवान् से अनेकों अवतारों का उद्भव होता रहता है ।।२६।।

आभास—सर्वेषां सामान्यतः स्वरूपं प्रकृतिं फलं चाऽऽह **ऋषय इति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—सबका सामान्य से स्वरूप, प्रकृति और फल 'ऋषया' आदि दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।**
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ।।२७।।

एते चांऽशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ।।२८।।

श्लोकार्थ—अर्यमा आदि ऋषिगण, मनु, देव, मनुपुत्र तथा अन्य अत्यन्त पराक्रमी ये सब तथा प्रजापति, मरीचि आदि सहित सभी भगवान् धर्मावेशी हैं अर्थात् इन सब में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्मों का आवेश है । पूर्वोक्त सनत्कुमार आदि में तो कोई अंशावतार है तो कोई कलावतार है । कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं । ये सब अवतार युग-युग में दैत्यों से व्याकुल जगत् को सुख देते हैं ।।२७।।२८।।

सुबोधिनी—ऋषयः अर्यमादयः। मनवः स्वायम्भुवादयः । देवा वस्वादयः । मनुपुत्राः प्रियव्रतादयः । महौजसः अन्येऽप्यतिवीर्यवन्तः । एते सर्वे सत्त्वमूर्त्तेर्भगवतो विष्णो रिरक्षिषोः कला धर्मविशिन इत्यर्थः । प्रजापतयो मरीच्यादयः । एवकारेणाऽन्यसम्बन्धं वारयति । **स्मृता** इति प्रमाणम् । पूर्वोक्ताः कुमारादयस्तु केचन अंशा केचन कलाः । ते चाऽवताराऽऽवेशभेदेन निरूपिताः। चकारादनुक्ता अपि । पुंसो नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्त्तेरंशाः कलाश्च । कृष्णेऽपि तथात्वं सामान्यतः प्राप्तं तुशब्देन व्यावर्तयति । यस्यांऽशाः पुरुषादयः स भगवान् कृष्ण इत्यर्थः । सामान्यतः प्रयोजनमाह—**इन्द्रेति** । इन्द्रारयो दैत्याः तैर्व्याकुलं जगत् मृडयन्ति सुखयन्ति । प्रतियुगं चैतेऽवताराः । प्रतिकल्पं चतुर्दश मन्वन्तराणीव । असङ्ख्यातानामुक्तत्वाद्यथाप्रयोजनं सर्वत्राऽवतार इति बोद्धव्यम् ॥२७॥२८॥

व्याख्यार्थ—अर्यमा आदि ऋषि, स्वायम्भुव आदि मनु, वसु आदि देवता, प्रियव्रत आदि मनु के पुत्र और अन्य भी जो महापराक्रमी हैं, ये सब रक्षा की इच्छा वाले भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य, वीर्य आदि के आवेश वाले हैं इसलिए धर्मविशी अवतार हैं इसी तरह प्रजापति सहित मरीचि आदि भी धर्मविशी अवतार हैं। श्लोकस्थ हरेरेव में 'एव' कार से यह अर्थ है कि ये सब अवतार अन्य के नहीं किन्तु हरि के ही हैं। यहां 'स्मृताः' का अर्थ हैं इस तरह ऋषियों को स्मरण हैं अर्थात् ये वास्तव में हरि के ही अवतार है इसमें ऋषियों की यह स्मृति ही प्रमाण है।

पूर्व में कहे गये सनत्कुमार आदि में कोई अंशावतार है तो कोई आवेशावतार है कलावतार है। 'एतेचांऽशकलाः' में 'च' कार से अन्य अवतारों का भी ग्रहण होता है। यहां अनुक्त अवतार 'च' कार से ग्रहण किये गये हैं। ये सब अवतार ब्रह्माण्ड मूर्ति नारायण पुरुष के या तो अंशावतार है या कला आवेश अवतार हैं।

जहां भगवान् की महाशक्ति का आविर्भाव हो वह अंशावतार है और जहां अल्प शक्ति का आविर्भाव हो उसे कला या विभूति का अवतार समझना चाहिये। कला का अर्थ है आवेश।

यहां 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' में 'तु' यह निर्देश करता है कि कृष्ण इस प्रकार का अवतार नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त पुरुष आदि जिसके अंश है वह भगवान् कृष्ण है।

सामान्यतः अवतारों का प्रयोजन कहते हैं कि जैसे प्रत्येक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं उसी तरह दैत्यादि से व्याकुल जगत् को सुख देने के लिए प्रत्येक युग में अवतार होते हैं।

ऊपर असंख्य अवतार बताये हैं जिससे यह सूचित होता है कि प्रयोजन के अनुसार सर्वत्र भगवान् का अवतार होता रहता है 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्' आदि से इसी बात को कहा है। २७॥२८॥

आभास—कृष्णावतारप्रयोजनं नोक्तमिति स्वस्याऽज्ञानदोषं निवारयन्नवताराणां दुर्ज्ञेयत्वमाह—

आभासार्थ—"कृष्णावतार का प्रयोजन जो नहीं कहा उसमें मेरे अज्ञान का दोष नहीं है, किन्तु अवतार ही दुर्ज्ञेय है" इसी बात को कहते हैं—

श्लोक — **जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतः शुचिः ।**
सायं प्रातर्गृणन्भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ।।२९।।

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव गोप्य है । सामान्य रूप से कहे गये इस अवतार को सावधान और शुद्ध होकर सायं प्रातः वर्णन भी करे तो भी दुःख समुदाय छूट जाता है । श्रद्धा से यदि कहे तो मुक्त ही हो जाता है ।।२९।।

सुबोधिनी—**जन्म गुह्यं भगवत इति** । भगवतः कृष्णस्य जन्म गुह्यं गोप्यम् । न प्रकटतया च वक्तव्यमित्यर्थः । तर्हि कथं निस्तार इत्याशङ्क्याऽऽह— **स एतदिति** । एतदवताररूपं सामान्यतोऽस्मदुक्तम् । प्रयतः सावधानः । शुचिः शुद्धः । सायं प्रातर्भक्त्या स्तोत्रपाठं कुर्वन्दुःखग्रामाद्दुःखसमूहाद्विशेषेण मुच्यते । जन्मरहस्यज्ञानाभावेऽपि केवलं जन्मकीर्तनमात्रेणाऽपि सर्वदुःखनिवृत्तिरित्यर्थः । श्रद्धया गृणन्मुच्यत एव ।।२९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् कृष्ण का जन्म गोप्य है । उसको प्रकट रूप से नहीं कहना चाहिये क्योंकि जीव की तरह कर्म वश आपका प्राकट्य नहीं है । ऐसी स्थिति में जीवों का विस्तार कैसे होगा ? ऐसी आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'यएतत्' हमसे सामान्यतया निरूपित इस अवतार का जो कोई सावधान व शुद्ध होकर प्रेमपूर्वक साय प्रातः स्तोत्र पाठ करे तो वह दुःख समुदाय से विशेषतया मुक्त हो जाता है । श्री कृष्णावतार के जन्म का रहस्य-ज्ञान न होने पर भी उनके केवल प्रादुर्भाव को कहने से ही सम्पूर्ण दुःख निवृत्त हो जाते हैं, फिर यदि श्रद्धा से उनका उच्चारण करें तो वह मुक्त ही हो जाता है ।।२९।।

आभास—एवं पुरुषाऽवतारं स्वांशावतारैः सपरिकरं निरूप्य तस्य विचारमाह **एतद्रूपमित्यादिपञ्चभिः**—

आभासार्थ—इस प्रकार पुरुषावतार को अपने अंशावतार एवं परिकर सहित निरूपण करके "एतद्रूपम्" आदि पांच श्लोकों से उसका विचार करते हैं—

श्लोक — **एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।**
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ।।३०।।

श्लोकार्थ—चैतन्यस्वरूप, रूपरहित भगवान् के माया-गुण-अन्य जो महत्तत्वादि हैं, उन्होंने अपने शरीर में इस ब्रह्माण्ड रूप देह को बनाया है ।।३०।।

सुबोधिनी—एतद्ब्रह्माण्डात्मकं भगवतो रूपं, पूर्णब्रह्मण एव सत्त्वोपहितस्य रूपम्। शरीरव्यतिरेकेणाऽऽत्मनोऽन्यत्र वृत्तिलाभाभावात्। "**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि**" ति न्यायेन ब्रह्मणि स्वतो रूपं नास्ति। तत्र हेतुः—**चिदात्मन इति**। जडमेव हि रूपं भवति। चैतन्यमात्रस्य ऽमूर्तस्य रूपाभावादिति हिशब्दार्थः। तर्हि कथं ब्रह्माण्डशरीरत्वमुक्तम् **मायागुणैर्विरचितमिति**। वैष्णवतन्त्रे आधिदैविकस्य शक्तिर्माया। तस्या एव त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि। तैरेव महदादयो जाताः। तैः स्वशरीर एव भगवच्छरीरं निष्पादितम्। इदं हि भगवच्छरीरम्। अत्र भगवान्समाहितो भजनीयो भविष्यतीति। ततश्च महदादिकृपया भगवानत्र संनिहित आविर्भूतस्तप्तायोगोलके वन्हिरिव तिष्ठतीति बोद्धव्यम् ॥३०।

व्याख्यार्थ— यह ब्रह्माण्डात्मक देह भगवान् की देह है। सत्वोपाधियुक्त ब्रह्म का ही यह शरीर है। शरीर के बिना आत्मा को अन्यत्र उपलब्धि नहीं हो सकती।

'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इस न्याय से वह ब्रह्म स्वत: रूपवान् नहीं है क्योंकि वह चैतन्यरूप है चिदात्मन। जड़ ही रूप वाला होता है। केवल चैतन्य अमूर्त होने से उसका रूप नहीं होता इसी का निर्देश यहां 'हि' शब्द से किया गया है।

शङ्का करते हैं कि यदि ऐसा हो तो ब्रह्म का ब्रह्माण्ड शरीर कैसे कहा गया? इसका उत्तर यह है कि "मायागुणैर्विरचितम्" वैष्णव तन्त्र में आधिदैविक भगवान् की शक्ति माया है, उसीके सत्त्व, रज और तम ये गुण हैं इनसे महत्तत्वादि पैदा हुये हैं। इन महत्तत्वादि ने अपने शरीर में ही भगवान् के शरीर को प्रादुर्भूत किया है। यह ब्रह्माण्ड भगवत् शरीर है इसमें भगवान् रहते हैं, इसलिए भजनीय कहे गये हैं।

तदनन्तर महत्तत्वादि पर कृपापूर्वक इनमें से निहित भगवान् यहां प्रकट हुए हैं तहां लोह के गोलक में अग्नि की तरह संनिहित भगवान् ब्रह्माण्ड में रहते हैं यह जानना चाहिये। 'रूपम्' का अर्थ यहां शरीर है। इससे आधिदैविकवाद ग्रहण किया गया है, जिसे विशिष्टद्वैत भी कहते हैं। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' का अर्थ यह है कि यह विश्व सब व्यवहारों का विषय होने से रूपवान् है तथा ब्रह्म का अंश एव कार्य है। ब्रह्म कारण एवं अंशी है इसलिए इस विश्व से उस ब्रह्म का विलक्षण होना युक्ति युक्त है।

शंका करते हैं कि ब्रह्म कारण है इसलिए विश्व से वह विलक्षण नहीं हो सकता फिर आप उसे विलक्षण कैसे कहते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तत्प्रधानत्वात्' यहां ब्रह्म का प्रकरण है इसलिए, वह प्रधान है। उस ब्रह्म में वहां प्रशासनादि धर्म बताये गये हैं जो जड़-जीव के धर्म नहीं हो सकते'।

इस श्लोक में शरीर का प्रकरण है इसलिए रूप पद से यहां शरीर लिया गया है यह सब सूतजी के अधिकारानुसार 'एकदेशी' मत कहा गया है। वस्तुत: ब्रह्म ही सब कुछ है। सूतजी यहां यह कह रहे हैं कि ब्रह्म में स्वत: रूप नहीं है क्योंकि वह चैतन्य है ॥३०॥

आभास—ननु जडरूपे कथमस्मिन्ब्रह्मप्रतीतिः। तथा सति चेतनत्वं प्रतीयेत। ततश्च दृश्यत्वाज्जडत्वाच्च न भगवदावेशोऽत्राऽस्तीति कथमिदं शरीरम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका करते हैं कि विराट् देह जड़रूप है इसमें ब्रह्म की प्रतीति कैसे हो सकती है ? यदि जड़रूप इस शरीर में ब्रह्म का लोह गोलक में अग्नि की भांति प्रवेश मानते हो तो चेतनता की प्रतीति होनी चाहिये । यह शरीर दृश्य एवं जड़ होने से, इसमें भगवान् का आवेश नहीं है तो फिर यह ब्रह्म का शरीर कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक—**यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले ।**
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ।।३१।।

श्लोकार्थ—जैसे अज्ञानी लोग अदृश्य आकाश में मेघ समुदाय को आरोपित करते हैं अथवा वायु में पृथ्वी के रजकणों का आरोप करते हैं उसी प्रकार दृष्टारूप जो विराट् पुरुष है, उसमें दृश्यत्व जड़त्व आरोपित करते हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—**यथा नभसीति** । अयं हि द्रष्टा । देवदत्तवद्भगवान् सर्वं पश्यति । यद्यपि शरीरमपि दृश्यं, तथापि द्रष्ट्रा व्याप्तमिति । तद्व्यतिरिक्तस्यैव दृश्यत्वप्रतीतिर्लोके । तत्र ये महान्तस्ते सर्वेऽत्र ब्रह्माण्डे अयोगोलके वह्निमिव भगवन्तं पश्यन्ति । ये पुनर्मूढास्ते तस्मिन्द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपयन्ति । ननु कथमन्यस्मिन्नन्यधर्माध्यारोप इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह— **यथा नभसि मेघौघ इति** । वस्तुतस्त्वाकाशोऽदृश्यः । ततश्च तदाधारत्वेन कथं मेघा दृश्या भवेयुः । येषामपि मते दृश्यस्तेषामपि मते नाऽकाशे मेघाः । किन्तु वायावेव । तत्र यथाऽन्यत्र स्थितानामन्यत्र प्रतीतिः। अत्र विशिष्टप्रतीतिरारोपितेन सह तथा नाऽस्तीति दृष्टान्तान्तरमाह— **रेणुर्वा पार्थिवोऽनिल इति** । यथा वात्यादौ तद्विशिष्टरेणुप्रतीतिः । ततो भ्रान्ता वात्याया इति रेणुं मन्यते । वस्ततस्तु पार्थिवो रेणुः ।। ३१ ।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माण्डरूप शरीर से युक्त यह भगवान् दृष्टा है । वह देवदत्त की तरह सब कुछ देखता है । यद्यपि यह ब्रह्माण्ड शरीर भी दृश्य है तथापि दृष्टा जो भगवान् है उससे व्याप्त है । लोक में दृश्य वही कहलाता है जो दृष्टा से अतिरिक्त हो अर्थात् लोक में वही पदार्थ देखा जा सकता है जो दृष्टा न हो । वहां जो महापुरुष हैं, वे इस ब्रह्माण्ड शरीर में लोह गोलक में अग्नि की तरह भगवान् को देखते हैं और जो मूढ पुरुष हैं वे दृष्टारूप भगवान् में दृश्यत्व का आरोप करते हैं ।

यहां शंका करते हैं कि अन्य में, अन्य धर्मों का आरोप कैसे हो सकता है ? अर्थात् अदृश्य भगवान् में दृश्यत्व का आरोप कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर दृष्टान्त सहित देते हैं कि वास्तव में आकाश अदृश्य है तो फिर आकाश में मेघ दृश्य है यह प्रतीति कैसे हो सकती है ? जिनके मत में आकाश दृश्य माना गया है उनके मत में भी आकाश में मेघ नहीं माने जाते, किन्तु वायु में ही मेघ माने जाते हैं तात्पर्य यह है कि जैसे अदृश्य आकाश में तदाधारत्वेन मेघों का आरोप किया जाता है उसी तरह ब्रह्म का शरीर जो ब्रह्माण्ड है उसमें दृश्यत्व-जड़त्व आरोपित है ।

जैसे मेघ देखने वाले पुरुषों को आकाश के धर्म अवकाश की प्रतीति नहीं होती है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड शरीर प्राकृत है' इस प्रकार जो देखने वाले हैं उनको भी इस ब्रह्माण्ड शरीर में चेतनता

की प्रतीति नहीं होती । ऐसी स्थिति में इनके अज्ञानमात्र से भगवान् इस शरीर में आविष्ट नहीं है ? यह कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् 'आकाश अदृश्य है, उसके धर्म, दृश्य मेघ में आरोपित होते हैं और सिद्धान्त में, भगवान् अदृश्य है, उसमें ब्रह्माण्ड दिखाई देता है और उसके धर्म का ब्रह्माण्ड के धर्म का भगवान् में आरोप होता है' इस प्रकार के निरूपण से दृष्टान्त में विषमता आती है क्योंकि दृष्टान्त में अदृश्य का धर्म दृश्य में और दार्ष्टान्त में दृश्य का धर्म, अदृश्य में आरोपित है । इस तरह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में समानता नहीं होने से यह दृष्टान्त बराबर नहीं इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं ।

'रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले' वायु सबके मत में अदृश्य है उसमें दृश्य पृथ्वी की जो रज है, वह आरोपित है । जब आंधी चलती है तब उसमें वायु वाली रज की प्रतीति होने से, उसे सभी वायु की रज है ऐसा भ्रान्ति से मानते हैं । वास्तव में तो वह पार्थिव पृथ्वी सम्बन्धित रज है । इस तरह यहां अदृश्य में दृश्य का धर्म आरोपित है इसी तरह ब्रह्माण्ड में भी दृश्यत्व का आरोप है ।

"वाणी की कामधेनु रूप से उपासना करनी चाहिये 'वाचोधेनुमुपासीत' इसी तरह यहां भी भगवान् की ब्रह्माण्ड रूप से उपासना करनी चाहिये" यदि इस अभिप्राय से भगवान् में ब्रह्माण्ड आरोपित होता तो 'दृष्टरिदृश्यमारोपितम्' ऐसा कहते अर्थात् यहां दृश्यत्वादि-धर्म-विशिष्ट शरीर ब्रह्म में आरोपित है" ऐसा व्याख्यान अर्थ अभिप्रेत नहीं है । यदि यह ब्रह्माण्ड शरीर आरोपित होता (और जो कि वास्तव में आरोपित नहीं है) तो योगी को वह प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकता । इसलिए यह प्रत्यक्षादि धर्मक शरीर ब्रह्माण्ड ब्रह्म में आरोपित है ऐसा कहना असंगत है । ब्रह्म से अतिरिक्त इस ब्रह्माण्ड शरीर को मानकर उसमें दृश्यत्व-जड़त्व की कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्माण्ड शरीर भी ब्रह्म का रूप ही है ॥३१॥

आभास—एवं प्रपञ्चे जडबुद्धिर्भ्रान्ता भगवद्बुद्धिर्मुख्येति निरूप्य, जीवेऽपि भगवद्बुद्धिरेव मुख्या, न जीवबुद्धिरिति निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रपंच में जड़त्व-बुद्धि एक भ्रांतिमात्र है, भगवद्बुद्धि मुख्य है ऐसा 'यथानमसि' इत्यादि में निरूपण किया गया । "जीव में भी भगवद्बुद्धि करना मुख्य है, जीव-बुद्धि करना मुख्य नहीं है" इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम् ।**
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥३२॥

श्लोकार्थ— ब्रह्माण्ड-शरीर से दूसरा जो सूक्ष्म है, जो कर-चरण आदि आकार विशेष में अपरिणत-स्वाभाविक गुणों से व्याप्त है, जो अदृश्य होने से जड़ नहीं है और वेदादि में उस रूप में अश्रुत होने से भगवद्रूप नहीं है, वह जीव है, जिसके मानने पर बार-बार जन्म-मरण हुआ करते हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—अतः परमिति । अतो ब्रह्माण्डविग्रहात्सूक्ष्मं सर्वेन्द्रियागोचरमव्यक्तापरपर्यायं करचरणाद्याकारेणाऽपरिणतैर्गुणैः स्वाभाविकैर्व्याप्तम् । अस्तीति सम्बन्धः । ततः किमित्याकांक्षायां स जीव एव । जीवजडभगवद्व्यतिरेकेण चतुर्थपदार्थस्याऽभावात् । ननु तथापि जीवत्वं कुतः ? अत आह —**अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वादिति** । यदि तज्जडं स्यात्, दृश्यं स्यात् । यदि वा भगवद्रूपं स्यात्, वेदादौ श्रुतं स्यात् न वा निःस्वभावं, शशश्रृङ्गवत् । वस्तुत्वात् । तस्मात्पारिशेष्याज्जीव एव । केचन तं जीवोपाधिं मन्यन्ते । तथा प्राप्ताप्राप्तविवेकेन भगवद्व्यतिरिक्तस्य जीवस्याऽभावात्कस्योपाधिः स्यात् । तस्माज्जीव एव सः । किञ्च यस्मात्पुनर्भवः । पुराणे लोके । चैवं प्रतीयते । पूर्वमयं देव. स्थित इदानीं मनुष्यत्वमापन्न इति । अतः पुनर्भवाऽन्यथानुपपत्त्या भगवदुपाधिः सूक्ष्मो जीवः कश्चिदस्तीति मन्तव्यम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त श्लोक में ब्रह्माण्ड शरीर का निरूपण किया गया है, अब इस शरीर से सूक्ष्म, सर्व इन्द्रियों का अविषय तथा अव्यक्त इस अपर पर्याय वाला तत्व है जो कर चरण आदि आकार विशेष में अपरिणत-स्वाभाविक गुणों से व्याप्त है । ऐसा तत्व है अवश्य, तो वह कौन है ? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव है । क्योंकि जीव, जड़ और भगवान् से अतिरिक्त कोई चतुर्थ पदार्थ ही नहीं है । तथापि, वह जीवरूप ही है ऐसा क्यों कर मान लिया जाये? इसका उत्तर है कि 'अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्' यदि वह जीव जड़ होता तो जड़ की तरह दृश्य होता । यदि वह जीव भगवद्रूप होता तो वेद आदि में उसका उल्लेख होता । "शशाश्रृंग की तरह वह जीव असत् है" यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सत्ता से ही तो चेष्टा आदि होते हैं । तदनुसार चेष्टा आदि से वह अनुमेय वस्तु है । इस तरह जब वह न जड़ ही हो सकता है और न भगवान् ही, तब इससे जो शेष रहा वह जीव ही है वह जीव ही हो सकता है ।

कोई श्रीधर स्वामी आदि-लिङ्ग देह में जीव व्यवहार होता है अर्थात् जीव को उपाधिरूप लिङ्ग शरीर मानते हैं किन्तु यह उपयुक्त मत नहीं है यह 'प्राप्ताप्राप्त विवेक' से विरुद्ध पड़ता है । अर्थात् यह भगवान् का प्रकरण है तदनुसार यहां भगवान् का वर्णन प्राप्त है, जीव का वर्णन उपक्रांत नहीं है इसलिए अप्राप्त है । भगवान् के अतिरिक्त जीव के न होने से यह लिङ्ग देह किसकी उपाधि होगी ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । अतः यह कहना युक्त होगा कि लिंग शरीर में जीव का प्रयोग नहीं है क्योंकि ब्रह्म के अंश से लिङ्ग शरीर का सम्बन्ध अनुचित है इसलिए लिङ्ग शरीर से पृथक यह जीव है ।

यदि जीव शब्द से लिङ्ग शरीर लिया जाये तो 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इस श्रुति में जीव के अनन्तर लिङ्ग शरीर का निकलना कहा गया है । अतः यह स्पष्ट है कि लिङ्ग शरीर अलग है और जीव अलग है । लिङ्ग शरीर से अलग जीव मानते हैं तो पुनर्जन्म भी सिद्ध उपपन्न हो सकता है । पुराण और लोक में ऐसा सुना गया है कि पहले यह जीव देव था और इस समय मनुष्य बन गया इसलिए पुनर्जन्म होता है । जीव को लिङ्ग देह से अतिरिक्त माने बिना पुनर्जन्म सुसंगत नहीं हो सकता । अस्तु यह सूक्ष्म-जीव भगवान् का ही उपाधि विशेष है अर्थात् भगवान् से पोषित यह जीव कोई पदार्थ है ऐसा मानना चाहिये ॥३२॥

आभास—किमतो यद्येवम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि ऐसा है तो फिर इससे क्या सिद्ध हुआ ? वहां कहते हैं—

श्लोक—**यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।**
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—अविद्या से आत्मा के स्थान में प्रतीत होने वाले ये स्थूल सूक्ष्म (जड़ जीव) ब्रह्मानुभव होने पर नहीं रहते । ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्म-प्रतीति रहती है, जड़ जीव प्रतीति नहीं रहती ॥३३॥

सुबोधिनी—**यत्रेमे इति** । वस्तुतस्तु सर्वो भगवानेव । न जीवो नाऽपि जडः । प्रतीतिरत्वाविद्यकी । यदा पुनः स्वस्मिन्नेवाऽधिष्ठाने इमे स्थूलसूक्ष्मे ब्रह्मानुभवेन प्रतिषिद्धे भवतश्चेत् । प्रतिषेधे हेतुमाह—**अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति** । ब्रह्मानुभवव्यतिरेकेणाऽऽत्मनि कृते आत्मस्थाने तत्प्रतीयत इत्यर्थः । इतिशब्दो हेतौ । तत्तदैव ब्रह्मदर्शन ब्रह्मानुभवो भवतीत्यर्थः । सर्वत्र ब्रह्मप्रतीतिस्तिष्ठति, जडजीवप्रतीतिर्गच्छतीति भावः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—वस्तुतः सभी भगवान् ही है न जड़ है, न जीव है । जड़ और जीव की प्रतीति अविद्या से है । अविद्या से आत्मा में यह प्रतीति होती है । ब्रह्मरूप अधिष्ठान में यह स्थूल, जड़ और सूक्ष्म जीव है ऐसा ज्ञान ब्रह्म का अनुभव होने पर नहीं रहता । सर्वत्र ब्रह्मानुभव होकर बिना जड़ जीव की अलग रूप से प्रतीति होती है और जब सर्वत्र ब्रह्मानुभव हो जाता है तब सर्वत्र ब्रह्म प्रतीति होती है । यहां 'इति' शब्द हेत्वर्थक है । जब यह जड़ है, यह जीव है, ऐसी भेद प्रतीति नहीं होती तब ही ब्रह्मानुभव होता है ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्म की प्रतीति हो जाती है और जड़ जीव की प्रतीति नहीं रहती ॥३३॥

आभास—किं तावता ? कदा वा प्रतीतिरेषा गच्छति ? इति तद्द्वयं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह ब्रह्म की प्रतीति होने से क्या ? और जड़ जीव की यह प्रतीति कब निवृत्त होती है ? इन दोनों का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।**
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥३४॥

श्लोकार्थ—सर्वज्ञ भगवान् की यह देवता रूप माया जब प्रवृत्ति रूप से अर्थात् अविद्यारूप से नहीं रहती किन्तु जब वह विद्यारूप बन जाती है तब यह जोव ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता हुआ अपने परमानन्द रूप में स्थित होकर पूजित होता है ॥३४॥

सुबोधिनी—यद्यषेति । एषा माया भगवतो विशारदस्य सम्बन्धिनो देवी देवतारूपा पूर्वाऽवस्थात उपरता भवति । तथापि तस्या न निःस्वभावत्वं भवेत् । किन्तु सा मतिरूपा भवति । यदा प्रवृत्तिरूपा भवति तदा माया । निवृत्तिरूपा मतिरिति विशेषः । तदाऽयं जीवः स्वे महिम्नि सम्पन्न एव स्वरूपं प्राप्त एव महीयते । स्वाराज्यं करोतीत्यर्थः । एवं—"**सर्वं हरिः**" रित्येतदर्थं सपरिकरः पुरुषावतारो निरूपितः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—यह माया सर्वज्ञ भगवान् की सम्बन्धिनी है तथा देवतारूप मानी जाती है । यह जब अपनी प्रवृत्तिरूप पूर्वावस्था से उपरत हो जाती है तब उसकी सत्ता नहीं रहती यह नहीं कह सकते, किन्तु वह माया पूर्वावस्था से उपरत होने पर विद्यारूप में परिणत हो जाती है । ऐसी स्थिति में जीव को स्वरूप लाभ हो जाता है ।

जब वह प्रवृत्तिरूप रहती है तब माया कहलाती है, जब निवृत्तिरूप होती है तब विद्या कहलाती है, यह विशेष है । विद्यारूप में परिणत होने पर, जड़ जीव बुद्धि नहीं रहती तब वह जीव अपने परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करके पूजित हो जाता है स्वराज्य करता है । इस प्रकार सब जड़ जीव हरि का रूप ही है यह निर्देश करने के लिए, परिकर सहित पुरुषावतार का वर्णन किया ।।३४।।

आभास—एवमन्यत्राऽपि कृष्णे पुरुषोत्तमे जन्मकर्मनिरूपणं तस्य भगवत्त्वज्ञानार्थमेवेत्याह—

आभासार्थ—इसी तरह अन्य अवतार में भी समझना चाहिये । पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में जन्म कर्म का निरूपण उसकी भगवत् रूपता का ज्ञान कराने के लिए किया गया है इसी को कहते हैं कि—

श्लोक—**एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।**
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ।।३५।।

श्लोकार्थ—इस तरह हृदय के पति, अजन्मा और अकर्मा के जन्म और कर्म वेद में भी गुह्य ही हैं । विवेकी लोगों ने उसका इसी रूप से वर्णन किया है ।।३५।।

सुबोधिनी—एवमिति । ननु उपदेशातिदेशयोः को विशेष इत्यत आह । अजनस्य जन्मानि, अकर्तुः कर्माणीति । विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यं विशेषः । "**एतावानस्य महिमे**" ति वचनात् । एवमेव हि कवयो वर्णयन्ति विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेम । ननु कथं प्रतीतिरविरोधेन ? तत्राऽऽह—**वेदगुह्यानीति** । वेदेऽपि गोप्यानि । भ्रान्तानां विरुद्धवत्प्रतीत्यर्थं तथा वचनम् । वस्तुतस्तु सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोध एव नास्ति । किञ्च । **हृत्पतेः** । सर्वेषां हृदयानां स एव प्रेरकः । तत्र तत्र अनेकविधं प्रेरयति तथाऽनेकविधो भवतीत्यर्थः ।।३५।।

हैं ।

व्याख्यार्थ—यहां शंका करते हैं कि उपदेश तथा अतिदेश में क्या भेद है ? इसका उत्तर देते हैं कि पहले जो कहा जाता है वह उपदेश है तथा जो बात अन्यत्र प्रसिद्ध है उसे किसी कारणवश अन्यत्र कह देना अतिदेश है। पुरुषावतार के जन्म आदि का कथन उपदेश है और 'एवं जन्मानि कर्माणि' से पुरुषावतार में प्रसिद्ध जो जन्मादि है, उनका पुरुषोत्तम भगवान् में कहना अतिदेश है।

अजन्मा भगवान् के जन्म, अकर्त्ता भगवान् के कर्म, ये सब बातें ब्रह्म में सम्भव है क्योंकि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय है। इस प्रकार विरुद्ध धर्माश्रयता बताने से भगवान् का माहात्म्य सिद्ध होता है जिसका निर्देश 'एतावानस्य महिमा' आदि से श्रुति में किया गया है। विद्वान भी भगवान के विरुद्ध धर्माश्रयत्व का निरूपण करते हैं।

यहां प्रश्न होता है कि भगवान् में विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्वक प्रतीति कैसे होती है ? इसका उत्तर है कि 'वेदगुह्यानि' वेद में भी जन्म और कर्म का वर्णन गुप्त रूप से ही किया गया है वेद में भी इनका रहस्य प्रकट नहीं किया गया है जिससे भ्रांत पुरुषों को भगवान् विरुद्ध की तरह प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भगवान् तो सर्व प्रकार के रूप धारण करने में समर्थ है। ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विरोध ही नहीं है। तदुपरांत भगवान् 'हृत्पति' है। सबके हृदयों के प्रेरक वही है। प्रेरणा रूप धर्म विशेष से ब्रह्म भी अनेक प्रकार का हो जाता है। जहां जिस तरह अनेक प्रकार से प्रेरणा करता है वहां उस तरह अनेक प्रकार का हो जाता है।।३५।।

आभास—कथं वर्णयन्ति ? का वा तस्य लीला ? किं स्वरूपम्। कथं ज्ञायते ? इत्याकांक्षायामाह **स वा इदमिति** त्रिभिः। अथवा। **"सूत जानासी"** त्यस्य वा (?) उत्तरम्।

आभासार्थ—विवेकी लोग अजन्मा, अकर्त्ता भगवान् के जन्म कर्म कैसे निरूपण करते हैं ? और भगवान् की कौनसी लीलायें हैं ? भगवान् का क्या स्वरूप है ? और वह कैसे जाना जा सकता है ? इसको निम्नांकित तीन श्लोकों से कहते हैं। वस्तुतः यहां 'सूत जानासि भद्रन्ते' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

श्लोक—**स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।**
भूतेषु चाऽन्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ।।३६।।

श्लोकार्थ—जिसकी लीला सत्यार्थ है ऐसे भगवान् पुरुषोत्तम इस विश्व का निर्माण करते हैं, रक्षा करते हैं और संहार करते हैं किन्तु, तत्सुलभ हर्ष-मोह आदि से आलिप्त रहते हैं, प्राणियों में अन्तर्हित हैं अतः स्वतन्त्र हैं। छहों इन्द्रियों के रस-रूपादि विषयों के सारभूत रस का वे स्वयं ही अनुभव करते हैं।।३६।।

सुबोधिनी—स पुरुषोत्तमः। वै निश्चयेन। कालादीनां तत्प्रेर्यत्वात्। **इदं विश्वमिति** प्रपञ्चे है ।।नवारितः। अक्षरकालकर्मस्वभावप्रकृतिपुरुषैः क्रियते जगदिति यद्बहुधा निरूपितं तद्वस्तुतो

भगवानेव करोति । तत्र हेतुः—**अमोघलील इति** । केवलमक्षरादिभिः कृते स्वतन्त्रस्य भगवत इच्छाऽभावे सति क्रिया व्यर्था स्यात् । कार्यव्यापृतत्वेन सम्यक्स्फुरणाभावाच्च । भगवतस्तु लीला सा । जगतो भोग्यत्वात् । व्रीहीनिव वा सृजत्यवत्यत्ति । भक्षणकथनात् । अन्येषां कर्मकरत्वेनाऽप्रयोजकत्वमुक्तम् । जीवानामपि तथात्वेन वैलक्षण्यमाह—**न सज्जत इति** तत्कृतगुणदोषा मोहहर्षादयः सङ्गः। तन्नास्ति । तत्र प्रमाणमिव कथयन्नस्मिन्निति निर्दिशति । भूतेषु स्वांशभूतेषु जीवेषु च न सङ्गः । जीवजडयोरनासक्तिरुक्ता । ननु सर्वत्र कार्यकारणयोर्दर्शनाद्भगवतश्चाऽदर्शनात्कथं भगवान्करोति । दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च । तत्राऽऽह – **अन्तर्हित आत्मतन्त्र इति** । अन्तर्हितत्वाददर्शनम् । आत्मतन्त्रत्वान्न दृष्टसम्भवः । दृष्टानां परतन्त्रत्वात् । ननु सर्वत्राऽन्तर्हितः अनुप्रविष्टश्चेत्करोति तदा भोगे दोषः । जीवैः सह भोगात् । प्रथमत एव वा भोगे भुज्यमानानामभावापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । षाड्वर्गिकं जिघ्रति । भोगो हीन्द्रियसाध्यः । इन्द्रियाणि तु धर्मानेव गृह्णन्ति न धर्मिणः । तत्र केवलानां ग्रहणं जीवैरशक्यम् । इन्द्रियाणां च क्षणमात्रं धर्मैकदेशसम्बन्धः । तथाच पञ्चविषयाणां भोगो भगवत्साध्य एव । **जिघ्रतीति** धर्माणामेव ग्रहणम् । लोके केवलधर्मग्रहणं घ्राण एवेत्युक्तम् । षण्णामिन्द्रियाणां पञ्चपर्वाविद्याव्याप्तत्वेन प्रत्येकं पञ्चरूपत्वात्पञ्चविधत्वं वर्गत्वम् । तथाच त्रिंशद्भेदा भवन्ति । अष्टाविंशतिभेदानि तत्त्वानि, स्वयं, भक्तिश्चेति । तेषां रसान् स्वयमेवाऽनुभवतीत्यर्थः । ज्ञानसहितानां रूपादीनां न जीवं प्रति सर्वभावनाऽऽत्मसमर्पणं किन्त्वेकदेशेन कथञ्चिदेव । न तथा भगवतीत्याह – **षड् गुणेश इति** । ईशत्वेन नियामकत्वं तदधीनत्वं चोक्तम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—विषयों के वे पुरुषोत्तम निश्चयपूर्वक इस विश्व को उत्पन्न करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं और इसका सहार करते हैं। काल, कर्म, स्वभाव आदि के प्रेरक भगवान् हैं । वे स्वतन्त्र नहीं हैं इसलिए वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकते ।

'इदं विश्वम्' यह विश्व अर्थात् यह जगत्, अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव, प्रकृति और पुरुष से बनाया गया है। इस तरह अनेक प्रकार से जगत् के निर्माण का निरूपण किया गया है, किन्तु वस्तुतः इस जगत् का निर्माण भगवान् ही करते हैं, क्योंकि उनकी लीला अमोघ सफल कही गई है।

केवल अक्षर, काल आदि से जगत् का निर्माण हो और यदि स्वतन्त्र जो भगवान् हैं उनकी इच्छा न हो, तो काल, कर्म, स्वभाव आदि की जगत् निर्माण क्रिया व्यर्थ रहेगी सफल नहीं होगी। जगत् निर्माण कार्य में व्यस्त रहने के कारण उनमें निर्माण कार्योचित स्फूर्ति का अभाव ही रहता है। भगवान् को इसमें कोई क्लेश नहीं होता क्योंकि, इनका यह निर्माण कार्य लीलारूप है। लीला में आभास नहीं होता तदुपरांत यह जगत् उनका भोग्य है अथवा भगवान् जगत् को चावलों की तरह उत्पन्न करता है, रक्षा करता है तथा उसको खा भी जाता है। जगत् भगवान् का भक्षण कहा गया है– यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव भगवान् के भृत्य हैं. भगवान् की प्रेरणानुसार कार्य करते हैं अतः जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में अप्रयोजक हैं।

यदि कहो कि जीव भी तो भोक्ता है तो फिर क्या भगवान् भी जीवों के समान हैं? तो उत्तर देते हैं कि नहीं, विश्व निर्माण सुलभ जो गुण दोष रूप मोह हर्ष आदि हैं वे भगवान् में नहीं हैं।

इसलिए जीव से उनमें वैलक्षण्य है । श्लोक में "अस्मिन्" पद से यह अभिप्राय है कि 'सूतजी [illegible] विषय में अपना अनुभव कह रहे हैं । अर्थात् इस जगत में भगवान् असंग रूप से रहते हैं, [illegible] आसक्त नही होते । पंचमहाभूतों में और स्वांशरूप जीव में भी भगवान् आसक्त नहीं हैं । इस प्रका[illegible] भगवान जीव और जड़ में अनासक्त ही है यह कहा गया ।"

शङ्का करते हैं कि सर्वत्र कार्य और कारण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं किन्तु भगवान् तो दि[illegible] देते नहीं, तो अदृष्ट भगवान् इस विश्व का निर्माण करते हैं यह कैसे माना जा सकता है ? क्यों[illegible] जब तक दृष्ट से काम चल सकता हो तब तक अदृष्ट भगवान् को कारण मानना उचित नहीं । इस[illegible] उत्तर में कहते हैं कि भगवान् विश्व में छिपे हुए हैं इसलिए दिखाई नहीं देते, स्वतन्त्र होने से उन[illegible] दर्शन सम्भव नहीं है । जो दृष्ट होते हैं वे परतन्त्र होते हैं । भगवान् परतन्त्र नहीं हैं इसलिए दृष्ट [illegible] नहीं हैं ।

जब वह भगवान् सर्वत्र छिपा हुआ एवं सर्वत्र प्रविष्ट रहता हुआ सब कुछ करता है, तब जीव की तरह जीव के साथ ही वह भी भोग करता है तो फिर भगवान् में भी दोष आ जायेगा, वह भी जीव तुल्य हो जायेगा । यदि भगवान् विषयों का पहले ही भोग कर लें तो फिर कुछ भी शेष न रहते पर जीव किसका भोग करेगा ? इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'षड्वर्गा[illegible] जिघ्रत" छः इन्द्रियों के जो विषय हैं उनको भगवान् सूंघता मात्र है । जीव इन्द्रियों से भोग करता है । अर्थात् जीवकृत भोग इन्द्रिय साध्य है और इन्द्रियां विषयगत धर्मों का ही ग्रहण करती है, धर्मी को नहीं । जीववृत भोग में गंधादि से रहित विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता । धर्म रहित धर्मी और धर्मी रहित धर्म तो भगवान् के ही भोग्य है । तात्पर्य यह है कि जीव, धर्म रहित धर्मी का ग्रहण नहीं कर सकते । भगवान् केवल धर्म को भी ग्रहण कर सकते हैं और केवल धर्मी का भी, रूपादि गन्धादि को ग्रहण कर सकते हैं । जीव धर्मी के बिना केवल धर्मों का पृथक् रूप से ग्रहण नहीं कर सकता । जीव इन्द्रियों के द्वारा क्षणमात्र के लिए धर्म को कुछ अंश का सम्बन्ध करता है । जीव अपनी इन्द्रियों से विषयों के सभी अंशों का भोग नहीं कर सकता । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पाँचों विषयों का सर्वांश में भोग तो भगवान् साध्य ही है ।

भगवान् धर्मों को ही ग्रहण करते हैं । लोक में केवल धर्म का ग्रहण करना यह तो सुगंध में ही सम्भव है और सुगंध का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय ही कर सकती है इसलिए श्लोक में केवल धर्म-बोधक "जिघ्रति" पद दिया गया है । जीव की छहों इन्द्रियों में (कर्ण, नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मन) प्रत्येक इन्द्रिय पंच पर्वा अविद्या से (देहाध्यास इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास तथा स्वरूप विस्मृति) व्याप्त है इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय के पाँच-पाँच भेद होते हैं । तदनुसार छः इन्द्रियों के तीस भेद हुए । इस तरह इन तीस भेदों के विषय भी अट्ठाईस तत्त्व, स्वयं भगवान् तथा भक्ति इस तरह कुल मिलकर तीस हैं । इन तीस भेदों के सारभूत रसों का स्वयं भगवान् ही अनुभव करते हैं । मन से ग्राह्य जो ज्ञान है, उस सहित चक्षु आदि से ग्राह्य जो रूपादि है वे जीव को सर्वरूप में सर्वांश में प्राप्त नहीं होते । ज्ञान सहित रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श ये जीव को सर्वरूप में नहीं मिलते किन्तु उसके अमुक-अमुक भाग ही एकदेश रूप में किसी तरह प्राप्त होते हैं । भगवान् में यह नहीं है क्योंकि भगवान् 'षड्गुणेशः' छहों गुणों के ईश हैं । ईश होने से भगवान् नियामक हैं और ये समस्त विषय उनके अधीन हैं इसलिए इनका सर्वांश में भोग भगवान् ही कर सकते हैं ।

इस श्लोक में भगवान् का वर्णन और उनकी लीला प्रतिपादित की गयी है और भगवान् सारभूत रस का भोग करते हैं यह प्रयोजन भी कहा गया है ।।३६।।

आभास—इत्यत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकया पदार्थो निरूपितः । वस्तुतस्तु न सम्यग् ज्ञायत एवेत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म विचारपूर्वक पदार्थ का निरूपण किया गया । वस्तुतः भगवान् यथार्थ रूप में नहीं जाने जा सकते और जो जानने का अभिमान रखते हैं—अविज्ञातं विजानताम् उनके लिए वह परमेश्वर अविज्ञातम् अविज्ञात है । इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**न चाऽस्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।**
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाऽज्ञः ।।३७।।

श्लोकार्थ—मन और वचन के साथ नाम और रूपों का विस्तार करने वाले, सबके उत्पादक इस भगवान् को लीला को निपुण प्रमाणों से ब्रह्मा भी नहीं जानता तब जिस तरह अज्ञानी मनुष्य नट की चर्या को नहीं समझ सकता उसी तरह तुच्छ बुद्धि वाला कोई भी जन्तु भगवान् की लीला को कैसे समझ सकता है ? ।।३८।।

सुबोधिनी—न चाऽस्येति । अयमभिप्रायः । सर्वरसास्वादनं भगवत उक्तम् । ते च रसा उत्कृष्टा अपकृष्टाः स्वत आधारतोऽधिकारिभेदेन च भवन्ति । ते च भगवता अनुभूयन्ते न वेति सन्देहः । सर्ववस्तुषु रसरूपेण भगवत एव प्रविष्टत्वान्न स्वात्मानं प्रत्युत्कृष्टता अपकृष्टता वा । सर्वरूपत्वाच्च द्वितीयाऽपि कोटिः । चकारात्प्रमाणान्तरस्याऽपि निवृत्तिः । एवं निरूपणेन भक्त्या भगवदाविर्भावात्पश्यन्नाह—**अस्येति** । कृष्णस्य । **कश्चिदिति** । ब्रह्माऽपि । निपुणेनाऽपि प्रमाकरणेन । तत्र हेतुः—**धातुरिति** । उत्पादको हि भगवान् तदुपादानोपलम्भकः कस्मै प्रयोजनाय कथं सृष्टवानिति कथमन्यो विजानीयात् । तत्राऽपि जन्तुः कृमितुल्य ऊहापोहकौशलरहितः । भगवतोऽपि न स्वाभाविक्यः क्रियाः । किन्तु ऊतीः । निपातप्रयोगश्चाऽवान्तरभेदाऽपरिज्ञानाय । सर्वथा अज्ञाने हेतुः । मनोवचोभिः सह नामानि वेदान्, रूपाणि विषयान्, सन्तन्वतो विस्तारयतः । **चतुर्भिश्च महारोगैर्व्याप्ता ऊतीर्न जानते । नटवच्चाऽपि करणमन्यथा प्रतिभासनात्** । प्रमाणबलेन हि परिज्ञानम् । प्रमाणव्यामोहार्थमेव नटप्रवृत्तिरित्याह—**नटचर्यामिति** । सुतरामज्ञः । पुष्टिमार्गानभिज्ञ इत्यर्थः ।। ३७ ।।

व्याख्यार्थ—अभिप्राय यह है कि रस का आस्वादन तो भगवान् ही करते हैं । इस तरह पूर्वोक्त श्लोक में कह चुके हैं । ये रस स्वतः आधार तथा अधिकारी के भेद से उत्तम तथा हीन होते हैं । जैसे जल मधुर होते हुए भी खारी जमीन में खारा हो जाता है इस तरह आधार के भेद से रस में भेद होता है स्वतः उत्तम आम्र आदि है और ककड़ी आदि हीन है इस तरह स्वतः भेद से रस में भेद होता है । इसी तरह कीटादि से दूषित अन्न अधिकारी भेद से उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट समझे जाते हैं । उन रसों का भगवान् अनुभव करते हैं या नहीं इसमें सन्देह है ।

सर्व वस्तुओं में, रस रूप से भगवान् ही प्रविष्ट है इसलिए भगवान् के लिए रसों की उत्तमता और हीनता नहीं है। इसलिए भगवान् सभी रसों का अनुभव करते हैं यह प्रथम कोटि है।

सर्वरूप भी वही है ऐसी स्थिति में वे रस का अनुभव नहीं करते यह द्वितीय कोटि है। अर्थात् भगवान रूपान्तर में रस का अनुभव करते हैं। अपने स्वरूप से नहीं करते। वेद में कहा है कि यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवतः ओदनः'। जिसके लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ओदन रूप हैं। भगवान् इनका भक्षण काल रूप से करते हैं अपने रूप से नहीं।

इस तरह निरूपण करते हुए सूतजी के हृदय में भक्ति प्राचुर्य से भगवान् का आविर्भाव होने से मानो भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करते हुये कहते हैं 'अस्य' इस भगवान् कृष्ण' की लीला को कोई नहीं जान सकता।

'कश्चित्' अर्थात् ब्रह्मा भी अपनी निपुण-कुशल-इन्द्रियों से भगवान् की लीला को नहीं जान सकते क्योंकि भगवान् उनके भी उत्पादक हैं। भगवान् की लीलाओं को भगवान् ने किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार इस सृष्टि को उत्पन्न किया इनको जब ब्रह्मा भी नहीं जान सकते हैं तब और कोई कैसे जान सकता है ? और वहां भी जीव तो तुच्छ है तथा कृमि तुल्य है। अतः उसमें तर्क करने की भी शक्ति नहीं है। भगवान् की ये क्रियायें स्वाभाविकी नहीं किन्तु लीलारूप है। श्लोक में 'ऊती:' यह जो निपात दिया गया है वह यह निर्देश करता है कि लीलाओं के अवान्तर भेदों का परिज्ञान किसी को भी नहीं है। क्योंकि 'ऊती यूति" इस सूत्र से ऊति शब्द को निपातनात् सिद्ध किया गया है। इसमें प्रकृति प्रत्यय विशेष का परिज्ञान नहीं कराया गया है। इसी प्रकार यहां भी "ऊती:" पद से भगवान् की अवान्तर लीलाओं का ज्ञान किसी को भी नहीं है यह बताया है। मन और वाणी सहित नामात्मक वेदों तथा रूपात्मक विषयों को बनाने वाले भगवान् की लीला को कौन जान सका है ? अर्थात् जब वेद भी भगवान् की लीलाओं को नहीं जान पाते तब औरों की तो फिर सामर्थ्य ही कहां ?

अर्वाचीनत्व, जन्तुत्व, कुमनीषत्व और अज्ञत्व-जीव में ये चार महारोग हैं। जीव इनसे ग्रस्त होने के कारण भगवान् की लीलाओं को नहीं जानते। भगवान् के सब कार्य नट के समान है। जैसे नट को बराबर नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि उसका अन्यथा रूप में भान होता है उसी तरह भगवान् की लीलाओं को कोई नहीं जानता। प्रमाण बल से परिज्ञान सम्भव है किन्तु प्रमाण भी भगवान् का निरूपण बराबर नहीं कर पाते।

यहां प्रमाण शब्द से इन्द्रियां और वेद दोनों ही लिये गये हैं। इन्द्रियों के व्यामोह के लिए ही नट की प्रवृत्ति होती है इसी का निर्देश 'नटचर्याम्' शब्द से किया गया है।

जीव अत्यन्त अज्ञानी है। पुष्टि अनुग्रह मार्ग को वह नहीं जानता। जो पुष्टिमार्गीय है वही भगवान् के स्वरूप का तथा उनकी लीलाओं का ज्ञान कर सकता है। भगवान् किस प्रकार और किसलिये लीला करते हैं, किस प्रकार और किसलिए 'आघ्राण' करते हैं ? इसको पुष्टिमार्गीय जीव ही जान सकता है अन्य नहीं। अभिप्राय यह है कि इसका अनुभव तभी होता है जब भगवान् स्वय जीव पर अनुग्रह करते हैं ।।३७।।

आभास—तर्हि कथं निस्तार इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—जीव जब भगवान् की लीलाओं को नहीं जान पाता है तब उसका निस्तार कैसे होगा ? इस आशङ्का पर कहते हैं—

श्लोक—**स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।**
योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—उस महापराक्रमी चक्रपाणि विधाता परमात्मा की पदवी को नहीं जान सकता है जो निष्कपट सेवा से उनके चरण-कमल की सुगन्ध का निरन्तर सेवन करता है ।।३८।।

सुबोधिनी—स वेदेति । धातुरिति । पूर्ववत् । स तु न ज्ञात एव । अज्ञायमानस्वरूपत्वात् । कार्यं तु लौकिकम् । तन्मार्गपरिज्ञाने समागमनं बुद्ध्वा सहभावत्कार्याणां तत्त्वं ज्ञायेतेति तस्य गतिमार्गो ज्ञातव्यः । लौकिकवैदिकप्रमाणा (?) ज्ञानाभावे हेतुमाह—**परस्येति** । सर्वप्रमाणाद्दूरे वर्तमानस्येत्यर्थः । कदाचिदशक्तावल्पचलने तत्रत्यैर्ज्ञायेतेत्याशङ्क्याऽऽह— **दुरन्तवीर्यस्येति** । दुष्टः अन्तो यस्य वीर्यस्य पराक्रमो न समाप्यत एव कदाचिदपि । समाप्तिश्चेत्प्रलय एवेति दुरन्तता । प्रलयानन्तरं तु ज्ञातैव नास्तीति भावः । किञ्च । कालस्यैव परिज्ञानं सम्भवति । तच्च कालचक्रं पाणौ यस्य । कालमपि स्थिरीकृत्य तिष्ठति । अथवा । सर्वमेव जगत् रथः । तस्याऽप्यधश्चक्रम् । तत्पाणौ यस्येति । हस्तचालनेन चलति । हस्ताधारश्च । स कथं शकटस्थैर्ज्ञातुं शक्यते । अतो भगवदनुवृत्तिरेव ज्ञानहेतुरित्याह—**योऽमाययेति** । दीर्घकालादरनैरन्तर्यसेवायां मायाऽभावोऽप्यङ्गम् । सर्वो हि लौकिको वैदिकश्च मायया भगवन्तं भजते । एवं हि कृते अयमस्मभ्यमिदं दास्यतीति बुद्ध्या भगवतः सकाशात्पदार्थान् ग्रहीतुं भगवद्वञ्चनार्थं प्रयत्नकरणात् । भगवांस्तु ततोऽपि चतुरः । अतो माया त्याज्या । स्वयुक्तिविचारो मायेति पर्यायः । सन्तता निरन्तरा । अनु पश्चाद्वृत्तिरिति गतिपश्चाद्भावोक्तेर्दीर्घकालादरौ बोधितौ । चरणपरिज्ञानं हि मार्गज्ञाने हेतुः । तदेव पङ्कजम् । तस्य गन्धः । भगवतः शयने पादसंवाहने ऊर्ध्वमुखस्य चरणस्य आघ्राणे गन्धोऽनुभूयते । तथा येषां हृदये भगवान् स्वच्छन्दं शेते । बहिरिन्द्रियाणि च गन्धेनाऽऽकृष्टानि तत्रैव प्रविशन्ति स च भगवन्मार्गं जानातीति ज्ञानपक्षः । भक्तिपक्षे तु तस्य चरणो भक्तिमार्गः । स च शुद्धे विशदेऽन्तःकरणे आविर्भूतं सरोजम् । तत्र गन्धः सन्तः । प्रेम वा । तस्य भजनं निरन्तरानुवृत्तिरिति ।।३८।।

व्याख्यार्थ—यहां 'धातु' का अर्थ है सबका कारणरूप भगवान् वह भगवान् तो ज्ञात ही नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप नहीं जाना जा सकता । विधाता होने से उसका ज्ञान न होते हुए भी उसके कार्यों से अनुमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि कार्य लौकिक है । भगवान् के माग का भक्तिमार्ग का ज्ञान होने पर, हृदय में भगवान् का आगमन होता है । इस आगमन से उनके साथ रहने वाले कार्यों का सत्त्वज्ञान हो सकता है । कार्यों का तत्त्वज्ञान होने पर, भगवान् का ज्ञान होता है इसलिए भक्तिमाग को जानना चाहिये । अर्थात् मन आदि में भगवान् का आविर्भाव होने पर उसकी प्राप्ति हो सकती है । लौकिक वैदिक प्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह सभी प्रमाणों से अतीत है ।

कदाचित् अशक्ति के कारण भगवान् मन्द गति से चलेंगे तो लौकिक वैदिक वाले उनको जान सकेंगे ऐसी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि भगवान् के पराक्रम दुरन्त हैं उनमें कभी अशक्ति नहीं आती । उनके पराक्रम की समाप्ति कभी भी नहीं होती, 'दुरन्तवीर्यस्व' उनके पराक्रम का अन्त तो प्रलयकाल में ही होता है क्योंकि जब वे अपने पराक्रम को स्थगित कर देते हैं तब तो प्रलय हो जाता है और प्रलय में तो फिर उनको जानने वाला ही नहीं रहता । तदनुसार प्रलय में तथा सृष्टिकाल में भी उनको कोई भी इदमित्यतया जान नहीं सकता काल की तरह भगवान् का ज्ञान सम्भव है यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि कालचक्र को भी भगवान् ने अपने हाथ में ले रखा है । अर्थात् भगवान् ने काल को भी स्थिर किया हुआ है । वस्तुतः तो काल का ज्ञान होना भी कठिन है । अथवा यह सम्पूर्ण जगत् ही रथरूप है । चक्र रथ के नीचे होता है, इस चक्र को भगवान् ने अपने हाथ से रोक रखा है । उस रथ चक्र की गति, हाथ के चलाने से ही होती है और वह रथ भगवद् हस्त के आधार पर है अतः वह भगवान् रथ में बैठने वालों से कैसे जाना जा सकता है । "भगवान् के अनुवर्तन(भजन)से ही उसका ज्ञान हो सकता है ।" इसी का निर्देश "योऽमायया" से किया गया है । चिरकाल से निरन्तर चलती आ रही सेवा में भी किसी प्रकार की माया का नहीं रहना, उसके ज्ञान में हेतु है । अर्थात् बिना किसी कामना के चिरकाल तक निरन्तर सेवा करने से भगवान् का ज्ञान हो सकता है । लौकिक एवं वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाले सभी जीव भगवान् का भजन किसी कामना विशेष से ही करते हैं । ऐसी सेवा करने से भगवान् हमको यह फल देगा ।" इस प्रकार की बुद्धि से वे जीव भगवान् से (सेवा की एवज में) पदार्थों को लेने के लिए मानो भगवान् की बंचना के लिए प्रयत्न करते हैं । किन्तु भगवान् तो उनसे भी अधिक चतुर हैं । अतः भगवान् के सामने किसी प्रकार की माया नहीं करना चाहिये । "माया का त्याग करना चाहिये ।" अर्थात् सेवा करते हुए किसी प्रकार की कामना नहीं करनी चाहिये । यहां "स्वयुक्ति विचार, माया का पर्याय है । सतत् का अर्थ है निरन्तर । सेवा में भगवान् की अनुवृत्ति, दीर्घकालीन तथा आदर सहित होनी चाहिये । भगवान् के मार्ग को जानने में भगवान् के चरण का परिज्ञान कारण है । 'तत्पाद सरोजगन्धम्' चरण ही कमल है उसकी सुगन्ध । भगवान् शयन करते हों और उनके चरण कमल के संवाहन समय में उनके ऊर्ध्वमुख चरण को सूंघने में गन्ध का अनुभव होता है । "जिनके हृदय में भगवान् स्वच्छंदतया शयन करते हैं । उनकी बाह्य इन्द्रियां चरणारविन्द की गन्ध से आकृष्ट होकर हृदय में प्रवेश करती हैं । इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती हैं । ऐसे व्यक्ति ही भगवन्मार्ग को जानते हैं । यह ज्ञान पक्ष है, क्योंकि "यहां ज्ञानी लोग भगवान् का हृदय में ध्यान करते हैं ।" भक्तिपक्ष में तो भगवान् का चरण ही भक्तिमार्ग है । भक्तिमार्ग रूप वह चरण, विशुद्ध अन्तःकरण में आविर्भूत कमल है अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरण में जब भक्ति समुदित होती है तब वही भक्ति कमल है, भक्ति में स्थित सत्त ही गंध है अथवा यहां गंध पद, प्रेम के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है । उस गंध का सेवन अर्थात् उसकी निरन्तर अनुवृत्ति करते रहना चाहिये ॥३८॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा भिन्नोपक्रमेण प्रस्तुतमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रासङ्गिक बात कहकर अब भिन्न उपक्रम से प्रस्तुत प्रसङ्ग को कहते हैं—

श्लोक—**अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।**
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ।।३९।।

श्लोकार्थ—आप भगवान् हैं और धन्य हैं क्योंकि अखिल लोक के नाथ, सबके आत्मरूप भगवान् वासुदेव को अपनी आत्मा समझकर उसमें प्रेम कर रहे हैं जिससे इस संसाररूपी उग्र चक्र में पुनः पतन नहीं होता ।।३९।।

सुबोधिनी – **अथेति ।** प्रश्नेनैवं ज्ञायते भवन्तो भगवन्निष्ठा इति । इह संसारे भगवन्तो भवन्तः । **"यो यच्छ्रद्धः स एव स" इति वचनात् । धन्या इति ।** धनं भगवद्भक्ति ज्ञानं वा अर्हन्तीति धन्याः । **इत्थमिति ।** हीनमपि सम्बोध्य अनवसरमवसरीकृत्य तन्मुखादपि परमादरेण श्रवणम् । एवं प्रकारः **वासुदेव इति ।** देवान्तराऽभजनं निरूपितम् । **अखिललोकनाथ इति ।** तस्य सर्वेश्वरत्वं च ज्ञात्वा वेदान्तवेद्यतां च । एवं माहात्म्यज्ञानार्थं सुदृढस्नेहार्थं च विशेषणद्वयमुक्त्वा, रुच्यर्थमात्मपदं प्रयुज्य, भावं देवत्वेन रतिं कुर्वन्ति यतः अतो धन्या इति पूर्वेण सम्बन्धः । अस्य फलं पुनः कालसंसारचक्रे महावर्तरूपे पुनः पतनाभावः । एतद्देहावसानपर्यन्तं यथा भवतु तथेति पुनः (?) शब्दार्थः । अनादराभावाय—**उग्र इति** ।।३९।।

व्याख्यार्थ – आप लोगों के प्रश्न से ऐसा ज्ञात होता है कि आप भगवन्निष्ठ हैं । इस प्रपंच में आप लोग भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि 'योयत् श्रद्धः स एव सः'' ऐसा गीता में कहा है । जो जिसमें श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है । आप भगवान् में श्रद्धा-भक्ति रखने वाले हैं, इसलिए आप भी भगवान् ही हैं ।

"धन्याः" का तात्पर्य है कि धनरूप जो भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान है उसके आप योग्य हैं । मैं हीन हूँ, उस हीन के मुख से भी अनवसर को भी अवसर बनाकर परमादर पूर्वक श्रवण करना यह प्रकार जो आपने अपनाया है यही धन्यता का सूचक है ।

यहां 'वासुदेव' पद से यह सूचित किया गया है कि आप अन्य देवताओं का भजन नहीं करते । वह वासुदेव अखिल लोक का स्वामी है । अखिल लोकनाथे तथा सर्वात्मके इन पदों से यह अभिप्राय है कि आप लोग भगवान् को सर्वेश्वर तथा वेदान्त वेद्य जानकर भजन करते हैं । यहां "अखिल लोकनाथे" से सर्वेश्वरता तथा "सर्वात्मके" से वेदान्तवेद्यता का अर्थ लिया गया है । भगवान् सबकी आत्मा है, यह वेदान्त में ही प्रतिपादित किया गया है । इस प्रकार माहात्म्य ज्ञान के लिए और सुदृढ़ स्नेह के लिए दो विशेषण कहे गये हैं । सर्वेश्वरत्व से माहात्म्य ज्ञान का तथा सर्वात्मकता से सुदृढ़ स्नेह का निर्देश किया गया है । आत्मा से ही सबका सुदृढ़ स्नेह होता है । तदनुसार सर्व के आत्मरूप भगवान् में सबका सुदृढ़ स्नेह होना सहज है ।

श्लोकस्थ "आत्मभावम्" में जो "आत्म" पद है, वह ब्रह्म में रुचि हो इसलिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आप लोग आत्मा को देव समझकर प्रेम करते है इसलिए आप धन्य हैं । आपका, इस प्रकार के भगवान् में प्रेम है इसका फल यही है कि इस महा-आवर्त (भंवर) रूप काल से होने वाले संसार-चक्र में फिर पतन नहीं होता । इस देह धारण की समाप्ति तक जो कुछ होना है सो हो

जाये, देह पात होने पर इस उग्र संसार में आप पुनः नहीं गिरेंगे। यहां मूल श्लोक में "भूयः" पद है और सुबोधिनी व्याख्यान में "भूयः" की जगह "पुनः" पद दिया है। दोनों का एक ही अर्थ है। अतः कोई भिन्न अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां "उग्र" पद से यह तात्पर्य है कि यह संसार चक्र उग्र है अतः इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उग्र होने के कारण अनुपेक्षणीय है ॥३९॥

आभास—कुत इदमुद्धृतमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—यह अभिप्राय कहां से उद्धृत किया ? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

श्लोक—**इदं भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम् ।**
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—वेदतुल्य प्रसिद्ध भागवत पुराण को जिसमें उत्तम श्लोक भगवान् के चरित्र हैं, भगवान् वेदव्यास ने बनाया ॥४०॥

सुबोधिनी—**इदं भागवतमिति**। भगवतः सर्वसम्बन्धि भागवतम्। नामेति प्रसिद्धम्। पुरातनम्। पुराणमिति जातिशब्दो वा। वेदेन सम्यङ्मतम्। मतान्तरेष्विव नाऽत्र वेदविप्रतिषेधः। वस्तुनिरूपणार्थं प्रासङ्गिककथाऽपि पुरुषोत्तमकथैवेत्याह—**उत्तमश्लोकचरितमिति**। उत्तमश्लोकस्य चरित्रं यत्र। **आर्षज्ञानेन भगवान्वेदव्यासोऽनुभूय आह ॥४०॥**

व्याख्यार्थ—जहां सब कुछ भगवान् से सम्बन्धित हो उसी का नाम भागवत है। भगवत यह नाम प्रसिद्ध है। पुराणम् का अर्थ है पुरातन अथवा 'पुराण' शब्द पुराणत्व के अर्थ में लिया गया है। अर्थात् श्रीमद्भागवत में पुराणत्व है और वेद के तुल्य है। मतान्तरों में जैसे वेद से विरोध आता है वैसा विरोध यहां नहीं है। पुरुषोत्तमरूप वस्तु के निरूपणार्थ जो कथा प्रासङ्गिक रूप में कही गई है, वह भी पुरुषोत्तम की ही कथा है इसी का निर्देश "उत्तम श्लोक ईरितम्" से किया गया है अर्थात् भागवत में 'उत्तम श्लोक' भगवान् के चरित्र ही वर्णित हैं।

श्लोकस्थ 'ऋषि' पद का तात्पर्य यह है कि भगवान् वेदव्यास के होने से उन्होंने आर्ष-ज्ञान से भगवच्चरित्रों का अनुभव करके उनका वर्णन किया है ॥४०॥

श्लोक—**निःश्रेयसाय लोकानां धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।**
तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—लोकों की मुक्ति के लिए इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है। यह वैभव की प्राप्ति कराने वाला कल्पारूप तथा स्वतः गुण से और अर्थ से उत्तम है। अतः इस भागवत को जितेन्द्रिय, ज्ञानियों में श्रेष्ठ अपने पुत्र शुकाचार्य को व्यासजी ने हृदयंगम कराया अर्थात् पढ़ाया ॥४०॥

सुबोधिनी—ग्रन्थप्रवृत्ति: सर्वमुक्तये । धनप्राप्ति: कल्याणं च । लक्ष्म्या: सर्वगत या भक्ताया: श्रवणात् । **महदिति** । स्वतो गुणतोऽर्थतश्च । स्वस्य ज्ञानार्थं परम्परामाह । व्यास: शुक वेदवत्पाठितवान् । गोप्यत्वाय—**सुतमिति** । जितेन्द्रियता ज्ञानं चाऽत्राऽङ्गम् । तस्योत्कर्षे भागवतं फलतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**आत्मवतां वरमिति** ।।४१।।

व्याख्यार्थ- इस भागवत ग्रन्थ की प्रवृत्ति सबकी मुक्ति के लिए है । इससे धन प्राप्ति तथा कल्याण दोनों ही मिलते हैं, क्योंकि सर्व में निवास करने वाली भक्तरूपी लक्ष्मीजी भी भागवत का श्रवण करती है । अत: इसके श्रवण से धन प्राप्ति सहित भक्ति उत्पन्न होती है और भक्ति से कल्याण मिलता है ।

श्लोक में आये हुए "नि:श्रेयसाय" "धन्यं स्वस्त्ययनं" इन पदों के अर्थ क्रमश: ग्रन्थप्रवृत्तिर्सर्वमुक्तये-धन प्राप्ति तथा कल्याण है । यह भागवत स्वत: गुण से तथा अर्थ से महान् है । यहाँ 'महत्' शब्द से यही तात्पर्य है। सर्ववेद और इतिहासों का साररूप होने से भागवत का स्वत: उत्कर्ष है और वास्तविक वस्तु का प्रतिपादन करने से यह गुण से महान् है। इसका अर्थ भगवान् है, इसलिए अर्थ से भी उत्तम है।

सूतजी स्वयं को जिस परम्परा ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका उल्लेख करते हैं कि- व्यासजी ने, शुकदेवजी को वेद की तरह इस भागवत का अध्ययन कराया ।

'सुतम्' पद का यह तात्पर्य है कि भागवत का ज्ञान गोप्य है, किन्तु व्यासजी ने, शुकदेवजो को स्वपुत्र होने के नाते, भागवत के गुप्त ज्ञान को बताया। भागवत को जानने में जितेन्द्रियता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि, ये दोनों ही भागवत के अंग हैं । ये दोनों जिसमें जितनी अधिक मात्रा में होंगे, उसको भागवत उतना ही अधिक फल देगा । इसलिए शुकदेव को यहाँ 'आत्मवतां वरम्' कहा है । जिन शुकदेवजी को भागवत का ज्ञान दिया गया है वे जितेन्द्रिय एवं ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे । जितेन्द्रिय और ब्रह्मज्ञानी, आत्मवान् कहलाते हैं और उनमें शुकदेवजी उत्तम हैं, इसलिए इनमें जितेन्द्रिय और ज्ञान की उत्कर्षता है ।।४१।।

आभास—प्रमाणान्तरचिन्ता न कर्तव्येत्याह—

आभासार्थ—दूसरे प्रमाणों के विचार की कोई आवश्यकता नहीं, इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।**
स च संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभि: ।।४२।।

श्लोकार्थ—इस भागवत में सम्पूर्ण वेदों और इतिहासों के सार-सार को लेकर उद्धृत किया है, इस भागवत को गङ्गा तट पर परम ऋषियों के मध्य में बैठे हुये आमरणान्त अनशन करने वाले महाराजा परीक्षित को श्रीशुकदेवजी ने सुनाया ।४२।

सुबोधिनी · **सर्ववेदेति । त्रैवर्णिकानामुद्धारार्थे वेद: । स्त्रीशूद्राणामितिहास: । उभयसारोद्धारत्वात्सर्वोद्धारकम् । परम्परामाह—स चेति । स्पष्टम् । प्रायो** मरणपर्यन्तमन्ननिवृत्ति: । **गङ्गायामिति देशोत्कर्ष: । परमर्षिभिरिति सत्सङ्ग: ।।४२।।**

व्याख्यार्थ– ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए वेद हैं । स्त्री, शूद्रों के उद्धारार्थ इतिहास है । वेद और इतिहास का इस श्रीमद्भागवत में सार उद्धत किया गया है इसलिए यह भागवत सर्वोद्धारक, त्रैवर्गिक और स्त्री-शूद्रादिक सभी का उद्धार है, सबका सार होने से यहाँ दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है । अब भागवत सुनने की परम्परा कहते हैं कि श्रीशुकदेवजी ने यह भागवत राजा परीक्षित को सुनाया । आमरणान्त अन्न त्याग करके राजा गङ्गा के किनारे बैठा है–इससे देश की उत्तमता बताई गई है । राजा परम ऋषियों की मण्डली से घिरा हुआ है, इससे राजा को सत्सङ्ग है यह बताया गया है ।।४२।।

आभास—"धर्म: कं शरणं गत" इति षष्ठप्रश्नस्योत्तरमाह—

आभासार्थ—"धर्म किसकी शरण में गया ?" इस षष्ठ प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि: सह ।**
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदित: ।।४३।।

श्लोकार्थ—धर्म, ज्ञान आदि के साथ जब कृष्ण अपने धाम पधार गये, तब कलिरूप अंधकार से रुद्ध दृष्टि वालों को प्रकाश प्रदान करने के लिए इस समय यह भागवतरूपी सूर्य उदित हुआ है ।।४३।।

सुबोधिनी– कृष्ण इति । धर्मस्तु भगवतैव सह गत: । स्थिते शरणचिन्ता । कलिरन्धकारतुल्य: । तेन पिहितदृष्टीना न त्वन्धानाम् । स्वतोऽदुष्टानाम् । पुनर्धर्मादिज्ञापनार्थं पुराणरूपोंऽर्कोऽधुनोदित: । स्थितएव लोके प्रकटीभूत इत्यर्थ: ।।४३।।

व्याख्यार्थ—धर्म भगवान् के साथ ही चला गया क्योंकि भगवान् कृष्ण, धर्म-ज्ञान आदि के साथ अपने धाम में चले गये । यदि धर्म यहां ही रहता तो यह चिन्ता होती कि धर्म किसकी शरण में गया ?

यह कलि अंधकार के तुल्य है । इस अंधकार से जिसकी दृष्टि पर आवरण आ गया है, उनकी कलिरूप अंधकार की निवृत्ति के लिए, यह भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय उदित हुआ है-जो स्वत: अन्ध हैं उनके लिए नहीं । अर्थात् जो स्वत: अन्ध नहीं हैं किन्तु कलियुग ने जिनको अंध बना दिया है अर्थात् जो स्वत: दुष्ट नहीं हैं उनको पुन: धर्मादि का ज्ञान कराने के लिए उसे कलिरूप अंधकार को हटाने के लिए भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय समुदित हुआ है । वही प्रकट हुआ कहलाता है जो वर्तमान तो है किन्तु दिखाई नहीं देता, छिपा हुआ है और फिर सामने उपस्थित होता है अर्थात् श्री भागवत ज्ञान नित्य है ।।४४।।

आभास—स्वस्य प्राप्तिप्रकारमाह—

आभासार्थ—सूतजी अपने को जो भागवत ज्ञान की प्राप्ति हुई है उसका प्रकार कहते हैं—

श्लोक—तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ।
अहं चाऽध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे विप्रों ! वहां सभा में भागवत का कीर्तन करते हुए परम ज्ञान प्रकाश से युक्त श्रीशुकदेवजी से, उनके अनुग्रह से उस सभा में बैठकर, मैंने इस भागवत को जाना है । मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है उसे मैं मेरी मति के अनुसार आपको सुनाता हूं ।

सुबोधिनी— **तत्रेति** । **विप्रा** इति सम्बोधनेन सर्वपूरकत्वाच्छुकः प्रथमं पूरितवान् । अधुना पुनः स्मरणेन भवन्तः पूरयन्तीति । लौकिकत्वाऽभावाय—**ऋषि (?) रिति** । असन्दिग्धार्थकथना-योत्तरत्र प्रकाशनाय च **भूरितेजस इति** । भूरि तेजः ज्ञानप्रकाशो यस्य । ब्रह्मवित्त्वेन तेजोविशेषो वा सर्वज्ञत्वाय । ततः सर्वतोमुखं भागवतं जातमित्याह—**अहं चेति** । सर्व एवाऽधीतवन्तः । अहं च तत्र उपदेशसभायां प्रसङ्गान्न श्रुतम् । किन्तु शुकानुग्रहात्तत्रोपविश्य । **अनुग्रहं** प्राप्य तत्र निविष्टः । सोऽहमुपदेशात्प्राप्तभागवतो वः युष्मान् अध्ययनमनतिक्रम्य तन्मध्ये यथामति स्वबुद्ध्यनुसारेण । अनेन गर्वपरिहारः । उक्तादप्यधिकोऽर्थोऽस्याऽस्तीति ज्ञाप्यते ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—सूतजी ने यहां शौनकादि ऋषियों को 'विप्राः' शब्द से सम्बोधित किया है । इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि शुकदेवजी विप्र हैं । अतः प्रथम इन्होंने भगवद् रस को पूर्ण किया । अब पुनः स्मरणपूर्वक आप लोग भगवद् रस को पूर्ण कर रहे हैं ।

'विप्रर्षि' में जो ऋषि शब्द है उससे यह निर्देश किया गया है कि शुकदेवजी ब्राह्मणों में अलौकिक ब्राह्मण थे । यहां जो 'भूरितेजसः' पद है उससे यह तात्पर्य है कि शुकदेवजी ने भागवत का असंदिग्ध अर्थ कहा और आगे उसका प्रकाश भी हुआ क्योंकि शुकदेवजी में ज्ञान का सर्वाधिक प्रकाश था । ब्रह्मवेता सर्वज्ञ होता है—इसी का सूचक, शुकदेवजी में तेज विशेष है ।

फिर इस भागवत का सर्वतोमुखी प्रचार हुआ । भागवत का सभी ने अध्ययन किया और मैंने भी अध्ययन किया । वहां सभा में जहां भागवत का उपदेश हो रहा था, मैंने इसे प्रासङ्गिक रूप में नही सुना, किन्तु शुकदेवजी के अनुग्रह से, मैंने उस सभा में इसे बैठकर सुना । अथवा श्लोकस्थ "अनुग्रहात्" में ल्यबलोपे पञ्चमी है । तदनुसार उसका यह अर्थ है कि शुकदेवजी के

अनग्रह को प्राप्त कर मैं वहां आसीन हुआ (बैठ गया)। ऐसा मैं जिसे उपदेश द्वारा भागवत प्राप्त हुआ है तथा मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है और जैसी मेरी बुद्धि है उसके अनुसार मैं आपको भागवत सुनाऊँगा।

जैसा पढ़ा है–"यथाधीतम्" जैसी मेरी बुद्धि है–"यथामति" इन दो पदों से, सूतजी ने अपनी अभिमान शून्यता दिखाई है। अर्थात् मैं जैसा कहूँगा, उससे भी अधिक अर्थ इसका हो सकता है। यहां यही निर्देश किया गया है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का
तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादत्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध–अधिकार लीला

मध्यम प्रकरण–मध्यम अधिकार

अध्याय—४

शुकदेवजी के वैराग्य का कारण और व्यासजी की चिन्ता

कारिका—**एवं भागवतार्थस्य निर्धारः स्वाधिकारतः ।**
त्रिभिः कृतो द्वितीये तु त्रिभिस्त्याज्यसमत्वतः ॥१॥
मध्याधिकारे यच्छास्त्रं तदत्र विनिरूप्यते ।
नारदस्याऽधिकारित्वाच्छ्रोतुश्चिन्ताकुलत्वतः ॥२॥
तत्राऽध्याये चतुर्थे तु व्यासचिन्ता निरूप्यते ।
उत्तमप्रक्रियायाश्च वक्तुर्हेतुनिरूपणात् ॥३॥

कारिकार्थ— हीन, मध्यम और उत्तम इन भेदों से अधिकारी तीन प्रकार के कहे गये हैं । इसीलिए प्रथम स्कन्ध को अधिकार निर्णयानुसार तीन प्रकरणों में कहा गया है । प्रथम स्कन्ध के पहले अध्याय से तीसरे अध्याय तक प्रथम प्रकरण है । इस प्रकरण में–जिज्ञासा रखने वाला, अमत्सर वाला और श्रवण में आदर रखने वाला, ये श्रोता के गुण हैं और जिसने भागवत सुनी हो, जिसमें चातुर्य हो, जो गुह्य ज्ञान वाला हो–ये वक्ता के गुण हैं । इस प्रकार के गुण श्रोता एवं वक्ता में जहाँ देखे जावें वहाँ समझना चाहिये कि ये श्रोता और वक्ता अपने अधिकारानुसार हीन

अधिकारी की श्रेणी में हैं । यहां प्रथम स्कन्ध के पहले अध्याय में श्रोता को जिज्ञासा वाला और वक्ता को जिसने भागवत सुनी है ऐसा बताया गया है ।

दूसरे अध्याय में श्रोता को अमत्सर वाला और वक्ता को चातुर्य युक्त बताया है ।

तीसरे अध्याय में श्रोता को श्रवण में आदर रखने वाला तथा वक्ता को गुह्य ज्ञान वाला बताया गया है । इसलिए प्रथम स्कन्ध के इन तीनों अध्यायों वाले प्रथम प्रकरण में हीनाधिकार का निर्णय तीन अध्यायों से किया गया है । यानि उक्त तीनों अध्यायों में अपने अधिकार को आश्रय लेकर वक्ता और श्रोताओं द्वारा भागवतार्थ का निर्धार किया गया है ।

अब दूसरे प्रकरण में मध्याधिकार का निरूपण है । इस प्रकरण में भी प्रथम स्कन्ध के चौथे, पाँचवें और छठे अध्याय लिये गये हैं, क्योंकि जिस प्रकार प्रथम प्रकरण में विहित धर्मों का त्याग बताया गया है उसी प्रकार यहाँ भी अदृष्ट के द्वारा उपकारी जो धर्म है उनके फलों में व्यतिचार होने से वे त्याज्य हैं—यह बात कही गई है । अदृष्टद्वार से उपकारी धर्मों को त्याज्य बताने से दोनों प्रकरणों में समानता है, इसलिए इस प्रकरण में भी तीन अध्याय ही लिये गये हैं ।

इस दूसरे प्रकरण में भगवत्कृपा, भगवदीयत्व और भगवत्त्व ये तीन गुण श्रोता और वक्ता में होने चाहिये यह बताया है । इनमें से एक-एक गुण का एक-एक अध्याय में निरूपण है, इस तरह उक्त तीनों गुणों वाले मध्याधिकार के निरूपणार्थ प्रति अध्याय एक-एक गुण के निरूपक कुल तीन अध्याय हैं ।

इस दूसरे प्रकरण में नारद को अधिकारी और श्रोता को चिन्ताकुल बताया है । इसलिए ये मध्याधिकारी हैं । नारदादि में वैराग्य नहीं होने से इन्हें मध्यमाधिकारी की श्रेणी में माना गया है । नारद में ज्ञान तो पूर्ण रूप से था, पर वैराग्य का अभाव था । सूतजी को शब्दतः ज्ञान था अर्थतः नहीं । शुक वैराग्य युक्त हैं और इन्हें शब्दतः और अर्थतः ज्ञान है । भगवदावेश के लिए वैराग्य आवश्यक है, नहीं तो ज्ञान से अहङ्कार हो जाता है । इसलिए शुकदेव की श्रेणी उत्तम है ।

नारद ने यद्यपि ब्रह्मा से भागवत सुनी है किन्तु प्रमाण बल से प्रमेय बल बलवान होता है इसलिए भगवदिच्छा से नारद में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ ।

नारं, नर सम्बन्धी ज्ञान को देते हैं इसलिए वे नारद कहे जाते हैं । इसलिए ज्ञान दान में नारद का अधिकार है यह बात अध्याय की समाप्ति पर स्पष्ट हो जायगी । तो कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि नारदजी को उत्तमाधिकारी मानना चाहिये था किन्तु भगवदिच्छा से उनमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उक्त गुणों के कारण उन्हें मध्यमाधिकारी की श्रेणी में ही लिया गया है ।

चौथे अध्याय में तो उत्तम प्रक्रिया के वक्ता शुक में वैराग्य का होना कहा गया है ।।१-२-३।।

आभास—पूर्वप्रकरणे स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थो निरूपितः । तत्र मूलत्वेन भागवतमुक्तम् । यस्मिन्भागवते श्रुते सूतस्याऽयं शास्त्रार्थः प्रतिभातस्तदेवाऽस्माभिरपि श्रोतव्यमित्यभिप्रायेण शौनकः सूतं पृच्छतीत्याह व्यासः—

आभासार्थ—इस तरह पूर्व प्रकरण में अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रार्थ (भागवत के अर्थ) का निरूपण किया । वहां मूलरूप से भागवत को कहा गया है । "जिस भागवत के सुनने में सूत को इस प्रकार के भागवतार्थ का ज्ञान हुआ, वही भागवत हम को भी सुनना चाहिये" इसी अभिप्राय से शौनक सूतजी से पूछते हैं, यह बात व्यासजी कहते हैं—

व्यास उवाच—श्लोक—**इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।**
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ।।१।।

श्लोकार्थ—व्यासजी ने कहा—इस प्रकार कहते हुए सूत की अच्छे रूप में प्रशंसा कर दीर्घ सत्रारम्भ करने वाले मुनियों में वृद्ध और ऋषिकुल के नियामक ऋग्वेदी शौनक बोले ।। १ ।।

सुबोधिनी—**इति ब्रुवाणमिति** । सर्वत्र हि वक्तुर्वाक्यसमाप्त्यनन्तर श्रोतुः प्रश्नः । अत्युत्कण्ठया त्विहाऽसमाप्तावेव प्रश्न इत्याह—ब्रुवाणमिति । सम्भावनामात्रेण पृष्टे, समुले शास्त्रार्थे निरूपिते, वक्तरि महत्या श्रद्धया, सम्यक् स्तोत्र कृतवन्त इत्याह—**संस्तूयेति** । संस्तवनं ग्रन्थाद्बहिः। पूवमाकांक्षायाः प्राबल्यात्सर्वैरेव पृष्टम् । अधुना किञ्चिदुत्कृष्टमस्तीति बुद्ध्वा मननेन च तन्निर्धार्य सहस्रसंवत्सरे च भगवदवतारनिश्चयात्तदर्थमेव च सत्रारम्भात्कोलाहले सम्यक् श्रवणं न भविष्यतीति सर्वेषु शृण्वत्सु तत्सम्बन्धी देवतास्वरूपाभिज्ञः शौनक पृच्छतीत्यर्थः । वृद्धो ज्ञानवृद्धः । कुलस्य ऋषिकुलस्य पतिर्नियामकः । बुद्धेर्निर्धारो ज्ञानवृद्धे भवति । उत्तरत्र प्रचारार्थं वचनविश्वासः कुलाचार्ये भवतीति **वृद्धः कुलपतिरिति** पदद्वयेन ज्ञापितम् ।।१।।

व्याख्यार्थ—सब जगह वक्ता की वाक्य समाप्ति पर ही श्रोता प्रश्न करता है, किन्तु यहाँ शौनकादि में अत्यन्त उत्कण्ठा जागृत होने से वक्ता का वाक्य समाप्त होने से पूर्व हो प्रश्न शुरु कर दिया गया है। सम्भावना मात्र से पूछने पर भी सूतजी द्वारा मूल (रूप से) भागवतार्थ का निरूपण किया गया, इसलिए वक्ता में अत्यन्त श्रद्धा हो जाने से सूत की भली भाँति स्तुति की। यह स्तुति किस रूप में की इसका उल्लेख भागवत में नहीं है, वह ग्रन्थ से बाहर है।

पहले तो आकांक्षा की प्रबलता होने से सभी ऋषियों ने पूछा। किन्तु इस समय यह समझ कर कि इस पदार्थ की कुछ उत्कृष्टता है उसे मनन द्वारा निर्धारित करके तथा सहस्र सवत्सर में भगवान् का अवतार निश्चित है इसलिए यद सत्र आरम्भ किया गया है। इसमें यदि सभी मिलकर पूछेंगे तो कोलाहल होने से श्रवण नहीं होगा। इसलिए सबने न पूछकर सबके सुनते हुए ऋषियों के अन्तर्गत जो यज्ञ सम्बन्धी देवता के(भगवान् के)स्वरूप को जानने वाले शौनक ऋषि हैं वे सूतजी से पूछते हैं।

"वृद्ध" से तात्पर्य है–शौनक ज्ञान वृद्ध हैं, ऋषिकुल के नियामक हैं। बुद्धि का निर्धार ज्ञान वृद्ध में ही होता है। फिर ये कुलाचार्य हैं। आगे से आगे प्रचार करने के लिए कुलाचार्य के वचन में विश्वास होता है। यही बात "वृद्ध" और "कुलपति" शब्दों से कही गई है। "वह्वृचः" अर्थात् ये शौनक ऋग्वेदी हैं ॥१॥

आभास—चतुर्धा ह्यत्र प्रश्नः। भागवतविषयकः, कर्तृविषयको, वक्तृविषयकः, श्रोतृविषयकश्चेति। तत्रप्रथममाह—

आभासार्थ—यहां चार प्रकार से प्रश्न हैं– १. भागवत विषयक, २. कर्त्ता के विषय में ३. वक्ता के विषय में और ४. श्रोता के विषय में। इनमें से प्रथम प्रश्न करते हैं—

शौनक उवाच—श्लोक—**सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।**
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवान् शुकः ॥२॥

श्लोकार्थ—शौनकजी ने कहा–हे वक्ताओं में श्रेष्ठ बड़भागी सूत! जिस कथा को भगवान् शुक ने कहा उस धर्मरूप भागवत की कथा को हमारे लिये कहें ॥२॥

सुबोधिनी–सूत सूतेति। आदरे वीप्सा। तव तु महाभाग्यं यद्भागवतं श्रुतवानसीति महाभागेति सम्बोधनम्। नः अस्मभ्यम्। न श्रोतृत्वमात्रमस्मासु किन्त्वस्मभ्यं भागवतं देयमिति चतुर्थीप्रयोगः। वदतां मध्ये श्रेष्ठः। निर्धारणान्न समासः। वदतां मध्ये त्वमेव श्रेष्ठः। यस्यां कथायां श्रुतायां त्वयैवं शास्त्रार्थो निरूपितस्तामेव कथां वद। पुण्यां धर्मरूपाम्। विहितत्वाद्यागवत्। श्रद्धाधिक्ये हेतुः— यद्यस्मात्कारणाद्भगवान् शुक आह। शुक इति मुक्तः। भगवानिति पूर्णगुणः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—सूत ! सूत ! इस प्रकार दो बार जो सम्बोधन है वह सूत के प्रति आदर का सूचक है। हे सूत, आप बड़े भाग्यशाली हैं क्योंकि आपने भागवत सुन रखा है । इसी बात को बताने के लिए यहां "महाभाग" यह सम्बोधन दिया गया है।

"नः" यह चतुर्थी पद है। इसलिए इसका अर्थ है कि–हमारे लिए। तात्पर्य यह है कि हम में केवल श्रोता के धर्म ही नहीं है, किन्तु हमारे लिए भागवत प्रदान करें, इस अभिप्राय से "नः" यह सम्प्रदानार्थक चतुर्थ्यन्त का प्रयोग है। अर्थात् हम भागवत को पूर्ण रूप से समझ जायें। आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। "वदतां वर" में समास इसलिए नहीं किया गया है कि– "न निर्धारणे" यह सूत्र कहता है कि जब किसी के पृथक् निर्धारण करने में षष्ठी हो वहां समास नहीं होता है।

जिस कथा के सुनने पर आपने इस प्रकार के शास्त्र के अर्थ को निरूपित किया है उसी कथा को हमारे लिए कहिये

"पुण्याम्" का अर्थ है धर्मरूप। यह कथा धर्मरूप है। जैसे यज्ञ विहित होने से धर्मरूप है उसी तरह विहित होने से यह कथा भी धर्मरूप है । इसमें हमारी श्रद्धा अधिक है, क्योंकि इस भागवत को श्री शुकदेवजी ने कहा है। 'शुकः" यह पद शुकदेव को जीवन मुक्त तथा "भगवान्" यह पद शुक को पूर्ण गुणयुक्त बताने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् शुकदेव जीवन मुक्त और पूर्ण गुणयुक्त हैं। अतः उनसे कही गई कथा अत्युत्कृष्ट है ।।२।।

आभास—द्वितीयं प्रश्नमाह—

आभासार्थ अब कर्तृ-विषयक प्रश्न कहते हैं—

श्लोक—**कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।**
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ।।३।।

श्लोकार्थ—किस युग में, किस स्थान में, किस कारण से यह भागवत कथा प्रवृत्त हुई है और किसके कहने से व्यास मुनि ने इस संहिता को किया है ? ।।३।।

सुबोधिनी—कस्मिन्युग इति । कर्तुः परिकरापेक्षत्वात्कर्तृप्रश्ने परिकराणामपि प्रश्नः। कालदेशहेतवो हि परिकराः। प्रयोजककर्ता च। त्रिषु प्रवृत्तेयमिति सम्बन्धः । कस्मिन्युगे इयं सम्प्रवृत्ता। कस्मिन्वा स्थाने । केन वा हेतुना। यथाऽत्र चित्तवैयग्र्यं तदभावो हेतुः। केन वा प्रेरितो भवतु। कुतो वा हेतोः प्रेरितः। प्रवृत्तौ त्रयः प्रश्नाः। करणे चैकः। मुनिरिति मननप्रतिबन्धिकायाः संहितायाः कथं करणम् । ३।।

व्याख्यार्थ—कर्त्ता हमेशा परिकर की अपेक्षा रखता है, इसलिए कर्त्ता के विषय में प्रश्न करने पर वहां उपयोगी जो परिकर है उसका भी प्रश्न हो जाता है। काल, देश और हेतु परिकर हैं और व्यास को जो प्रेरणा करने वाला है वह भी परिकर है। इसीलिए काल, देश, हेतु और प्रयोजक कर्त्ता (प्रेरक) भी श्लोक में कहे गये हैं किस काल किस देश और किस हेतु को लेकर

यह भागवत प्रवृत्त हुई है, इस प्रकार श्लोक का सम्बन्ध है। किस युग में यह प्रवृत्त हुई? किस स्थान में यह प्रवृत्त हुई तथा किस कारण से यह प्रवृत्त हुई?

भागवत की प्रवृत्ति में व्यास के चित्त की व्यग्रता कारण है। चित्त की व्यग्रता नहीं रहे इसलिए भागवत का निर्माण हुआ है यही इसका प्रयोजक हेतु है। भले ही किसी से भी प्रेरणा हुई हो फिर भी प्रेरक ने प्रेरणा क्यों की? किस कारण से प्रेरणा हुई? इस प्रकार किस युग, किस देश और किस कारण से यह भागवत प्रवृत्त हुई? इसकी प्रवृत्ति में ये तीन प्रश्न होते हैं और "किससे प्रेरित होकर व्यास ने यह भागवत बनाया?" ऐसा भागवत के करने में प्रेरक सम्बन्धी यह एक प्रश्न हुआ?

यहां व्यास के लिए "मुनि" पद है। मनन करने वाला ही मुनि होता है। ग्रन्थ निर्माण करने पर मनन रुक जायगा, तो फिर उनने यह संहिता किस प्रकार बनाई? ।।३।।

आभास—तृतीयमाह पञ्चभिः—

आभासार्थ—अब वक्तृ विषयक तीसरे प्रश्न को पांच श्लोकों से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पकः।**
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ।।३।।

श्लोकार्थ—उस व्यास का पुत्र (शुकदेव) समाधिस्थ, सब जगह ब्रह्म को जानने वाला, सांख्य प्रोक्त निर्विकल्प ज्ञान वाला, एकान्त में रहने की बुद्धि वाला, निद्रा रहित और गुप्त रहने वाला लोक में मूढ की तरह मालूम हो रहा है ।।४।।

सुबोधिनी—**तस्य पुत्र इति**। वक्तृत्वेन प्रकृष्टत्वान्नाऽध्येतृत्वनिमित्तसन्देहा इहोच्यन्ते। ते चाऽग्रे वक्तव्या महायोगी समाधिस्थः। प्रथमं योगो दुःखदोऽपि भवति। प्रवृद्धस्तु सुखदः। तादृशस्य कथाकथनमयुक्तमिति भावः। किञ्च। **समदृक्**। ब्रह्मविदित्यर्थः। उच्चावचबुद्धिसाध्यं च प्रवचनम्। किञ्च। **निर्विकल्पकः**। साङ्ख्यप्रोक्तज्ञानसिद्धः। निगता विकल्पाः प्राकृता यस्य। किञ्च। **एकान्तमतिः**। विरक्तः। एकान्ते मतिर्यस्य। किञ्च। **उन्निद्रः**। उद्गता निद्रा यस्येति स्वप्नदृष्टारिष्टनिवृत्यपेक्षारहितोऽपि। किञ्च। **गूढः**। सङ्गाद्भृशमुद्विजमानः। अत एव च लोके अप्रसिद्धः। किन्तु मूढ एव ईयते ज्ञायते ।।४।।

व्याख्यार्थ—वक्ता शुकदेव उत्कृष्ट हैं, इसलिए अध्येयता को लेकर यहां सन्देह नहीं कहे गये हैं, वे सन्देह आगे कहेंगे।

"महायोगी" पद वे शुकदेव समाधि स्थित रहते हैं-इस बात को बताता है और "महायोगी" का भाव यह भी है कि—पहिले योग दुःखदायी भी होता है और बढ़ जाने पर वह सुख देने वाला होता है। अर्थात् वे सुख की स्थिति में थे। जो समाधिस्थ हैं, ऐसे शुक का इस प्रकार कथा कहना

युक्त नहीं है । वे शुकदेव ब्रह्मवेत्ता हैं, सभी जगह समान रूप से ब्रह्म को जानने वाले हैं । कथा कहना ऊंची-नीची बुद्धि में ही होता है । कहने वाला अपने को ऊंचा और सुनने वाले को नीचा समझता है । शुक ब्रह्मज्ञानी हैं, इनमें जब ऊंच-नीच भाव ही नहीं है तब इनके द्वारा प्रवचन क्यों कर हो सकता है ? फिर शुकदेव को साङ्ख्य में कहा गया ज्ञान भी था, क्योंकि उनमें प्रकृति सम्बन्धी विकल्प नहीं था । वो विरक्त थे, क्योंकि उनकी एकान्त में रहने की बुद्धि है । एकान्त में रहने की बुद्धि विरक्त की ही होती है । वे निद्रा भी नहीं लेते थे । यदि निद्रा लें तो स्वप्न में देखे गये जो अशुभ हैं उनको निवृत्ति की भी अपेक्षा रखनी होती है, किन्तु इनके उन्निद्र होने से उन्हें स्वप्न भी नहीं आते थे । इसलिए अनिष्ट की निवृत्ति के लिए कोई उपाय भी नहीं करते थे और वे सङ्ग से बहुत डरते थे इसलिए वे (शुकदेव) अप्रकट रहने वाले है । लोकों में इसीलिए वे प्रसिद्ध भी नहीं हैं, किन्तु मूढ की तरह मालूम हो रहे हैं ।।४।।

आभास—किञ्च । सर्वदा असम्प्रज्ञातसमाधिस्थो बहिःसंवेदनरहित इति वक्तुमुपाख्यानमाह—

आभासार्थ—"जो सर्वदा असंप्रज्ञात समाधि में रहता है उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता ।" इस बात को कहने के लिए उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वाऽनुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं**
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवाऽस्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ।।५।।

श्लोकार्थ—शुक के पीछे चलते हुए अनग्न व्यास को देखकर जल में क्रीड़ा करने वाली अप्सराओं ने लज्जा से अपने वस्त्र पहिन लिये, जबकि नग्न शुक को देखकर उन्होंने अपने वस्त्र नहीं पहिने थे । इस आश्चर्य को देखकर व्यासजी के पूछने पर अप्सराओं ने कहा कि—यह स्त्री है, यह पुरुष है, इस प्रकार की तुम्हारी भेद बुद्धि है और शुक को बाहरी ज्ञान नहीं है ।।५।।

सुबोधिनी—**दृष्ट्वाऽनुयान्तमिति** । अत्र ह्येवं कथा । क्वचित्सरोवरे नग्ना अप्सरसः स्नान्ति । तत्र नग्नं शुकं पुत्रमनुयान्तं व्यासं दृष्ट्वा वस्त्राणि पर्यधुः । ततो व्यासस्य सन्देहो जातः । कथं मां वृद्धमनग्नं दृष्ट्वा वस्त्राणि परिदधति, पुत्रं तरुणं नग्नं दृष्ट्वा न । इति सन्देहात्ताः पृष्टवान् । तासामुत्तरम्—तवाऽस्ति स्त्रीपुम्भिदा, न तु सुतस्येति । यद्यपि शाब्दं ज्ञानं वेदव्यासस्य निर्विचिकित्सं स्वरूपज्ञानं च । तथापि बहिःसंवेदनमस्ति । अधिकारित्वात् । पुत्रस्य तु नित्यारूढसमाधित्वान्न बहिःसंवेदनमस्ति । तदाह—**विविक्तदृष्टेरिति** । विविक्ता अनात्मस्पर्शरहिता दृष्टिर्यस्येति । एवमष्टगुणानां भगवत्कथाबाधकानां विद्यमानत्वात्कथं कथाप्रवचनमिति ।।५।।

व्याख्यार्थ– यहां की कथा इस प्रकार है। कहीं सरोवर में अप्सराएँ नग्न नहा रही थी। इन स्त्रियों ने व्यास के पुत्र शुक को नंगा जाते हुए देखा फिर भी कोई लज्जा नहीं की, वे नग्न ही नहाती रही। किन्तु इन्हीं नग्न शुकदेव के पीछे-पीछे इनके पिता व्यास चले आ रहे थे। यद्यपि व्यास कपड़े पहने हुए थे तो भी इनको देखकर अप्सराओं ने कपड़े पहन लिये। तब व्यास को सन्देह हुआ कि–मुझ वृद्ध और अनग्न को देखकर इन अप्सराओं ने वस्त्र पहिन लिये और जवान पुत्र (शुक) को नग्न देखकर भी इन्होंने वस्त्र नहीं पहने। इस सन्देह से व्यास ने इन स्त्रियों से पूछा। अप्सराओं ने यह उत्तर दिया कि—

स्त्री और पुरुष का भेद आपको है आपके पुत्र को नहीं। यद्यपि शब्द अन्य ज्ञान और निःसन्दिग्ध भगवत्स्वरूप ज्ञान वेदव्यास को था तथापि वेदव्यास को बाहरी ज्ञान था, क्योंकि वे ज्ञान देने के (उपदेश देने के) अधिकारी थे। 'शुकदेवजी के समाधि में नित्य आरूढ रहने से उन्हें बाहरी ज्ञान नहीं था।" इसी बात को "विविक्तदृष्टेः" से कहा है। तो शुकदेव की दृष्टि सर्वत्र ब्रह्म को ही देखने वाली थी अर्थात् उनकी दृष्टि आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ का स्पर्श नहीं करती थी।

अस्तु १. महायोगिक २. समदृक् ३. निर्विकल्पक ४ एकान्तमतित्व ५ उन्निद्रत्व ६ गुढत्व ७ मूढ की भाँति प्रतीत होना और ८वाँ विविक्त दृष्टित्व इस प्रकार कहे गये आठ गुण भगवत्कथा कहने में बाधक हैं तो इनके होते हुए भी शुक ने कथा क्यों करवायी ? ॥५॥

आभास— यद्यपि प्रव्राजकधर्मकरणात्— **"कीटवत्पर्यटेन्महीमि"** ति वाक्यात्समाधेरुत्थितः। कैश्चिद्दृष्टः प्रार्थितो निर्बन्धेन कथां कथयतीति न मन्तव्यम्। लोकानां ज्ञापकधर्मो महानयमिति नाऽस्मिन्विद्यतइत्याह —

आभासार्थ शुकदेव यद्यपि सन्यासी के धर्म का पालन करने वाले थे। सन्यासी के लिए लिखा है कि–"कीटवत्पयटेन्महीम्" कीट की भाँति पृथिवी पर भ्रमण करे। इस प्रकार सन्यासी जब भ्रमण करता है तो समाधि से कदाचित् विरत भी हो सकता है। इसी रूप में शुकदेव को कुछ लोगों ने देखा और भागवत कथा कहने को आग्रह सहित प्रार्थना की, इसलिए उन्होंने कथा कही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "वे महान् तत्वज्ञ थे" इस प्रकार का ज्ञापक धर्म इनमें नहीं था। लोकों को उनके इस धर्म की प्रतीति होती ही नहीं थी। यही बात कहते हैं—

श्लोक – **कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।**
उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥६॥

श्लोकार्थ—हस्तिनापुर में आये हुए उन्मत्त, मूक और जड़ की तरह फिरने वाले उन शुकदेव को हस्तिनापुर वासियों ने कैसे पहिचाना ? ॥६॥

सुबोधिनी- **कथमालक्षित इति**। कुरुजाङ्गलान् हस्तिनापुरदेशम्। आ समन्ताच्छुकोऽयमिति। **पौरैरिति**। पुरवासाद्बुद्धिर्वत्रा भवति। ज्ञानं हि त्रेधा भवति। बहिःस्थैर्यादिना वचनेन

सदाचारेण च । तन्त्रितयं नास्तीत्याह—**उन्मत्तमूकजडवदिति** । गजेन समान आह्वयो नाम यस्य तत् गजसाह्वयम् । नगरनामनिरुक्त्या तत्रत्या मत्ता इति लक्ष्यन्ते । अत एव ज्ञानभयाभावात्तीर्थविशेषत्वाच्छुकस्य परिभ्रमणम् । ६।।

व्याख्यार्थ—हस्तिनापुर का जो देश है वह कुरुजाङ्गल कहलाता है। उस देश में प्राप्त हुए और हस्तिनापुर में विचरते हुए उन शुकाचार्य को कहा यह शुकदेव है–ऐसा उस पुर में रहने वालों ने कैसे समझा ? क्योंकि पुर में रहने वालों की बुद्धि ठीक नहीं होती है।

किसी व्यक्ति विशेष को तीन प्रकार से जाना जा सकता है–बाहरी स्थिरता आदि से, वचन से और सदाचार से । ये तीनों बातें शुकदेव में नहीं थी । इसी बात को 'उन्मत्तमूकजडवत्" से कहा है । उन्मत्त आदमी में स्थिरता नहीं होती, मूक बोल नहीं सकता और जड़ से सदाचार नहीं होता है । शुकदेव उन्मत्त की तरह थे, किसी से कुछ बोलते नहीं थे और किसी प्रकार का कोई आचरण नहीं करते थे, इसलिए उनकी पहचान उक्त तीनों परिचायक लिङ्गों से नहीं की जा सकती थी। ऐसी स्थिति में पुर वासी उन्हें–ये शुक हैं–ऐसा कैसे पहचान सके ।

श्लोकस्थ "गजसाह्वये" का यह तात्पर्य है कि–हाथी के समान है नाम जिसका ऐसा जो हस्तिनापुर है उस ऐसे हस्तिनापुर में रहने वाले व्यक्ति हाथी की तरह मत्त थे । ऐसे पुरवासी शुक को कैसे पहचान सकते थे ?

उन्मत्त, मूक और जड़ की तरह होने से शुकदेव को–मुझे कोई जान लेगा–ऐसा भय नहीं था और हस्तिनापुर प्रदेश में तीर्थ विशेष होने से वे घूमते घूमते वहां आये ।।६।।

श्लोक— **कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।**
संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ।।७।।

श्लोकार्थ—हे तात ! पाण्डवों के वंश में पैदा होने वाले राजर्षि परीक्षित का मुनि शुकदेव के साथ कैसे संवाद हुआ, जहां कि इस भागवत रूप वैष्णव वेद का प्रवचन हुआ ।।७।।

सुबोधिनी—अस्तु वा नगरे केषाञ्चिज्ज्ञानं तथापि राज्ञा सह संवादोऽनुचितः । राज्ञो राजर्षित्वाऽदाचारिषु श्रद्धाभावः । शुकस्य च मुनित्वात्सर्वज्ञत्वेन संवादसम्भावनायां गमनाभावः। स च सम्बन्धो बहुकालसाध्यः । तदाह । **यत्रैषा सात्वती श्रुतिः । वैष्णवो वेदः** ।।७।।

व्याख्यार्थ—नगर में किन्हीं को–यह शुकदेव है–ऐसा ज्ञान भी हो सकता है, परन्तु राजा के साथ संवाद होना उचित नहीं है । राजा राजर्षि था, इसलिए आचारविहीन जैसे दीखने वाले शुकाचार्य में राजा को श्रद्धा कैसे हो सकती है ? इसलिए राजा इनसे चलाकर बातचीत नहीं कर सकता और शुकाचार्य मनन करने वाले होने से सर्वज्ञ थे । सर्वज्ञ होने से वे जरूर यह समझ सकते थे कि राजा के यहाँ जाने से मेरे साथ उनका संवाद होगा । इसलिए ऐसी सम्भावना में शुकदेव

स्वयं भी नहीं जा सकते थे । यदि राजा से बातचीत का सम्बन्ध हुआ तो वह बहुत समय तक चलता रहेगा । इसी बात को "यत्रैषा सात्वती श्रुतिः" से कहा है । अर्थात् संवाद में वैष्णव वेद रूप भागवत का कथन किये जाने से अधिक समय लगेगा ।।७।।

श्लोक—स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ।।८।।

श्लोकार्थ—वह महाभाग शुकदेव गृहस्थों के स्थान को तीर्थ बनाते हुए, गोदोहन पर्यन्त प्रतीक्षा करते हैं (रहते हैं) ।।८।।

सुबोधिनी—अस्तु वा । तथापि गोदोहनकालादधिककाले गृहस्थगृहे संन्यासिनो वासोऽनुचितः । सोऽपि वासो न रागात् । तथा सति रागपूर्त्यर्थं चिरकालमपि वासः सम्भाव्येत । किन्तु गृहस्थानामाश्रमं तीर्थीकुर्वन् । गृहे मेधा बुद्धिरतिप्रवृत्तिनिष्ठा । तथा तेषामेव चाऽग्रे संन्यासः। तथा सति पूर्वदोषस्य विद्यमानत्वान्नाऽधिकारः । सङ्गदोषाच्च । अतः परमहंसैर्गृहस्थाश्रमः अतीर्थोऽपि तीर्थीक्रियते । ततो दोषद्वयं गच्छतीत्याह— **स गोदोहनमात्रमिति** । यथा हि गौर्धर्मदोहार्थं तावत्कालं निर्बन्धं सहते तथा जगन्मित्रैरपि सोढव्यमिति हिशब्दार्थः । इयमवस्था महाभाग्येन प्राप्यत इति **महाभागविशेषणम्** । ८।।

व्याख्यार्थ—राजा के साथ संवाद हुआ भी हो तो भी संन्यासी को गृहस्थी के घर गोदोहन से अधिक समय तक ठहरना उचित नहीं है और गोदोहन मात्र भी संन्यासी का ठहरना अनुरक्ति से नहीं होता । यदि वह अनुराग से हो तो अधिक समय तक उनके रहने की सम्भावना हो सकती है, किन्तु गृहस्थों के आश्रम को तीर्थ बनाने के लिए ही वे वहां जाते हैं ।

गृहमेधा वही कहलाते हैं-घर में जिनकी अत्यन्त प्रवृत्ति की बुद्धि हो और ऐसे ही गृहस्थाश्रमी बाद में संन्यास लेते हैं । यदि इस प्रकार के महात्मा उनके घर पर न जाय तो पूर्व दोषों के रहने से संन्यास लेने का उनको अधिकार नहीं होगा और गृहस्थाश्रम में सङ्गदोष भी रहेगा । इसलिए शुकाचार्य आदि परमहंस अतीर्थरूप जो गृहस्थाश्रम है उसको तीर्थ बनाते हैं तो अतिप्रवृत्ति (पूर्वदोष) और सङ्गदोष ये दोनों दोष उनके चले जाते हैं । इसी बात को "गोदोहनमात्रम्" से कहा है । जिस प्रकार अग्निहोत्र में काम आने वाली सामग्री घी, दूध इत्यादि देने के लिए गौ उतने ही समय तक बन्धन सहन करती है, उसी प्रकार जो गौ की तरह जगत् से भिन्न हैं उनको भी गोदोहन मात्र तक रहकर उस बन्धन को सहन करना चाहिये । अर्थात् परमहंस को गृहस्थी के यहां उसको तीर्थ करने के लिए गोदोहन मात्र ठहरना चाहिये । यह अवस्था महाभाग्य से प्राप्त होती है इसलिए श्लोक में शुकदेव के लिए 'महाभाग" कहा ।।८।।

आभास—श्रोतुः प्रश्नमाह चतुर्भिः—

आभासार्थ—चार श्लोकों से श्रोता के प्रश्न को कहते हैं—

श्लोक—अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ।।९।।

श्लोकार्थ— हे सूत ! अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को भगवद्भक्तों में उत्तम कहा है, इसलिए महान् आश्चर्य में डालने वाला उसका जन्म और कर्म आप हमारे लिये कहें ।।९।।

सुबोधिनी—अभिमन्युसुतमिति । पितृनाम्ना महत्त्वं हि मातृनाम्ना तु हीनता । इति सर्वत्र बोद्धव्यं श्रीमद्भागवतेऽपि च । अभितः सर्वतो मन्युर्यस्य । न त्वन्तः । क्षत्रियस्य चाऽयं धर्मः । अन्तः क्रोधाभावाच्च वैष्णवः । **सूतेति** सम्बोधनं वृत्तान्तपरिज्ञानाय । लोकवृत्तपरित्यागेन भगवदेकपरायणो महाभागवतः । **“विसृजति हृदयं न यस्ये”** ति वा । **प्राहुरिति** सर्वलोकप्रसिद्धः । पूर्वमेव तादृशस्य भागवतेन यो विशेषस्तत्परिज्ञानाय पूर्वं विशेषं पृच्छति—**तस्य जन्मेति** । महदाश्जर्यं यत्र । मृतस्य गर्भात्पतितस्य पुनर्जीवनमिति । भारतादिष्वेवमेव कथा । कलिनिग्रहादीनि कर्माणि ।।९ ।

व्याख्यार्थ—यहां परीक्षित को अभिमन्यु के पुत्र के रूप में कहा है । यह इसलिए कहा गया है कि-पुत्र में जब पिता के सम्बन्ध बताये जाते हैं तब पुत्र का महत्व सूचित होता है और माता का सम्बन्ध बताने से हीनता प्रतीत होती है । अर्थात् ‘अमुक पिता का पुत्र’ ऐसा यदि कहा जाय तो पुत्र का महत्व सूचित होता है और ‘अमुक माता का पुत्र’ ऐसा कहने पर उसकी हीनता मालूम देती है । जैसे पार्थ, कौन्तेय इत्यादि । यही नियम सब जगह है और श्रीमद्भागवत में भी है ।

अभिमन्यु का अर्थ यह है कि-चारों ओर जिसका क्रोध है । बाहर क्रोध रखना क्षत्रिय का धर्म है और भीतर क्रोध न रखना वैष्णवता है । अभिमन्यु में बाहर क्रोध था । वैष्णव होने से भीतर क्रोध नहीं था । इसी बात को अभिमन्यु पद कहता है ।

श्लोक में ‘सूत’’ यह सम्बोधन यह बताता है कि-तुम्हारी (सूत की) यह वृत्ति होने से तुम्हें परीक्षित राजा के जन्म कर्म का पता है । यह अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित लौकिक बातों को छोड़कर केवल भगवान् में ही परायण था इसलिए महाभागवत था । महाभागवत वही है जिसके हृदय से भगवान् कभी दूर न हो । उस अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित में इस प्रकार के गुण होने से उसे महाभागवत कहा करते थे । लोक में इसको इसी रूप में (महाभागवत रूप में) प्रसिद्धि थी ।

अभिमन्यु सुत पहले ही महाभागवत था भागवत सुनने से उसमें जो विशेषता हुई उसको जानने के लिए पहले विशेष बात पूछते हैं कि-जिस परीक्षित का जन्म आश्चर्य में डालने वाला है, क्योंकि वह गर्भ से मरा हुआ बाहर पड़ा और फिर वह जीवित हो गया । यही उसके जन्म में आश्चर्य की बात है । महाभारत आदि में इसी तरह की कथा है । इसलिए आश्चर्य में डालने वाले उसका जन्म और कलि आदि को दण्ड देना आदि उसके कर्म हमसे कहो ।।९।।

आभास—वैष्णवस्य प्रायोऽनुचित इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—"वैष्णव को आमरण अनशन करके बैठना उचित नहीं है" इस अभिप्राय से कहते हैं कि—

श्लोक—**स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ।**
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याऽधिराट्श्रियम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—पाण्डवों के सम्मान को बढ़ाने वाला वह सम्राट् परीक्षित राजाओं से भी अधिक राजलक्ष्मी का परित्याग कर गङ्गा के तट पर आमरण अनशन लेकर किसलिए बैठा ? ॥१०॥

सुबोधिनी - परीक्षिति लौकिकोऽप्युत्कर्षोऽस्ति । सम्राट् चक्रवर्ती । पाण्डूनामपि मानं वर्द्धयति । पाण्डवप्रतिष्ठया नाऽस्य प्रतिष्ठा । किन्तु विपरीतेत्यर्थः । गङ्गयैव च सर्वपुरुषार्थसिद्धिः । किं गङ्गायां प्रायोपवेशनेन । पराजयस्त्वसंभावित एव । यतः अधिका राज्ञामपि श्रीगृहे यस्य वर्तते तामप्यनादृत्य । एवं लोकवैष्णवाभ्यां प्रायोऽनुचितः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—परीक्षित में लौकिक उत्कर्ष भी था क्योंकि वह चक्रवर्ती राजा था और पाण्डवों के सम्मान को बढ़ाने वाला था। अभिप्राय यह है कि पाण्डव बड़े थे, इसलिए उनसे परीक्षित की प्रतिष्ठा हो ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वह परीक्षित स्वतः ऐसा था जिससे पाण्डवों की प्रतिष्ठा बढ़ी। अर्थात् वह पाण्डवों के यश को बढ़ाने वाला था।

गङ्गा के तीर पर बैठने से ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों की सिद्धि हो जाती है तो फिर आमरण अनशन का नियम लेने की क्या आवश्यकता थी? पराजय की शङ्का तो थी ही नहीं, क्योंकि राजाओं से भी अधिक उसके घर में लक्ष्मी थी जिसका उसने परित्याग किया था।

इस प्रकार लौकिक रीति से एवं वैष्णव होने से भी उसका अनशन करना उचित नहीं था ॥ १० ॥

आभास—किञ्च । लज्जा तु सर्वतो महती । विशेषतः स्वेषु । तत्कथं राज्ञां मध्ये प्रायोपवेशनमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—लज्जा सबसे बड़ी होती है और विशेष रूप से अपने आदमियों के बीच तो फिर राजाओं के बीच में राजा परीक्षित ने आमरण अनशन का संकल्प कैसे किया। इसी अभिप्राय को लेकर कहते हैं कि—

श्लोक—**नमन्ति यत्पादनिपीठमात्मनः शिवाय हाऽऽनीय धनानि शत्रवः ।**
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहाऽसुभिः ॥११॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! शत्रु भी जिसकी चरण चौकी को बहुत सा धन भेंट करते हुए अपने कल्याण के लिए प्रणाम करते हैं । आश्चर्य है कि उसने वीर युवक होते हुए भी दुस्त्यज राज्यलक्ष्मी को प्राणों के साथ ही छोड़ने की इच्छा क्यों कर की ? ।।११।।

सुबोधिनी—नमन्तीति । पादनिपीठं पादुके वा । **सर्वत्र देशेष्वस्य सिंहासने** गत्वा स्वापराधमार्जनार्थं धनान्यानीय । हेत्याश्चर्ये । शत्रवोऽपि नमन्त्यात्मनः शिवायेति । देशस्तु पूर्वमेहाऽपहृतः। स्वयं च सङ्कटे पतिताः पुनः स्वदेशप्राप्त्यर्थं धनानि प्रयच्छन्तीत्यर्थः । अयमर्थस्तस्य पुरुषार्थो न भवतीति न मन्तव्यम् । यतो वीरः । वीररसस्य विद्यमानत्वात् । वीरस्य हि प्रायोपवेशेन मरणं लज्जाकरं भवति । किञ्च । धनाद्यर्थं प्रायश्चित्तार्थं वा लोके प्रायोपवेशनं सिद्धम् । तत्सार्वभौमश्रियास्त्यागविषयत्वाद्धनार्थं न भवति । तदर्थत्वे च कथं श्रियं त्यक्तवानिति । तत्रापि प्राणैः सह । को वा भोक्ष्यति । लोके हि प्राणापेक्षयाऽपि धनं दुस्त्यजम् । तस्करादिषु निर्णयात् । तत्रापि यून इच्छामात्रमपि दुर्लभं किं पुनः करणम् । सत्यवार्तायामहो इत्याश्चर्यम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—यहां "पाद निपीठम्" के दो अर्थ हैं । चरण चोकी अथवा पादुकायें । सभी देशों में रहने वाले राजा लोग इनके सिंहासन के पास जाकर अपने अपराधों को दूर करने के लिए बहुत सा धन लेकर नमस्कार करते हैं । 'ह' यहां आश्चर्य अर्थ में है । आश्चर्य होता है कि शत्रु भी अपने कल्याण के लिए इनकी चरण चौकी को नमस्कार करते हैं ।

राजा परीक्षित ने इन राजा लोगों के देश का अपहरण तो पहले ही कर लिया था जिससे वे राजा लोग स्वयं संकट में पड़ गये और अपने देश की पुनः प्राप्ति के लिए बहुतसा धन परीक्षित को भेंट करते हैं । यह अर्थ (धन) परीक्षित के लिए पुरुषार्थ नहीं है, ऐसी बात नहीं है । क्योंकि वह वीर है, वीर रस वाले को ऐसा धन अपेक्षित होता ही है, जिसमें वीर रस मौजूद है । उस वीर पुरुष का इस प्रकार अनशन करके मरना लज्जाकर है ।

लोक में देखा गया है कि धन के लिए अथवा प्रायश्चित्त के लिए आमरण अनशन करते हुए लोगों को देखा है परन्तु राजा परीक्षित द्वारा सार्वभौम लक्ष्मी को छोड़ देने से उसका यह आमरण अनशन धन के लिए नहीं हो सकता । यदि धन के लिए ही यह अनशन होता तो वह इस असीम राज्यलक्ष्मी को कैसे छोड़ता ।

फिर धन के साथ ही प्राणों को छोड़ना कठिन है । यदि धन की इच्छा से वह अनशन करने बैठता तो जब वह प्राण भी साथ ही साथ छोड़ रहा है ऐसी हालत में उस धन को कौन भोगेगा ? निश्चय ही लोक में प्राण की अपेक्षा धन दुस्त्यज होता है जैसा कि चोरों में देखा गया है । वे अपने प्राणों की भी आहुति देकर धन चाहते हैं तो राजा परीक्षित ने जब राजलक्ष्मी का ही त्याग कर दिया तब उसने धन की कामना से ही आमरण अनशन किया—ऐसा नहीं माना जा सकता ।

फिर वह परीक्षित जवान था । ऐसी स्थिति में राजलक्ष्मी त्याग की इच्छा तक नहीं हो सकती, फिर भी उसने सार्वभौम लक्ष्मी को त्याग दिया यह बात सत्य है, इसलिए यहां आश्चर्य व्यक्त करने वाला 'अहो' पद है ।।११।।

आभास—प्रायश्चित्तादिना तु परलोकसाधनार्थं वैष्णवस्य प्रायोपवेशनं न भवति किन्तु जीवनमेवेत्याह—

आभासार्थ—"प्रायश्चित्त आदि से परलोक साधन के लिए वैष्णव को आमरण अनशन नहीं करना चाहिये किन्तु जीवन ही रखना चाहिये" यही कहते हैं—

श्लोक—**शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।**
जीवन्ति नाऽऽत्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य उत्तम श्लोक भगवान् में परायण हैं वे सब लोक के कल्याण के लिए, लोक में पुत्र पौत्रादि की अभिवृद्धि के लिए, ऐश्वर्यादि देने के लिए जीते हैं अपने लिए नहीं। ऐसा होने पर भी उस राजा परीक्षित ने विरक्त होकर दूसरों के आश्रयभूत अपने देह को किसके लिए छोड़ा ? ।।१२।।

सुबोधिनी—शिवायेति । प्रमादान्महापातकसम्बन्धेऽपि वैष्णवस्य न देहत्याग उचितः । तेषां स्वतः सेवासामर्थ्याभावेऽपि तान् पृष्ट्वा लोकानां करणं सम्भवति । अतस्तेषां जीवनमेव सर्वेषां शिवाय भवति । शिवं शान्तसुखम् । भवः उद्भवः लोके पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धिः । **"अमोघवीर्या हि नृपा"** इति वाक्यात् । भूतये ऐश्वर्याय । अणिमाद्यष्टैश्वर्यं भगवत्सेवायां प्रासङ्गिकम् । **"महापुरुषपूजाया"** इति वचनात् । अतः सर्वेषां पुरुषार्थसाधकस्य देहस्य त्यागोऽनुचितः । किञ्च । निर्वेदेन देहादिपरित्यागो भूतहितार्थः । **"अभयमभयं भूतेभ्य"** इति वचनात् । तच्च वैष्णवानां विपरीतमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**पराश्रयं निर्विद्येति** । निर्वेदे हेतुरेव परित्यक्तव्यः । न तु कलेवरम् । कस्यचिदेव हि धर्मस्य हेतुत्वम् । कले च अव्यक्तमधुरे वरमिति नामनिरुक्त्या अव्यक्तरसाविर्भावहेतुरिति प्रतिभाति । स च भक्तिरसः । अन्यस्य लोकवेदयोः प्रसिद्धत्वात् । अतो भक्तिरसाविर्भावकं शरीरं कथं त्यक्तवानित्यर्थः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—उत्तम श्लोक भगवान् ही उत्कृष्ट आश्रय हैं जिनका ऐसे वैष्णव को प्रमाद से महापातक का सम्बन्ध हो भी जाय तो भी देहत्याग उचित नहीं है। वैष्णव महापातक का सम्बन्ध होने से स्वतः सेवा नहीं कर सकते तो भी उनको पूछकर दूसरे लोग तो सेवा कर सकते हैं, इसलिए उनका जीवित रहना सबके लिए कल्याणकारी है। "शिवाय" पद का अर्थ है–शान्त सुख के लिए। अर्थात् ऐसे वैष्णवों का जीवित रहना लोगों के शान्त सुख के लिए होता है और पुत्र पौत्रादि की अभिवृद्धि के लिए भी उनका जीवित रहना आवश्यक है। कहा है कि–'अमोघवीर्या हि नृपाः" तात्पर्य यह है कि राजाओं का वीर्य निष्फल नहीं जाता। उससे सन्तति अवश्य होती है। अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य के लिए भी वे जीते हैं। क्योंकि अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य भगवत्सेवायें अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि "महापुरुष पूजायाः" इससे कहा है। इसलिए सबको पुरुषार्थ देने वाले देह को छोड़ने का यत्न करना उचित नहीं है। वैराग्य से देहादि का परित्याग प्राणियों की शिक्षा और उनके हित के लिए हो सकता है, जैसा कि "अभयमभयं भूतेभ्यः" से कहा है। किन्तु वैष्णवों के लिए इससे विपरीत बात है–इस अभिप्राय से कहते हैं कि–"पराश्रयं

निर्विद्य"। पुरुषार्थ लाभ के लिए दूसरे जिसका आश्रय लें ऐसे शरीर को छोड़ना उचित नहीं है। राजधर्म में जिस कारण से वैराग्य होता है, राजाओं से कर लेना दण्ड देना इत्यादि राजधर्म दारुण है। राजधर्म शत्रुओं को भय पैदा करने वाला है इसलिए वह वैराग्य का कारण हो सकता है। ऐसी हालत में भी वह किसी के लिए हो वैराग्य का कारण हो सकता है। यदि इसी तरह वैराग्य होता है तो इस प्रकार के वैराग्य के कारण को छोड़ देना चाहिये, देह को नहीं। वैराग्य होने पर दूसरों को भय न हो इसलिए वैराग्य हो जाय तो शस्त्र संन्यास करना उचित है, देह का त्याग करना उचित नहीं है। क्योंकि यह कलेवर भक्तिरस का आविर्भावक है। इसी बात को "कलेवरम्" पद से कहा है। "कलेवरम्" पद का यहां अर्थ है कि–अव्यक्त मधुर रसरूप जो भक्ति उसके आविर्भाव में है वह श्रेष्ठ कारण है, इस नाम निरुक्ति से वह अव्यक्त रसरूप भक्ति के आविर्भाव में कारण है। अन्य रस तो लोक वेद में भी प्रसिद्ध है और भक्ति रस तो इस देह में ही प्रकट होता है तो फिर ऐसे लाभदायक शरीर को राजा परीक्षित ने क्यों छोड़ा? ॥१२॥

आभास—एवं प्रश्नचतुष्टयमुक्त्वोपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार चार प्रश्न कहकर, अब उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन।**
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्॥१३॥

श्लोकार्थ—यहां जो कुछ हमने आपसे पूछा है वह सब हमारे लिए कहें। क्योंकि वैदिक विषय से अतिरिक्त वाणी से कहे जाने वाले विषयों में आप पारंगत हैं, ऐसा मैं मानता हूं॥१३॥

सुबोधिनी—**तत्सर्वमिति**। उत्तरोत्तरप्रश्नेऽपि पूर्वस्य न दौर्बल्यम्। तदाह—**सर्वमिति**। ननु भागवतार्थेऽस्माकं परिचयो नाऽन्यत्रेति न वक्तव्यमित्याह—**मन्य इति**। अत्रैवर्णिकत्वाद्वेदे परं न परिचयः। तदाह—**अन्यत्र छान्दसादिति**॥१३॥

व्याख्यार्थ—आगे आगे के प्रश्न से पूर्व, पूर्व के प्रश्न दुर्बल नहीं है अर्थात् सभी प्रश्न समान हैं। अतः सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये। इसलिए श्लोक में "सर्वम्" पद दिया है।

शौनक-ऋषि, सूत की शङ्का की संभावना करके कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि–सूत होने के कारण भागवतार्थ में ही मेरा परिचय है अन्यत्र नहीं, तो कहते हैं कि ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। क्योंकि आप त्रैवर्णिक नहीं हैं इसलिए वेद में आपका परिचय नहीं हो सकता किन्तु अन्य विषयों में आपको परिचय न हो, यह कभी नहीं हो सकता। वैदिक विषय से अतिरिक्त इतिहास पुराणादिक के विषय में मैं आपको पारंगत समझता हूं॥१३॥

आभास—प्रथमप्रश्नस्य स्कन्धान्तरेषूत्तरम्। तृतीयचतुर्थयोरुत्तमप्रकरणे। अतो हेतुभूतत्वाद्द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—

आभासार्थ—शौनक ऋषि का भागवत विषयक जो पहला प्रश्न है, उसका उत्तर दूसरे स्कन्धों में है। वक्तृविषयक और श्रोतृविषयक जो प्रश्न किये गये हैं उनका उत्तर प्रथम स्कन्ध में आने वाले उत्तम प्रकरण में है। यहां कर्तृ विषयक दूसरा प्रश्न कारणभूत है इसलिए इस दूसरे प्रश्न का उत्तर सूतजी यहां देते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्य्यये।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ।।१४।।

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा—सतयुग से तीसरा जो द्वापरयुग है उसके आरम्भ में पराशर से वासवी में भगवान् की ज्ञान कला से भक्तियोगी व्यास प्रकट हुए ।।१४।।

सुबोधिनी—द्वापर इति। भागवतनिर्माणार्थमेव मुख्यतया तस्याऽवतार इति प्रथमं जन्माऽऽह। ब्रह्मकल्पस्य प्रथममन्वन्तरस्य तृतीययुगपर्यावृत्तौ व्यासस्थ जन्म। प्रथमयुगपर्यायो ज्ञानस्य ससाधनस्य कालः। द्वितीयः कर्मणः। तृतीयस्तु भक्तेः। तथापि धर्माणां बाधकत्वात् कृते त्रेतायां च न जन्म। किन्तु धर्मस्य द्विपरतायां सन्देहे। सर्वेषामेव सन्देहः संशब्दार्थः। पराशरस्य भक्तत्वं पुराणान्तरेष्वेव संसिद्धम्। मार्कण्डेयनमस्कारे वयोवृद्धवचनात्। उपरिचरवसोः पुत्री वासवी। मत्स्यगर्भे जाताऽपि बीजधर्मयुक्तैव। अवतारप्रयोजनम्—**योगीति**। योगः प्रवर्तनीयः। तत्रापि हरेः कलया सर्वदुःखदूरीकर्तुं ज्ञानकलया। योगस्तु भक्तियोगः। ज्ञानस्य त्ववतारादेव तस्याऽपि फलं भक्तिः प्रयोजनम्। एवं भक्तिप्रवर्तनार्थमेवाऽवतार इत्युक्तं भवति ।।१४।।

व्याख्यार्थ—भागवत निर्माण के लिए ही मुख्य रूप से व्यास का अवतार है, इसलिए प्रथम व्यासजी का जन्म कहते हैं। ब्रह्मकल्प के प्रथम मन्वन्तर के द्वापर की पर्यावृत्ति में अर्थात् द्वापर के परिवर्तन में व्यास का जन्म हुआ। ऐसा भी कहते हैं कि—अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में व्यास का जन्म हुआ। पहला सतयुग जो है वह साधन सहित ज्ञान का समय है। उस समय (सतयुग में) लोग ससाधन ज्ञान के अधिकारी थे, त्रेता में कर्म करने वाले हुए और द्वापर भक्ति का युग था। सतयुग में और त्रेता में धर्म के विषय में कोई सन्देह नहीं था इसलिए उसमें होने वाले जो धर्म हैं, वे भक्ति के उत्पादक थे और इन दोनों युगों में धर्म करने से भक्ति के लिए अवकाश नहीं था। इसलिए सतयुग और त्रेता में व्यासजी का जन्म नहीं हुआ।

द्वापर में धर्म के श्रुति, स्मृति, उभयपरक होने से धर्म में सभी को सन्देह हुआ। इसलिए धर्म के ठीक रूप से न हो सकने के कारण भक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए व्यासजी ने जन्म लेकर भक्ति का प्रतिपादन किया। पिता पराशर भक्त थे, विष्णु पुराण आदि में इन्हें भक्त कहा गया है। मार्कण्डेय के नमस्कार में वयोवृद्ध के वचन से यह सिद्ध होता है कि पराशर भक्त थे। उपरिचर जो था उसे भी मत्स्य पुराण में वैष्णव बताया है, इसलिए उसकी लड़की वासवी मत्स्य गर्भ से पैदा होने पर भी उपरिचर में जो वैष्णवता आदि थे वही वैष्णवता आदि धर्म वासवी में भी रहे।

व्यास के अवतार का प्रयोजन कहते हैं—"योगी" अर्थात् भक्तियोग को उन्हें प्रकट करना था। व्यासजी में यह भी विशेषता रही कि—सब दुःखों को हरण करने वाले हरि की ज्ञान कला से

वो प्रकट हुए थे। व्यास स्वयं भगवान् के ज्ञान के अवतार थे। व्यास के ज्ञानरूप होने से ज्ञान अपने आप प्रवृत्त हो गया और ज्ञान का प्रयोजन भक्ति होता है इसलिए उन्होंने ज्ञानरूप में अपजीर्ण होकर भक्ति का प्रचार किया। अर्थात् भक्ति की प्रवृत्ति के लिए ही इनका अवतार है ऐसा कहा गया ।।१४।।

आभास – तस्य प्रासङ्गिकमाह—

आभासार्थ - उस व्यासावतार के प्रासङ्गिक कार्य को कहते हैं—

श्लोक—**स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।**
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ।।१५।।

श्लोकार्थ—किसी समय सरस्वती नदी में स्नान, आचमनादि करके शुद्ध हुए वह व्यास सूर्योदय होने पर एकान्त स्थान में एकाकी बैठे ।।१५।।

सुबोधिनी—स कदाचिदिति। स भक्त्यर्थमवतीर्ण एव कदाचिन्मार्गत्रयनाशे सति स्वस्याऽपि ज्ञानविस्मरणे सरस्वत्याः शुचि (?) जलमुपस्पृश्य तेन प्रबुद्धसार्वज्ञ्यः। पापपराजितमिव (?) न भवतीत्याह- **शुचिरिति**। अनेन ज्ञानकलायां धर्मांश एवाऽभिव्यक्तः। ततः स्वावतारप्रयोजनं विचारय सर्वेषां हितार्थे धर्ममपश्यदित्याह— **विविक्त** इत्यारभ्य **कृपया मुनिना कृतमित्यन्तम्**। विविक्ते एकान्ते। मनःस्थैर्यार्थमेतत्। तदा एका आसीनः। भौतिकदैविकात्मीयदोषत्रयाभाव उक्तः। **उदिते रविमण्डल** इत्यावश्यककर्मकालाभाव उक्तः। पुण्यनक्षत्रस्य कालगुणानां च ज्ञापकं वा।१५।

व्याख्यार्थ—व्यास भक्ति के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं, इसलिए कदाचित् कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों मार्गों के नष्ट होने पर उन्हें अपने ज्ञान को विस्मृति हो गई। सरस्वती के पवित्र जल में आचमन स्नान आदि करने से उनमें फिर से सर्वज्ञता आ गई और उनमें धर्मांश ही अभिव्यक्त हुआ तथा पाप से भी वे पराजित नहीं हुए यानि पापयुक्त नहीं हुए।

सरस्वती के जल में स्नानादि करने से ज्ञान कलारूप व्यास में धार्मिक प्रवृत्ति ही अभिव्यक्त हुई। फिर अपने अवतार के प्रयोजन का विचार करते हुए व्यासजी ने सबका हित करने वाले भक्तिरूप धर्म का विचार किया इसी बात को "विविक्त" से लेकर "कृपया मुनिना कृतम्" तक से कहा है।

मन में व्यग्रता न हो, इसलिए व्यास एकाकी एकान्त में बैठे। वे पवित्र थे, इसलिए उनमें भौतिक दोष नहीं था। एकान्त में बैठे थे, इसलिए वे दैविक दोष से रहित थे और एकाकी बैठे थे, इसलिए उनमें आत्मीय दोष नहीं था। यही इस श्लोक से कहा गया है।

"उदिते रविमण्डले" इससे यह बताया है कि सूर्योदय से पहले ही नित्य कर्म आदि हो जाते हैं, इसलिए सूर्योदय होने पर नित्य कर्म का समय भी नहीं था। अथवा "उदिते रविमण्डले' पद

पुण्य नक्षत्र और काल गुणों को बताने वाला है : अभिप्राय यह है कि उस समय पुण्य नक्षत्र था और अच्छे गुण वाला काल था। ऐसे समय में इन्होंने सब प्राणियों के हित साधन करने वाले धर्म का विचार किया ।।१५।।

श्लोक—पराऽवरज्ञः स ऋषिः कालेनाऽव्यक्तरंहसा ।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ।।१६।।

श्लोकार्थ—काल को एवं हमारे अदृष्ट को जानने वाले ऋषि वेदव्यास ने, प्रकृति आदि में भी जिसका वेग है यानि प्रकृति आदि को भी जो अपने अधीन रखता है ऐसे काल से तप, यश, स्वाध्याय और दान आदि जो चारों युगों के धर्म हैं उनका प्रत्येक युग में नाश देखकर उनके हित का विचार किया ।।१६।।

सुबोधिनी—परे कालादयः। अवरे अस्मदादयः। करिष्यमाणेऽर्थे कालादीनां प्रतिबन्धकाभावं प्राणिनां तथाऽदृष्टं च ज्ञातवानित्यर्थः। एतदनन्तरं स ऋषिर्जातः। धर्मांशस्यैव प्रकटत्वात्। कालो हि महानधिकारी भगवतः। सर्वकर्ता सर्वनिमित्तं च। एवं सति व्यर्थं । प्रयासोऽन्येषामिति कालनियन्तुर्भगवतोऽवतार इति ज्ञापयितुं कालकृतमुपद्रवं प्रथमत आह— **कालेनाऽव्यक्तरंहसेति**। अव्यक्तेनाऽक्षरेण रंहो वेगो यस्य, अव्यक्ते वा प्रकृतौ रंहो वेगो यस्येति प्रकृतिप्रभृतीनां कालाधीनत्वमुक्तम्। अक्षरसम्मतिर्वा। अव्यक्तो रंहो यस्येति वेति प्रतिक्रियाऽकरणार्थे हेतुरुक्तः। एतावता भगवद्व्यतिरिक्तास्तदधीनास्तदनुगुणा वेति निरूपितम्। फलितमाह युगधर्मेति। चतुर्युगाणां धर्माः तपोयज्ञस्वाध्यायदानादयः। तेषां व्यतिकरो नाशः। अनधिकारिषु वा प्रवृत्तिः। स च व्यतिकरो नाऽऽकस्मिकः किन्तु नियतः। भुव्येव न स्वर्गे। नाऽऽकस्मिकं किन्तु युगे युगे प्राप्तम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—"पर" जो काल कर्म स्वभाव हैं उनको और "अवर" जो हम हैं इनके वेदव्यास ज्ञाता थे। अर्थात् जो बात मैं कहूंगा उसमें काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं हैं, क्योंकि भक्ति सम्बन्ध में काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं होते और हमारे अदृष्ट को भी उन्होंने जाना। इसके बाद वे ऋषि बने। ऋषि वही होता है जो मन्त्र-दृष्टा होता है। मन्त्र-दृष्टा धर्म करने वाला होता है। आशय यह है कि—व्यास में धर्मांश ही प्रकट हुआ।

काल भगवान् का बड़ा अधिकारी है तथा सबका कर्ता और निमित्त कारण है। ऐसी स्थिति में कालादि के बाधक होने से औरों का प्रयास व्यर्थ होगा इसलिए काल नियामक जो भगवान् हैं उनका अवतार व्यास हुए—यह बताने के लिए पहले कालकृत उपद्रव कहते हैं।

'अव्यक्त" शब्द का 'अक्षरब्रह्म' अर्थ लेते हैं तो यह अर्थ होता है कि अक्षरब्रह्म से काल के प्रकट होने से जिसका वेग अधिक है। अथवा "अव्यक्त" का अर्थ है प्रकृति, उस प्रकृति में भी जिसका वेग है। अभिप्राय यह है कि—प्रकृति आदि भी काल के अधीन है। अथवा अक्षरब्रह्म की ऐसा करने में सम्मति हैं। अथवा अस्फुट है वेग जिसका यानि काल के वेग का पता नहीं चलता इसलिए उसका प्रतिकार नहीं हो सकता। इससे यह निरूपण किया गया कि—भगवान् से अतिरिक्त

जो भी है वह कालाधीन है अथवा काल के अनुकूल ही बर्ताव करने वाले हैं। इसलिए उस काल से चतुर्युग के धर्म जो तप, यज्ञ, स्वाध्याय, दानादि हैं उनका नाश होने पर अथवा अनधिकारियों में तप, यज्ञ, स्वाध्याय, धनादि की प्रवृत्ति देखकर (यह जाना कि) वह नाश एवं अनधिकारियों में तप आदि की प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है किन्तु इसका नियत रूप है। इसी बात को "युगे युगे" पद कहता है। अर्थात् प्रतियुग में नाश और अनधिकारियों में ऐसी प्रवृत्ति को व्यासजी ने नियतरूप से देखा और यह भी सब पृथिवी पर ही देखा, स्वर्ग में नहीं। ऐसा देखकर उनके हित का एकान्त में अकेले बैठकर व्यासजी ने चिन्तन किया।

आगे १८वें श्लोक में जो "हितं दध्यौ" आया है उसी अर्थ को लेकर इस श्लोक के अर्थ को समाप्ति होती है। 'हितं दध्यौ" का अन्वय यहां से लगाना चाहिये ॥१६॥

आभास—कालेन धर्मनाशमुक्त्वा पदार्थनाशमप्याह—

आभासार्थ—काल से धर्म का नाश कहकर पदार्थ-नाश भी कहते हैं—

श्लोक—**भौतिकानां तु भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।**
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः ॥१७॥

दुर्भगांश्च जनान्वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥१८॥

श्लोकार्थ—कालकृत पञ्च महाभूतों से पैदा हुए हमारे शरीरादि एवं पञ्च महाभूत तथा स्वाध्याय आदि अथवा कृषि वृष्टि आदि की शक्ति का ह्रास देखकर मनुष्यों को श्रद्धा बल विवेक एवं बुद्धिरहित तथा कम आयु वाले तथा भाग्यरहित देखकर, अमोघ दृष्टि वाले व्यासजी ने, अपनी दिव्य चक्षु से प्रत्येक वर्णों का तथा आश्रमों का जिसमें हित हो, उसका ध्यान किया ॥१७॥१८॥

सुबोधिनी- भौतिकानामिति। भौतिकानामस्मदादीनाम्। चकाराद्भूतानाम्। शक्तिः स्वाध्यायादीनाम्। कृषिवृष्टयादीनां वा। तत्कृतं कालकृतम्। कर्तृदोषानाह -**अश्रद्दधानानिति**। सर्वत्र श्रद्धारहितान्। सत्त्वं बलं विवेको वा। दुर्मेधान् बुद्धिरहितान्। चित्तमनोबुद्धिनाशा उक्ताः। अन्तःकरणेष्वहङ्कार एव पुष्ट इत्यर्थः। अत एव आयुषोऽप्यपचय इत्याह—ह्रसितायुष इति ॥१७॥

व्याख्यार्थ—कालकृत पञ्च महाभूतों से उत्पन्न हमारे जैसे जोवों को और पञ्च महाभूतों की भी शक्ति नष्ट हो गई है। यहां 'च' कार से पञ्च महाभूतों का ग्रहण किया गया है। इसी तरह स्वाध्याय आदि की शक्तियों का तथा कृषि वृष्टि आदि को शक्तियों का भी कालकृत ह्रास हो गया है। तदुपरान्त धर्माचरण करने वाले श्रद्धा से रहित हो गये हैं उनमें न तो रहा बल और न ही रहा विवेक। श्रद्धा रहित होने से चित्त का नाश हो गया, विवेक रहित होने से मन का नाश

प्रा तथा 'दुर्मेधान्' पद से बुद्धि का नाश हुआ अर्थात् चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार रूप जो न्तःकरण है उसमें प्रथम तीन का नाश होने से केवल अहंकार ही जीव में दृढ़ मूल होकर बैठ गया ौर इसीलिए उनकी आयु भी क्षीण हो चली है-इसीका निर्देश यहां 'ह्रसितायुष.' पद से किया या है-यह सब देखकर श्री व्यास ने उनके हित का चिन्तन किया ॥१७॥

सुबोधिनी—कर्मणा हि भाग्यमुत्पद्यते । तत्कालादीनां शुद्धितारतम्येन महाभाग्यजनकत्वम् । ापरादौ तु षण्णां दुष्टत्वाद् दुर्भाग्यत्वम् । एतत्सर्वं न तर्कितम् । किन्त्वार्षज्ञानेन प्रमितम् । तथा ात्युपायज्ञानं भवतीत्यर्थः । पाषण्डधर्माः स्वत एवोत्पत्स्यन्त इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**सर्ववर्णाश्रमा- ाममिति** । चकारादवान्तरदेशादिधर्माः । अनेन वर्णाश्रमदेशव्यतिरिक्ता धर्माः पाषण्डा इति नेरूपितम् । तेषामपाषण्डानामिदं दध्यौ । सत्यसंकल्पाद्धितं स्फुरतीत्यत आह—**अमोघदृगि**ति ।१८।

व्याख्यार्थ—कर्म से ही भाग्योदय होता है 'कर्मणा हि भाग्यमुत्पद्यते' किन्तु कलियुग में, द्वापर तथा कलियुग में, देश, काल, कर्त्ता, द्रव्य ाल, कर्म, कर्त्ता आदि अशुद्ध ही रहते हैं अर्थात् द्वापर तथा कलियुग में, देश, काल, कर्त्ता, द्रव्य मंत्र तथा कर्म-ये छहों अशुद्ध दूषित होने के कारण, कर्म, असफल असिद्ध हो रहते हैं जिससे जीव दुर्भागी हो जाता है । इस प्रकार की परिस्थिति का ज्ञान, व्यास को अपने तर्क से नहीं हुआ किन्तु अपनी ऋषि सुलभ दृष्टि से आर्ष दृष्टि से यह सब कुछ जान लिया था और इसीलिए इन जीवों के कल्याणार्थ जिस जिस उपाय की आवश्यकता है उसका भी ज्ञान व्यास को हो गया । पाखंड धर्म स्वतः उत्पन्न होने लगेंगे अतः इनसे दूर रहते हुए सर्व वर्णों के आश्रमों के तथा देश काल आदि के धर्मों का हित किस तरह सम्पादित किया जाये इसका भी ध्यान व्यास ने किया । इससे यह निर्देश किया गया है-वर्ण आश्रम तथा देश कालादि धर्मों से अतिरिक्त अन्य सभी धर्म केवल पाखण्ड हैं । ये धर्म पाखण्ड रूप न बने इसका ध्यान व्यास ने किया । व्यास स्वयं सत्य सकल्प हैं अतः उनको प्राणी मात्र के हित तथा सत्य का विचार ही स्फुरित होता है-इसीका निर्देश यहां 'अमोघदृग्' पद से किया गया है ॥१८॥

आभास—यज्ञ एव सर्ववर्णाश्रमहितकर इत्याह—

आभासार्थ—यज्ञ ही प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का हितसाधक है, इसका निरूपण करते हैं—

श्लोक—**चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।**
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जिसमें चार होता है-ऐसा शुद्ध वैदिक कर्म प्रजाओं के लिए (उपयोगी) जानकर, यज्ञ के विस्तारार्थ, एक वेद को चार प्रकार का किया, चार प्रकार से विभक्त किया ॥१९॥

सुबोधिनी—चातुर्होत्रमिति । आर्षज्ञानत्वान्न युक्तिरपेक्ष्यते । युक्तिस्तु-आधिदैविकः कालो वा । '**स विष्णुवाख्योऽधियज्ञोऽसावि**" ति वाक्यात् । भौतिककालकृतदोषदूरीकरणसमर्थः । अथवा । कालनियामको विष्णुः । तदुभयात्मकत्वाद्यज्ञस्य । स च श्रौतो विष्णुः । प्रमाणान्तराच्च